शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

ग्रहणशील मन

बाल मनोविज्ञान का विवेचन

मरिया मांटेसरी

अनुवादक
सरला मोहनलाल

आप इनको भी पढ़ें

पॉओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

सिल्विया एश्टन-वॉरनर
अध्यापक

गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र

रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा

जॉर्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन

नरिंदर सिंह
शिक्षा संस्कृति और लोकतंत्र

बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा

ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

ग्रहणशील मन

(बाल मनोविज्ञान का विवेचन)

मरिया मांटेसरी

अनुवाद

सरला मोहनलाल

ग्रंथ शिल्पी

नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी

© सरला मोहनलाल
प्रथम हिंदी संस्करण : 1997
ISBN 81-86684-10-7

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002 के लिए प्रकाशित तथा डी.पी. ग्राफिक्स, उत्तम नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा लेजर सेट होकर त्रिवेणी ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032 में मुद्रित.

अनुक्रम

प्रस्तावना : कृष्ण कुमार
vii
प्रथम संस्करण का आमुख : मारियो मांटेसरी
ix
चित्रों की सूची
x
अध्याय एक
विश्व के पुनर्निर्माण में बच्चों की भूमिका 1
अध्याय दो
जीवन के लिए शिक्षा 7
अध्याय तीन
विकास के क्रम 14
अध्याय चार
नई दिशा 23
अध्याय पांच
सृष्टि का चमत्कार 27
अध्याय छह
भ्रूणविज्ञान और आचरण 38
अध्याय सात
मानसिक भ्रूण 49
अध्याय आठ
स्वतंत्रता की प्राप्ति 67
अध्याय नौ
जीवन के प्रारंभिक दिन 78
अध्याय दस
भाषा पर कुछ विचार 87
अध्याय ग्यारह
बच्चों में भाषा का प्रारंभ 93
अध्याय बारह
बच्चे के विकास में रुकावटों का प्रभाव 102

अध्याय तेरह
सामान्य विकास में क्रिया का महत्व 112

अध्याय चौदह
बुद्धि और हाथ का प्रयोग 119

अध्याय पंद्रह
विकास और अनुकरण 127

अध्याय सोलह
अचेतन से चेतन की ओर 133

अध्याय सत्रह
कल्पना और संस्कृति पर कुछ विचार 138

अध्याय अठारह
बचपन में चारित्रिक दोष 155

अध्याय उन्नीस
बच्चे का समाज को अनुदान : सामान्यीकरण 163

अध्याय बीस
बच्चा अपना चरित्र निर्माण स्वयं करता है 169

अध्याय इक्कीस
बच्चों में स्वत्व की भावना और उसका रूपांतरण 176

अध्याय बाईस
सामाजिक विकास 181

अध्याय तेईस
सामाजिक इकाई में संगति 190

अध्याय चौबीस
गलतियां और उनका सुधार 199

अध्याय पच्चीस
आज्ञापालन के तीन स्तर 205

अध्याय छब्बीस
अनुशासन और अध्यापक 214

अध्याय सत्ताईस
अध्यापिका की तैयारी 225

अध्याय अट्ठाईस
प्रेम और उसका स्रोत बच्चा 234

अनुक्रमणिका 241

प्रस्तावना

मरिया मांटेसरी (1870-1952) की प्रयोगशील शिक्षण पद्धति जब पहले-पहल सामने आई तो आलोचना का सबसे बड़ा मुद्दा यह बना कि इस पद्धति से पढ़ाए गए बच्चे अनुशासनहीनता के शिकार हो जाएंगे। इस आलोचना का कारण यह था कि मांटेसरी की शिक्षण पद्धति बच्चों को उठने-बैठने की *स्वाभाविक* स्वतंत्रता देती थी जो यूरोप के आम स्कूली वातावरण में निषिद्ध थी। बच्चे को गरिमा देने की बात तब तक अनेक चिंतक कह चुके थे, पर स्कूल के दैनिक जीवन में बच्चे को गरिमा देने का अर्थ ठीक-ठीक क्या हो सकता है, यह सवाल अवरुद्ध था।

हमारे देश में आज जब छोटे बच्चों की शिक्षा वाणिज्य बनती जा रही है, बच्चे की स्वाभाविक जरूरतों की ओर ध्यान देने वाले स्कूल और अध्यापक विरले ही हैं। वैसे भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में बच्चों की प्रवृत्ति, उनकी सोच और प्रतिक्रियाओं पर ध्यान देने की परिपाटी नहीं है। अध्यापक का सारा ध्यान दी गई विषय-वस्तु पढ़ा देने पर रहता है और इस सीमित काम के लिए भी कक्षा में सामग्री की विविधता या ज्ञान की खोज और समझ की इच्छा को उकसाने वाला वातावरण बनाने पर समय या पैसा खर्च करना व्यर्थ माना जाता है। प्रशिक्षण महाविद्यालयों में मांटेसरी की शिक्षण पद्धति 'पढ़ाई' अवश्य जाती है, पर उसी तरह जिस तरह पूरी शिक्षा-व्यवस्था में आकाश से पाताल की जानकारी 'पढ़ा' दी जाती है—बच्चे के मन में ज्ञान और सामाजिक जीवन को समझने के लिए कोई टिकाऊ उत्साह पैदा किए बिना।

शिक्षण की विधियों और सामग्री को लेकर मांटेसरी ने अपनी आविष्कारी खोज मूलतः अपंग बच्चों के संदर्भ में की थी। इन बच्चों के साथ अपने काम में चौंकाने वाली सफलता पाकर मांटेसरी ने सामान्य बच्चों के शिक्षण को नए ढंग से परिभाषित करने की सोची। उनका 'नया ढंग'; जिसे गिजुभाई ने भारत की परिस्थितियों में ढालकर आजमाया और लोकप्रिय भी बनाया, दो बातों पर बल देता है : एक, बच्चे को समझना, और दूसरी, वातावरण की रचना। इन्हीं दो बिंदुओं के इर्दगिर्द मौजूदा पुस्तक अध्यापक की मानसिक और भौतिक तैयारी का विवेचन करती है। तैयारी की जड़ में मूल प्रेरणा बच्चे को *खोजने* की है; उसका वह रूप ढूंढकर पहचानना जिसमें उसकी विशिष्ट रचनाशीलता सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। अध्यापक की सफलता इसी खोज पर निर्भर है। बच्चों को उठने-बैठने में, नाट्य और खेल में, और कला की गतिविधियों में शारीरिक स्वतंत्रता देना अध्यापक के एकाकी अभियान का अनिवार्य अंग है।

इस अभियान की सूचना हिंदी क्षेत्र के पाठक तक मांटेसरी के अपने शब्दों में पहुंचाने की कल्पना पहले-पहल तेजी ग्रोवर ने *पलिया पिपरिया* और उसके आसपास के गांवों में किशोर भारती की ओर से चलाए जा रहे एक सुंदर कार्यक्रम के अंतर्गत की थी। उनकी कल्पना आज इतने वर्षों बाद इस ग्रंथमाला की कुछ अन्य पुस्तकों के माध्यम से साकार होकर हिंदी में शिक्षा के नए विमर्श का रास्ता प्रशस्त कर चुकी है। 'ग्रहणशील मन' का प्रकाशन अवश्य इस विमर्श में सघनता लाएगा।

कृष्ण कुमार

केंद्रीय शिक्षा संस्थान
दिल्ली विश्वविद्यालय
20 अक्तूबर, 1996

प्रथम संस्करण का आमुख

यह पुस्तक, डॉ. मरिया मांटेसरी के उन व्याख्यानों पर आधारित है, जो उन्होंने अहमदाबाद में, अपने प्रथम प्रशिक्षण केंद्र में दिए थे। डा. मांटेसरी, द्वितीय महायुद्ध के अंत तक, भारत में नजरबंद थीं और इस नजरबंदी के बाद यह उनका प्रथम प्रशिक्षण केंद्र था। इसमें छोटे शिशु की उन असाधारण मानसिक क्षमताओं के बारे में वे बताती हैं, जिनके कारण वह मानव व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं की रचना करता है तथा उन्हें दृढ़ता से स्थापित करता है। यह निर्माण, वह अध्यापकों तथा अन्य शिक्षण सामग्री की सहायता के बिना करता है। बहुधा उस पर ध्यान नहीं दिया जाता और उसके इस काम में रुकावटें भी आती हैं।

जन्म के समय बच्चे की संभावनाएं बहुत अधिक होती हैं, परंतु वह शरीर से बहुत कमजोर होता है और उसके मस्तिष्क की क्षमताएं प्रायः न्यून होती हैं। परंतु छह वर्ष की अवधि में वह इतना ग्रहण कर लेता है कि सभी जीवधारियों से आगे निकल जाता है। बच्चे की यह उपलब्धि जीवन के सबसे बड़े रहस्यों में से एक है।

इस पुस्तक में डा. मांटेसरी ने बचपन के इस तथ्य पर अपनी गहन जानकारी से प्रकाश डाला है, जो उन्हें सूक्ष्म अवलोकन और सही मूल्यांकन द्वारा प्राप्त हुई है। उन्होंने इसके साथ ही यह भी संकेत किया है कि वयस्कों का बच्चों के प्रति क्या उत्तरदायित्व है। आज "जन्म से शिक्षा" की आवश्यकता को समस्त विश्व स्वीकार कर चुका है और इसकी व्यावहारिक व्याख्या डा. मांटेसरी ने की है।

ऐसी शिक्षा तभी संभव है जब शिक्षा अपने सीमित दायरे से आगे बढ़ कर, "जीवन के लिए सहायक" बन जाए। मांटेसरी पद्धति का सबसे प्रसिद्ध सिद्धांत "परिवेश को तैयार करना" है। बच्चे के स्कूल जाने के बहुत पहले से, यह सिद्धांत "जन्म से शिक्षा" का मार्ग दिखाता है, जिसके द्वारा प्रारंभ से ही सच्चे मानव का निर्माण होता है।

यह पद्धति वैज्ञानिक आधार पर स्थापित है, एवं डा. मांटेसरी का अनुभव इसे प्रमाणित करता है। उन्होंने समस्त संसार में बच्चों की प्रकृति, और उनकी मानसिक तथा आध्यात्मिक महानता का अवलोकन किया है और उनकी सहायता की है। आज की मानव जाति अपने ही उत्तर जीवन के लिए आशंका बन गई है, क्योंकि वह बच्चों की, उनके निर्माण काल में अवहेलना करती है।

मारियो मांटेसरी

कराची
1949

चित्रों की सूची

चित्र 1. बीज कोशिका की वृद्धि.

चित्र 2. एक पंक्ति में बनी सौ जीनों की एक माला. ये जीन क्रोमोजोम के अंदर रहते।

चित्र 3. मेसोडर्म, एंडोडर्म, एक्टोडर्म.

चित्र 4. विभिन्न प्रकार की कोशिकाएं.

चित्र 5. मानव, खरगोश, छिपकली की प्रारंभिक एवं बाद की अवस्था.

चित्र 6. मस्तिष्क के निचले भाग पर स्थित सेरिबेलम.

चित्र 7. भाषा का विकास.

चित्र 8. भाषा के विकास की अवस्थाएं (अस्पष्ट ध्वनि समूहों से व्याकरणिक स्पष्ट अभिव्यक्ति तक).

चित्र 9. गति का विकास.

चित्र 10. बच्चों में सामान्य और विचलित चारित्रिक लक्षण.

चित्र 11. अच्छे और बुरे सामाजिक प्रकारों के लिए आकर्षण वृत्त.

अध्याय एक

विश्व के पुनर्निर्माण में बच्चों की भूमिका

हम लोगों का ऐसा मत है कि बच्चों में प्रतिभा का अथाह भंडार होता है और हमारा आंदोलन इन्हीं प्रतिभाओं को विनष्ट होने से बचाने के लिए है। यह पुस्तक उसी आंदोलन की एक कड़ी है।

आज संसार में चारों ओर संघर्ष है तथा आने वाले संसार के पुनर्निर्माण के लिए अनेक योजनाएं सोची जा रही हैं। अधिकांशतः यही माना जाता है कि शिक्षा द्वारा ही यह काम सबसे अच्छी तरह किया जा सकता है क्योंकि इसे सभी स्वीकार करते हैं कि (मानसिक दृष्टिकोण से) हम जितना सभ्य होने का दावा करते हैं, वास्तव में उतने सभ्य नहीं हैं।

मेरा भी यही विचार है कि मनुष्य जाति को अभी अपना लक्ष्य प्राप्त करने में—अर्थात ऐसे शांतिपूर्ण और सुव्यवस्थित संसार की रचना जहां युद्ध न हो—बहुत कुछ करना बाकी है। मनुष्य को अभी इतनी क्षमता प्राप्त नहीं हुई है कि वह अपने भविष्य का स्वयं निर्माण कर सके और विश्व की उन घटनाओं को नियंत्रित कर सके जिनका वह आज स्वयं शिकार हो जाता है।

यद्यपि यह सभी मानते हैं कि मानव जाति की उन्नति शिक्षा द्वारा ही हो सकती है, परंतु आज भी शिक्षा का अर्थ केवल दिमागी शिक्षा माना जाता है। किसी नवीन रचनात्मक उत्साहजनक साधनों को ढूंढ़ने का प्रयत्न करने के बजाए पुराने परंपरागत तरीके से दिमाग को प्रशिक्षित करने की कोशिश की जाती है।

मैं यह स्वीकार करती हूं कि धर्म और दर्शन का इस दिशा में बहुत बड़ा योगदान हो सकता है, परंतु आज की इस अति आधुनिक दुनिया में दार्शनिकों की संख्या कुछ कम नहीं है। पहले भी कितने दार्शनिक हो चुके हैं और आगे भी कितने होंगे। हमारे आदर्श और विचार सदा से ऊंचे रहे हैं और शिक्षा द्वारा हम इन्हीं आदर्शों को सिखाते हैं। फिर भी युद्ध और संघर्ष में कोई कमी नहीं हुई है। यदि शिक्षा के प्रति हमारा वही दकियानूसी दृष्टिकोण बना रहता है जिसमें शिक्षा का तात्पर्य केवल एक से दूसरे को ज्ञान प्रदान करना है, तो मनुष्य के भविष्य में सुधार की आशा करना व्यर्थ है। यदि मनुष्य का सर्वांगीण विकास न हो, तो केवल ज्ञान के प्रसारण का क्या लाभ होगा ? हमें तो उसकी मानसिक चेतना, सामाजिक व्यक्तित्व, और नई विश्व शक्ति के सदस्य के रूप में, उस पर ध्यान देना होगा जिस पर अभी तक हमारी निगाह नहीं जाती। यदि कहीं से सहायता या उद्धार की आशा

की जा सकती है तो वह बच्चों से ही की जा सकती है, क्योंकि मानव जाति बच्चों से ही बनती है।

बच्चों के पास ऐसी अज्ञात प्रतिभा होती है जो हमें सुखी भविष्य की ओर ले जा सकती है। यदि हम सचमुच में एक नए संसार की रचना करना चाहते हैं, तो शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि बच्चों की इन छिपी प्रतिभाओं का विकास हो।

आज नवजात शिशु के मानसिक जीवन के प्रति जिज्ञासा बहुत बढ़ गई है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बच्चे के जन्म के तीन घंटे बाद से उसके विकास का विशेष अध्ययन किया है। कुछ अन्य विशेषज्ञ, गहन अध्ययन के बाद, इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मनुष्य के संपूर्ण जीवन में प्रथम दो वर्ष ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

जन्म के साथ ही मानव व्यक्तित्व की महानता का निर्माण शुरू हो जाता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जन्म होते ही शिक्षा का प्रारंभ हो जाना चाहिए। यह निष्कर्ष अनोखा है, क्योंकि व्यवहार में हम एक नवजात शिशु या किसी बच्चे को उसके प्रथम दो वर्षों में क्या शिक्षा दे सकते हैं ? जो बच्चा अभी हमारी बोली भी नहीं समझता और अपने अंगों का प्रयोग करना नहीं जानता, उसे हम क्या पाठ पढ़ाएंगे ? या इस छोटे शिशु की शिक्षा की बात करते समय हमारा अभिप्राय केवल उसके शरीर की सफाई से होता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। हमारा आशय इससे कहीं अधिक है।

इस प्रारंभिक काल में, शिक्षा का अर्थ है कि वह बच्चे की जन्मजात मानसिक शक्तियों के विकसित होने में सहायक हो। इसका मतलब यह है कि हम शिक्षा की पारंपरिक विधियों का इस्तेमाल नहीं कर सकते, जो केवल व्याख्यान विधि पर आधारित होती हैं।

क्षमताओं की बर्बादी

आधुनिक शोध से यह पता चलता है कि छोटे बच्चे में एक विशेष मानसिक क्षमता होती है जो केवल बच्चों में ही पाई जाती है। इससे शिक्षक को एक नए मार्ग का संकेत मिलता है। यह मार्ग आम रास्तों से भिन्न है, जिसे अभी तक मान्यता नहीं मिली है। फिर भी, इसका मानव जाति के लिए बड़ा महत्व है। हजारों वर्षों से बच्चों की असली रचनात्मक शक्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है जबकि यह शक्ति बड़ी प्रभावशाली है। जैसे, पहले मनुष्य ने धरती पर चलना शुरू किया, बाद में खेती के लिए उसे जोता, परंतु धरती के गर्भ में कितना अथाह खजाना भरा पड़ा है इस पर उसने विचार नहीं किया। इसी तरह आज मनुष्य सभ्यता की ओर प्रगति पर प्रगति करता चला जा रहा है पर उसका ध्यान इस पर नहीं जाता है कि बच्चों के अंदर मानसिक शक्तियों का कितना भंडार है।

जब से धरती पर मानव जीवन प्रारंभ हुआ है, तभी से इन शक्तियों को दबाया और नकारा गया है। अभी कुछ समय पहले तक उनके अस्तित्व के बारे मे किसी को बोध भी नहीं था। हाल ही में लोगों का ध्यान इन पर गया है। जैसे कैरेल ने लिखा है, "बचपन

का समय सबसे मूल्यवान है। शिक्षा द्वारा इसका हर संभावित तरीके से उपयोग होना चाहिए। जीवन के इन वर्षों की बर्बादी, बाद में कभी पूरी नहीं की जा सकती है। अतः बचपन के वर्षों की अवहेलना न करके हमें बड़ी सावधानी से उन पर ध्यान देना चाहिए।"

आज हमें इन अज्ञात शक्तियों के मूल्य का बोध होना शुरू हुआ है। ये सोने से भी अधिक मूल्यवान हैं क्योंकि उनमें ही मनुष्य की मानवता है।

बच्चे के पहले दो वर्ष हमारे सामने नए रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। क्योंकि इसी समय हमें उनकी मानसिक रचना के नियमों का पता चलता है जिनसे अभी तक हम परिचित नहीं थे। बच्चा स्वयं ही हमें उनसे अवगत कराता है। हमें पता चलता है कि बच्चों का मानसिक जीवन वयस्कों के मानसिक जीवन से नितांत भिन्न होता है। इसी से हमें एक नई दिशा मिलती है। अब ऐसा नहीं है कि प्रोफेसर लोग मनोविज्ञान के नियमों को बच्चों पर लागू करें, वरन अब बच्चे अपने ऊपर अध्ययन करने वालों के सामने स्वयं अपनी मानसिकता प्रकट करते हैं।

यह बात आपको शायद समझ में न आए, परंतु जब हम इस पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे तो आपको स्पष्ट हो जाएगी। बच्चे का दिमाग, ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ होता है। बच्चे में स्वयं सीखने की क्षमता होती है। केवल एक दृष्टांत इसे प्रमाणित करने के लिए काफी है। बच्चा अपने आप अपने माता-पिता की भाषा सीख लेता है, परंतु वयस्कों के लिए नई भाषा सीखना बहुत बड़ी बौद्धिक उपलब्धि होती है। बच्चे को कोई सिखाता नहीं है, परंतु वह क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि का बिलकुल सही प्रयोग कर लेता है।

बच्चे की भाषा के विकास का अध्ययन बहुत ही रोचक है। जिन्होंने यह अध्ययन किया है वे सभी इसमें एकमत हैं कि शब्दों और नामों का उपयोग—जो भाषा के सर्वप्रथम मूलतत्व हैं—बच्चे के जीवन में एक निश्चित समय पर आते हैं, मानो कोई घड़ी इस क्रिया का संचालन कर रही हो। ऐसा लगता है कि बच्चा प्रकृति द्वारा एक पूर्वस्थापित कार्यक्रम का इतने समय के साथ और अक्षरशः पालन कर रहा है कि कोई भी पुरानी प्रणाली का स्कूल इसकी बराबरी नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही सुगठित हो। इस कार्यक्रम का अनुपालन करते हुए, बच्चा अपनी भाषा की सभी विषमताएं और व्याकरणिक संरचनाएं आदि बिना गलती किए हुए, सही-सही सीख लेता है।

महत्वपूर्ण काल

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक बच्चे में एक उत्तम शिक्षक होता है जो इतना निपुण है कि दुनिया के हर हिस्से के सभी बच्चों को समान रूप से शिक्षित कर देता है। सबसे कुशलता से मनुष्य वही भाषा बोल सकता है जो उसने अपने बचपन में उस समय सीखी थी जब उसे और कोई कुछ नहीं सिखा सकता था। यही नहीं, यदि कभी बाद में बड़ा होने पर वही बच्चा कोई दूसरी भाषा सीखना चाहे तो कोई भी दक्ष शिक्षक उसे वह भाषा इतनी निपुणता

से बोलना नहीं सिखा सकता जितनी वह अपने बचपन की भाषा बोलता है।

इसीलिए अवश्य ही बच्चे में एक विशेष मानसिक शक्ति काम करती होगी जो उसके विकास में सहायता करती है। यह केवल भाषा के लिए ही सच नहीं है। दो वर्ष की अवस्था में वह अपने चारों ओर की सब वस्तुएं तथा सब लोगों को पहचानने लगता है। यदि हम इस पर विचार करें तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि बच्चा स्वयं अपना मानसिक निर्माण करता है जिसे एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। जो कुछ भी हम हैं, वह अभी बच्चे से विकसित हुए हैं जो हम अपने जीवन के प्रथम दो वर्षों में थे । बच्चे को अपने चारों ओर दिखाई देने वाली वस्तुओं को पहचानना होता है और हमारे जीने के ढंग को समझ कर अपने को उसके अनुकूल ढालना होता है। यही नहीं, उस छोटी अवस्था में, जब उसे कुछ सिखाया नहीं जा सकता, उसे अपने अंदर उन सब जटिल ग्रंथियों का निर्माण करना होता है जो आगे चल कर हमारी बुद्धि एवं हमारे धर्म का आधार और हमारी विशेष राष्ट्रीय और सामाजिक मनोभावनाएं बनेंगी। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति ने प्रत्येक बच्चे को वयस्क बुद्धि के प्रभाव से सुरक्षित रखने का प्रयास किया है, जिससे उसके अंदर कार्य करने वाले शिक्षक को अवसर मिल सके। इसके पहले कि वयस्क लोगों की बुद्धि बच्चे के मानस तक पहुंच कर उसे प्रभावित और परिवर्तित कर सके, उसे अपनी संपूर्ण मानसिकता के निर्माण का अवसर मिल जाता है।

तीन वर्ष का होते-होते बच्चा मनुष्य के रूप में अपने व्यक्तित्व को स्थापित कर लेता है। उसके बाद ही उसे विशेष शिक्षा की सहायता की आवश्यकता होती है। इस समय तक उसका निर्माण इतना हो जाता है कि हम कह सकते हैं "तीन वर्ष की आयु में स्कूल जाने वाला बच्चा पहले ही एक छोटा आदमी बन गया है।" मनोवैज्ञानिकों ने बहुधा इसे स्वीकार किया है कि यदि वयस्कों की क्षमता की तुलना बच्चे से की जाए, तो एक बच्चा तीन वर्ष की आयु में जितना कर लेता है उतना हम साठ वर्ष के कठिन परिश्रम से कर पाएंगे। इसी को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"तीन वर्ष की आयु प्राप्त करते-करते बच्चा आदमी बन जाता है" परंतु उसकी यह अद्वितीय शक्ति, जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर से ज्ञान ग्रहण करता है, तीन वर्षों में ही समाप्त नहीं हो जाती।

हमारे सबसे प्रारंभिक स्कूलों में बच्चे तीन वर्ष की आयु में दाखिला लेते थे। उन्हें कोई पढ़ा नहीं सकता था क्योंकि वे अभी पढ़ने योग्य नहीं थे। परंतु उनकी मानसिक शक्ति की क्षमता को देख कर हम चकित रह गए। हमारा स्कूल एक औपचारिक स्कूल न होकर, बच्चों के एक घर जैसा था। हमने बच्चों के लिए एक ऐसा स्थान तैयार किया था, जहां वातावरण से ही बच्चे संस्कृति के तत्वों को ग्रहण करते थे और उन्हें औपचारिक शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। समाज के सबसे गरीब तबके के बच्चे यहां आते थे, जिनके मां-बाप निरक्षर थे। फिर भी, इन बच्चों ने पांच वर्ष की आयु के पहले ही लिखना-पढ़ना सीख लिया जबकि किसी ने इन्हें कुछ भी औपचारिक रूप से नहीं सिखाया था। यदि कोई आगंतुक उनसे पूछता कि तुम्हें लिखना किसने सिखाया तो वे आश्चर्यचकित होकर उत्तर देते—"हमें सिखाया ? हमें किसी ने नहीं सिखाया है।"

उस समय यह चमत्कार लगता था कि साढ़े चार वर्ष के बच्चे लिख सकते हैं, जबकि उन्हें इसका आभास नहीं होता कि उन्हें कुछ सिखाया जा रहा है।

अखबारों में इस "स्वाभाविक रीति से संस्कृति ग्रहण करने" की चर्चा होने लगी। मनोवैज्ञानिकों को कौतूहल हुआ कि क्या ये बच्चे अन्य बच्चों से भिन्न हैं। स्वयं हमें भी काफी समय तक यह बात समझ में नहीं आई। बार-बार प्रयोग करने पर हम निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी बच्चों में संस्कृति 'ग्रहण करने' की एक क्षमता होती है। हमने तर्क किया कि यदि यह सच है और संस्कृति बिना प्रयास के ग्रहण की जा सकती है, तो हम बच्चों का संस्कृति के अन्य तत्वों से भी क्यों न परिचय कराएं ? उसके बाद हमने देखा कि वे केवल लिखना-पढ़ना ही नहीं 'ग्रहण करते' वरन वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, गणित, भूगोल आदि सभी विषय उसी सरलता और सहजता से, बिना थकान के ग्रहण कर लेते हैं।

अतः हमने यह अनुभव किया कि शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शिक्षक बच्चों को प्रदान करता है, वरन यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जो मनुष्य में सहजता से विकसित होती है। यह शब्दों को सुनने से प्राप्त नहीं होती वरन बच्चा अपने चारों ओर के वातावरण से स्वतः अर्जित करता है। अध्यापक का कार्य भाषण देना नहीं है, वरन बच्चे के लिए ऐसा विशेष वातावरण तैयार करना है जिसमें उसे सांस्कृतिक क्रियाओं के लिए प्रेरणा मिलती रहे।

मैं चालीस वर्षों से विभिन्न देशों में अपने प्रयोग कर रही हूं और जब ये बच्चे बड़े होने लगे तो इनके मां-बाप मुझसे निवेदन करते रहे कि मैं अपनी प्रणाली का बड़े बच्चों के लिए भी प्रयोग करूं। हमने महसूस किया कि बच्चे का विकास उसके अपने क्रिया-कलाप से ही होता है; चाहे वह स्कूल पूर्व आयु के बच्चे हों या जूनियर या मिडिल या अपर स्कूल के बच्चे।

नया मानव

हमारे सामने तब एक नया चित्र उभर कर आया। यह केवल स्कूल या शिक्षा पद्धति का नहीं वरन स्वयं मानव का था। इस मानव का सच्चा स्वरूप यह है कि उसमें स्वतंत्र विकास की क्षमता है। जैसे ही उस पर से मानसिक दबाव हट जाता है, जो उसकी क्षमता को सीमित किए रहता है तथा उसके उत्साह को दबाता है, वैसे ही उसकी महानता प्रकट होने लगती है।

इसीलिए मेरा मत है कि शिक्षा में किसी भी सुधार का आधार स्वयं मनुष्य का व्यक्तित्व होना चाहिए। स्वयं मानव को ही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। साथ ही हमें यह कभी नही भूलना चाहिए कि मनुष्य का विकास केवल विश्वविद्यालय में नहीं होता, वरन उसका मानसिक विकास उसके जन्म से ही शुरू हो जाता है और उसके शुरू के तीन वर्षों में सबसे

तेजी से होता है। इन्हीं तीन वर्षों में उसको सबसे अधिक देखरेख की जरूरत है। यदि हम इन बातों को ध्यान में रखें तो बच्चा हमारे लिए एक भार न होकर प्रकृति का एक अद्‌भुत चमत्कार प्रतीत होगा। फिर हम उसे असहाय जीव के रूप में नहीं देखेंगे जो हमारी निगाह में एक रिक्त स्थान है और वह इस बात का इंतजार कर रहा है कि हम उस रिक्त स्थान को भरेंगे। हमें जितना यह समझ में आने लगेगा कि उसी ने हमारे व्यक्तित्व की नींव डाली है; वह जो अपने अंतःनिहित शिक्षक द्वारा संचालित होता है; वह जो अथक परिश्रम सहजता और प्रसन्नता के साथ करता है तथा एक पूर्व निश्चित समयानुसार विश्व के सबसे अद्‌भुत चमत्कार—मानव—की रचना करता है; उतना ही हमारी दृष्टि में उसका सम्मान बढ़ जाएगा। हम अध्यापक तो उस कार्य में केवल सहायता कर सकते हैं, जैसे नौकर, मालिक के कार्य में सहायता करते हैं। इस तरह हम नए मानव के निर्माण के साक्षी होंगे। यह नया मानव अपने हालात का शिकार नहीं होगा वरन अपने स्पष्ट विचारों के कारण, आने वाली मानव जाति का निर्देशन कर सकेगा और उसे अपने अनुकूल ढाल सकेगा।

अध्याय दो

जीवन के लिए शिक्षा

इसे स्पष्ट करने के लिए कि जन्म के साथ आरंभ होने वाली "जीवन के लिए शिक्षा" से हमारा क्या तात्पर्य है, हमें कुछ अधिक विस्तार से समस्या को समझना होगा। संसार के महान नेता गांधी जी ने कुछ समय पूर्व कहा था कि जीवन और शिक्षा का क्षेत्र समान होना चाहिए। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा था कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जीवन की रक्षा कर सके। ऐसी बात पहली बार किसी सामाजिक और आध्यात्मिक नेता ने कही है। दूसरी ओर, विज्ञान ने भी इस बात का अनुमोदन किया है और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही वह इसे प्रमाणित करने का प्रयास कर रहा है कि समस्त जीवन के लिए शिक्षा का विस्तार व्यवहार में संभव हो सकता है। फिर भी किसी शिक्षा मंत्रालय ने इस विचार को अपनाने का प्रयास नहीं किया है।

वर्तमान शिक्षा की अनेक पद्धतियां, लक्ष्य और सामाजिक उद्देश्य हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह स्वयं जीवन का बिलकुल विचार नहीं करती। विभिन्न देशों में अनेक प्रणालियां औपचारिक रूप से उपयोग में लाई जा रही हैं, परंतु उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जो व्यक्ति की जन्म से ही सहायता का प्रयास करे और उसके विकास की सुरक्षा कर सके। आजकल शिक्षा की जैसी अवधारणा है, वह हमारे शारीरिक और सामाजिक जीवन—दोनों ही से पृथक है। जो भी शिक्षा की दुनिया में प्रवेश करते हैं वे प्रायः समाज से कट जाते हैं। विश्वविद्यालय के छात्रों से आशा की जाती है कि वे अपने कॉलेज के नियमों के अनुसार चलेंगे और अधिकारियों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम का पालन करेंगे। परंतु कुछ समय पहले तक यह बात कही जा सकती थी कि विश्वविद्यालय, इन छात्रों के शारीरिक और सामाजिक जीवन में रत्ती भर रुचि नहीं लेता है। यदि कोई छात्र भूखा रहता है या उसे कम दिखाई या सुनाई देता है और इसके कारण पढ़ाई में उसकी रुचि कम हो जाती है, तो उसे बस नंबर कम दिए जाते थे। यह सच है कि शारीरिक दोषों और कमजोरियों पर अब ध्यान दिया जाने लगा है, परंतु यह केवल स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से ही। इस पर कभी किसी ने प्रश्न नहीं किया है कि गलत और अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली के कारण क्या छात्र के दिमाग के बिगड़ने की संभावना नहीं है। क्लैपारीड ने नई शिक्षा के आंदोलन का जोरदार समर्थन किया था। उसने पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों की संख्या के बारे में जांच की और प्रयत्न किया कि यह संख्या कम हो जाए, जिससे बच्चे को इतनी दिमागी थकान महसूस न हो।

परंतु इससे इस समस्या का समाधान नहीं होता कि छात्र बिना थकान के संस्कृति के भंडार को कैसे ग्रहण करें। राज्य द्वारा नियंत्रित अधिकांश व्यवस्थाओं में सारा महत्व इसी पर होता है कि पाठ्यक्रम पूरा हो जाए। यदि कोई पूर्व स्नातक किसी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध या किसी राजनैतिक समस्या पर आवाज उठाता है तो उसे अधिकारियों का यही आदेश मिलता है कि विद्यार्थियों को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए और अपना ध्यान पढ़ाई में लगाना चाहिए। इसका परिणाम यही होता है कि विश्वविद्यालय से निकलने पर युवावर्ग का दिमाग इतना कुंद हो जाता है कि उनकी अपनी सोचने की शक्ति ही समाप्त हो जाती है और वे सामयिक समस्याओं पर स्वयं कोई राय नहीं बना पाते।

शैक्षिक संगठन समाज से इतने विमुख रहते हैं मानो समाज की समस्याएं उनके दायरे के बाहर की हों। शिक्षा का संसार एक ऐसे द्वीप की तरह है, जहां लोगों को संसार से अलग करके जीवन का सामना करने की शिक्षा दी जा रही हो। मान लीजिए विश्वविद्यालय के किसी छात्र को तपेदिक हो जाए और उसकी मौत हो जाए। यह बड़े दुःख और आश्चर्य की बात है कि जिस विश्वविद्यालय के समाज में वह छात्र रह रहा था, उसने उसकी बीमारी के दौरान उस पर कोई ध्यान नहीं दिया, परंतु उसकी मौत होने पर, उसी विश्वविद्यालय ने अचानक एक प्रतिनिधि उसके दाह संस्कार में भेजा। कुछ स्नातक तो संसार में प्रवेश करने पर अपना इतना आत्मविश्वास खो चुके होते हैं कि वे अपने लिए कुछ नहीं कर पाते और अपने परिवार तथा दोस्तों पर भार बने रहते हैं। फिर भी हम यह अपेक्षा नहीं करते कि विश्वविद्यालय इन तथ्यों पर ध्यान दे। वह इन सबके प्रति उदासीन रहता है, क्योंकि उसके नियम ऐसे बनाए गए हैं जो छात्रों को दूसरों की मानसिक समस्याओं से अपने को अलग रखने को कहते हैं, और उन्हें केवल अध्ययन करने और परीक्षा में बैठने की अनुमति प्रदान करते हैं। परीक्षा में जो सफल हो जाता है उसे डिग्री या डिप्लोमा दे दिया जाता है। यही हमारे समय में शिक्षा संस्थाओं का सबसे उच्च लक्ष्य है। इधर सामाजिक समस्याओं पर शोध करने वालों को यह ज्ञात हो रहा है कि विश्वविद्यालय के स्नातक तथा स्कूलों से निकले हुए छात्र, जीवन का सामना करने के लिए तैयार नहीं होते। यही नहीं, समाज के लिए उपयोगी कार्य करने की उनकी क्षमता भी कम हो जाती है। आंकड़ों से पता चलता है कि पागलों की, अपराधियों की, तथा पड़ोसियों द्वारा सनकी समझे जाने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। समाजशास्त्री चाहते हैं कि स्कूल इन बुराइयों को दूर करने की जिम्मेदारी ले, परंतु स्कूलों की तो अपनी एक अलग ही दुनिया होती है जिसमें इन समस्याओं को अलग रखा जाता है। स्कूल इतनी प्राचीन संस्था है कि उसके लिए स्वयं अपनी परंपराओं को तोड़ना बहुत कठिन है। कोई बाहर का दबाव ही उसमें परिवर्तन लाकर उसकी काया पलट कर सकता है, तथा शिक्षा में हर स्तर पर पाए जाने वाले दोषों का उपचार कर सकता है, जिनके कारण छात्रों की इतनी हानि होती है।

स्कूल से पहले का समय

हम एक दृष्टि जन्म से छह या सात वर्ष तक के काल पर डालें। जिन्हें आजकल स्कूल कहा जाता है, वे इस काल में कोई रुचि नहीं लेते। इसीलिए इसे स्कूल पूर्व काल कहा गया है, अर्थात औपचारिक शिक्षा के दायरे से बाहर का काल। सच पूछिए तो इतने छोटे बच्चे स्कूल जाकर करेंगे भी क्या ? इसीलिए जहां कहीं स्कूल पूर्व अवस्था के बच्चों के लिए कुछ स्कूल खोले गए हैं वे सरकारी शिक्षा विभाग पर निर्भर नहीं होते। उन पर गैर सरकारी संस्थाओं या निजी प्रबंधकों का नियंत्रण होता है जिनका उद्देश्य अक्सर परोपकार होता है। इनके लिए बच्चों के मानसिक जीवन को सुरक्षित रखने जैसी कोई समाजिक समस्या नहीं है। इसके अतिरिक्त, समाज का तो यही कहना है कि इतने छोटे बच्चों की जिम्मेदारी राज्य की नहीं है, वरन घरों की है।

आजकल बच्चों के इन प्रथम वर्षों पर महत्व दिया जाने लगा है, परंतु इसके लिए अभी तक कोई व्यावहारिक सुझाव नहीं दिया गया है। अभी लोगों का विचार यहीं तक गया है कि घरों के जीवन में सुधार किया जाना चाहिए अर्थात आजकल मातृत्व के लिए शिक्षण आवश्यक समझा जाता है। परंतु घर स्कूल का अंग नहीं होते। स्कूल तो समाज के होते हैं। अतः वास्तव में होता क्या है कि मनुष्य का व्यक्तित्व, या उसका विकास, विभाजन हो जाता है। एक ओर तो घर है जो समाज का ही अंग है परंतु समाज से अलग अपनी हस्ती रखता है और समाज भी उसकी अवहेलना करता है, दूसरी ओर स्कूल हैं, वे भी समाज से कटे हुए हैं। अंत में विश्वविद्यालय है। इन तीनों के मध्य कोई एकता का सूत्र नहीं है। जीवन के प्रति इन्हें कोई सामाजिक चिंता नहीं है, ये पृथक टुकड़े हैं जिन्हें एक दूसरे से कोई मतलब नहीं है। यहां तक कि नए सामाजिक विज्ञान, जैसे समाजशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान आदि जो समाज से अलग रहने से उत्पन्न बुराइयों को समझते हैं, सदा स्कूल के बाहर ही चर्चित होते हैं। अतः अभी ऐसी कोई ठीक संस्था नहीं है जो जीवन के विकास में सहायक हो। यह सहायता शिक्षा द्वारा ही मिल सकती है, ऐसा विज्ञान ने पहले से ही माना है। परंतु अभी तक शिक्षा को समाज में उचित मान्यता या सम्मान नहीं दिया गया है। सभ्यता को यही नया कदम उठाने की आवश्यकता है। इसकी रूपरेखा पहले ही तैयार कर ली गई है। आलोचना द्वारा हमें अपनी वर्तमान गलतियां भी पता चल गई हैं। विभिन्न कार्यकर्ताओं ने, जीवन की हर अवस्था के लिए हमें आवश्यक उपचार भी बताए हैं। अतः सब कुछ तैयार है। बस हमें निर्माण करना बाकी है। विज्ञान के विविध योगदान ऐसे ही हैं जैसे पत्थर की खदान में से पत्थर निकाल कर, काट कर, भवन निर्माण के लिए तैयार रखे हों। हमें बस अब ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ़ना है जो इन पत्थरों से नए भवन की रचना करें, जिसकी सभ्यता को बहुत आवश्यकता है।

शिक्षा का उद्देश्य और समाज

जब हम इस अवधारणा को स्वीकार कर लेते हैं कि शिक्षा का केंद्र मानव है, तो हमारे सभी पुराने विचारों में परिवर्तन हो जाता है। अब शिक्षा को किसी, पूर्व निश्चित पाठ्यक्रम या कार्यक्रम पर आधारित न करके उसे मानव जीवन की सच्चाइयों से जोड़ना पड़ेगा। इस धारणा के आधार पर नवजात शिशु की शिक्षा का महत्व तुरंत सबसे अधिक हो जाता है। यह सच है कि नवजात शिशु कुछ नहीं कर सकता और हम उसे साधारण अर्थ में कुछ नहीं पढ़ा सकते। वह केवल अध्ययन का एक विषय मात्र हो सकता है, जो उसकी आवश्यक जरूरतों का पता लगाने के लिए किया जाए। हम लोग इसी प्रकार का अध्ययन कर रहे हैं। इसका एक उद्देश्य है। इसका लक्ष्य यह पता लगाना है कि जीवन के नियम क्या हैं। क्योंकि यदि हम जीवन की सहायता करना चाहते हैं तो हमारी सफलता सर्वप्रथम इसी पर निर्भर करेगी कि हमें जीवन को संचालित करने वाले नियमों का ज्ञान हो। परंतु केवल नियमों का ज्ञान प्राप्त करना काफी नहीं है, क्योंकि यदि हम इतने पर ही रुक गए तो हम मनोविज्ञान के क्षेत्र में ही बने रहेंगे। परंतु, इन नियमों की सीमा लांघ कर हमें शिक्षक बनना चाहिए।

शिशु के मानसिक विकास के बारे में ज्ञान प्रसार होना चाहिए क्योंकि तभी शिक्षा का नया रूप विकसित होगा और वह अधिकार सहित यह घोषणा कर सकेगी—"जीवन के ये-ये नियम हैं। उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। आपको उन्हीं के अनुसार कार्य करना होगा, क्योंकि उनके द्वारा हमें मानव के अधिकारों का ज्ञान होता है जो सर्वव्यापी है।"

यदि समाज यह जरूरी समझता है कि शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य बनाया जाए तो शिक्षा को अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान करना होगा। यदि अब हम यह मानने लगे हैं कि शिक्षा जन्म से ही प्रारंभ होती है, तो सबके लिए यह जरूरी है कि वे बच्चे के विकास के नियमों को समझें। तब शिक्षा का ऐसा रूप नहीं रहेगा जो समाज से कटी हुई हो और जिसकी ओर समाज ध्यान न देता हो। तब शिक्षा का समाज पर शासन करने का अधिकार होगा। समाज को इस नई धारणा के अनुकूल अपने को ढालना होगा कि "जीवन को सुरक्षित रखना है।" इसमें सभी को अपना योग देना होगा। माता-पिता अपना उत्तरदायित्व संभालें। यदि घर में साधनों की कमी है, तो समाज का काम केवल आवश्यक शिक्षण देना ही नहीं है वरन बच्चों को पालने के लिए आवश्यक सहारा देना भी है। यदि शिक्षा का तात्पर्य व्यक्तित्व की सुरक्षा है, यदि समाज यह मानता है कि बच्चे के विकास के लिए आवश्यक वस्तुएं परिवार उपलब्ध नहीं करा सकता, तब समाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उन वस्तुओं को जुटाए। राज्य, बच्चे की ओर से आंखें नहीं मूंद सकता।

पहले जिस शिक्षा को समाज से अलग रखा जाता था, अब उसे समाज में प्रमुख प्रभावशाली स्थान मिल जाएगा। यदि हम यह समझते हैं कि व्यक्तियों पर, उनके कल्याण के लिए समाज का नियंत्रण हो और शिक्षा की भूमिका जीवन की सहायता करना हो, तो यह नियंत्रण कभी व्यक्ति को सीमित या कुंठित नहीं करेगा। उसे तो उसके शारीरिक और मानसिक विकास

में सहायक होना चाहिए। इसका अर्थ है कि समाज का पहला काम यह होना चाहिए कि वह शिक्षा के लिए अपनी निधि में से, अधिक धन प्रदान करे।

बच्चे को अपने बढ़ने के वर्षों में क्या-क्या आवश्यकताएं होती हैं, इन पर अध्ययन हुए हैं और इन अध्ययनों के निष्कर्ष प्रकाशित किए जा चुके हैं। अब पूरे समाज को चाहिए कि वह शिक्षा का उत्तरदायित्व निष्ठापूर्वक अपने ऊपर ले। शिक्षा के विकास से जो लाभ प्राप्त होंगे वे पूरी तरह उसकी क्षतिपूर्ति कर देंगे। इस प्रकार की शिक्षा का प्रभाव केवल बच्चों और माता-पिता पर ही नहीं, वरन राज्य और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर भी पड़ेगा। वह समाज के प्रत्येक अंग के लिए तथा अधिकाधिक सामाजिक उन्नति के लिए प्रेरणा स्रोत बनेगी। वर्तमान शिक्षा से अधिक निष्क्रिय या गतिहीन और क्या हो सकता है ? यदि देश को खर्च में कमी करने की आवश्यकता होती है तो सबसे पहले निश्चय ही शिक्षा के व्यय पर कटौती होती है। यदि हम किसी राजनेता से शिक्षा पर उसके विचार जानना चाहते हैं तो वह यही कहता है कि उसका शिक्षा से कोई संबंध नहीं है। उसने अपने बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी अपनी पत्नी पर छोड़ रखी है, और पत्नी ने उसकी जिम्मेदारी स्कूल पर छोड़ रखी है। भविष्य में किसी नेता के लिए ऐसा उत्तर देना या शिक्षा के प्रति इतनी उदासीनता दिखाना असंभव होगा।

बच्चे : मनुष्य के निर्माता

बच्चों के जन्म के बाद से ही उनका अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिकों के अध्ययनों से हमें क्या पता चलता है ? वे सब इससे सहमत हैं कि बच्चे में इतनी क्षमता होती है कि उचित देखरेख और सहायता से उसका मानसिक संतुलन बेहतर हो सकता है और वह अधिक शक्तिशाली और कर्मठ बन सकता है। बच्चे के प्रारंभिक वर्षों में, सब कुछ संयोग पर न छोड़ कर, हमें उसके विकास की पूरी वैज्ञानिक देखरेख करनी चाहिए और ध्यान देना चाहिए। इसका अर्थ है कि केवल शारीरिक सफाई के अतिरिक्त कुछ और भी है जो आवश्यक होता है। जिस तरह स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा हम उसके शरीर को बीमारी से बचाते हैं, उसी तरह उसके मस्तिष्क और आत्मा की सुरक्षा के लिए हम मानसिक स्वास्थ्य का सहारा लेते हैं।

विज्ञान ने बच्चे के प्रारंभिक वर्षों के बारे में और भी तथ्यों की खोज की है। गोद के बच्चों में जितना, हम सोचते हैं उससे कहीं अधिक मानसिक शक्ति होती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जन्म के समय बच्चे में कुछ नहीं होता। ऐसा केवल उसके मस्तिष्क के लिए ही सच नहीं है, वरन उसकी शारीरिक क्रियाओं में भी जन्म के समय कोई समन्वय नहीं होता। वह अपने हाथ-पांव से कुछ नहीं कर सकता, न वह बोल सकता है, चाहे उसे अपने सामने सब कुछ दिखाई दे रहा हो। फिर भी कुछ समय बाद, यही बच्चा चलने और बोलने लगता है, और एक के बाद एक, नई बातें सीखता जाता है, जब तक उसकी संपूर्ण मानसिक और शारीरिक प्रतिभाएं विकसित नहीं हो जातीं। अंततः वह संपूर्ण शारीरिक और मानसिक

विकास से संपन्न, पूरा मानव बन जाता है। इससे हमें एक बात समझ में आती है—बच्चा एक जड़ जीव नहीं है जिसने सब कुछ हम से ही सीखा है। मानो वह कोई खाली बर्तन हो जिसे हम भर देते हैं। नहीं—बच्चा ही आदमी को बनाता है। प्रत्येक आदमी का निर्माण उसी बच्चे द्वारा होता है जो वह अपने बचपन में था।

बच्चे की ये महान रचनात्मक शक्तियां, जिनकी हम इतनी चर्चा कर चुके हैं और जिनके बारे में अब वैज्ञानिक भी अध्ययन करने को मजबूर हुए हैं, अभी तक इसलिए अज्ञात थीं, क्योंकि हमारे अंदर मातृत्व को लेकर कई भ्रांतियां थीं। हम यही कहते थे कि मां ही बच्चे को बनाती है, क्योंकि वही उसे चलना, बोलना, आदि सिखाती है। परंतु वास्तव में मां यह सब कुछ नहीं करती। यह स्वयं बच्चे की उपलब्धि है। मां तो बच्चे को संसार में प्रवेश कराती है। परंतु आदमी का निर्माण स्वयं बच्चा करता है। मां की मृत्यु हो जाने पर भी बच्चा बड़ा होता है और आदमी बनने की अपनी नियति पूरी करता है। एक भारतीय बच्चे को अमेरिका ले जाकर वहां के लोगों की देखरेख में रखा जाए तो वह हिन्दी बोलना न सीख कर अंग्रेजी बोलना सीख लेगा। अतः उसे भाषा मां से प्राप्त नहीं होती है, वरन बच्चा स्वयं भाषा सीख लेता है जैसे वह अपने चारों ओर रहने वाले व्यक्तियों के आचार-विचार ग्रहण करता है। इन सब उपलब्धियों में कुछ भी वंशागत नहीं है। बच्चा ही अपने चारों ओर के संसार से चीजें ग्रहण करता है और उन्हीं से भविष्य के आदमी का निर्माण करता है।

बच्चे की इस उपलब्धि को स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं है कि हम माता-पिता के अधिकार को कम कर रहे हैं। यदि एक बार माता-पिता यह समझ लें कि बनाने वाले वे नहीं हैं, वरन वे तो निर्माण क्रिया में सहायक मात्र हैं, तब वे अपना कर्तव्य कहीं अच्छी तरह निभा सकेंगे और इस व्यापक दृष्टिकोण के अंतर्गत उनकी सहायता सचमुच में मूल्यवान होगी। बच्चा अपना निर्माण अच्छी तरह तभी कर सकता है जब उसे मां-बाप से उपयुक्त सहायता मिले। अतः मां-बाप को केवल अपनी मान मर्यादा जताने से सत्ता प्राप्त नहीं होती, वरन वह उन्हें अपने बच्चों की सहायता करने से मिलती है। मां-बाप की सच्ची मर्यादा और अधिकार इसी पर निर्भर करते हैं।

परंतु हम एक और दृष्टिकोण से विचार करें कि बच्चे का समाज में क्या स्थान है।

आधुनिक संसार में सभी एक मजदूर से परिचित हैं जिसका मार्क्स ने इतना गुणगान किया है। वह सुख और संपत्ति का उत्पादन करता है और सभ्य जीवन को चलाने के लिए एक अनिवार्य साझेदार है। समाज ने अब उनके नैतिक और आर्थिक मूल्य को स्वीकार कर लिया है। उन्हें अधिकार के रूप में, अपने कार्य के लिए अनुकूल साधन और परिस्थितियां उपलब्ध कराई जाती हैं।

इसी तर्क का हम बच्चे पर प्रयोग करें। वह भी मेहनत करता है। उसके कार्य का लक्ष्य है मानव का निर्माण। यह सच है कि उसके जीवन के लिए तथा उसकी रचनात्मक गतिविधियों के लिए मां-बाप जरूरी साधन जुटाते हैं पर यदि हम सामाजिक दृष्टिकोण से

देखें तो उसका कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि वह जो मेहनत करता है, उससे केवल सांसारिक पदार्थ ही प्राप्त नहीं होते, वरन पूरी मानवता का निर्माण होता है—एक जाति या सामाजिक गुट का नहीं वरन संपूर्ण मानवता का। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो इस नतीजे पर आए बिना नहीं रह सकते हैं कि समाज को बच्चे पर ध्यान देना चाहिए। उसके अधिकारों को स्वीकारना और उसकी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए। यदि हम अपने अध्ययन का लक्ष्य स्वयं जीवन को बना लेंगे तो हमें पता चलेगा कि हमारे हाथ में मानव समाज का रहस्य आता जा रहा है। तब हमें स्वतः ज्ञान हो जाएगा कि जीवन को कैसे संचालित करें और कैसे उसकी सहायता करें। ऐसी शिक्षा की बात कहते हुए हम भी एक क्रांति की घोषणा कर रहे हैं—ऐसी क्रांति, जिसमें आज के समस्त ज्ञान की काया पलट हो जाएगी। मैं इसे एक अंतिम क्रांति के रूप में देखती हूं। यह क्रांति हिंसा से नहीं होगी, इसमें खून भी नहीं बहेगा, क्योंकि छोटे बच्चे की मानसिक क्षमता तो हिंसा की छाया से भी घबराती है।

हमें तो मनुष्य के स्वाभाविक रूप की सुरक्षा करनी है। हमारा सारा प्रयास यही है कि बच्चों के विकास में आने वाली सब रुकावटों को दूर करें और उसे उन खतरों तथा गलतफहमियों से बचाएं जो उसे चारों ओर से घेरे हुए हैं।

यही शिक्षा है जिसका तात्पर्य जीवन की सहायता करना है। यह शिक्षा जन्म से ही प्रारंभ होती है; एक शांतिपूर्ण क्रांति को उकसाती है; सबको एक व्यापक लक्ष्य से जोड़ती है; और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती है। माता, पिता, राजनेता सभी को बच्चों के इस संवेदनशील निर्माण कार्य के प्रति आदर होना चाहिए तथा उसमें उनकी सहायता करनी चाहिए। मानवता के लिए यही नई आशा है। हमें पुनर्रचना की आवश्यकता नहीं है, वरन बच्चों द्वारा स्वयं अपने निर्माण के कार्य में सहायता करने की आवश्यकता है, जिससे बच्चों की विशाल अंतर्निहित संभावनाओं को प्रस्फुटित होकर फलने का मौका मिले।

अध्याय तीन

विकास के क्रम

जिन मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों के जन्म से विश्वविद्यालय की आयु तक के विकास का अध्ययन किया है, उनका कहना है कि इस अवधि को कई निश्चित कालों में विभाजित किया जा सकता है। यह बात सर्वप्रथम हैवलौक एलिस ने कही थी और हाल में डब्लू. स्टर्न ने भी इसका अनुमोदन किया। बाद में अन्य मनोवैज्ञानिकों ने, विशेषतः शार्लट व्यूहलर तथा उसके अनुयायियों ने इसी धारणा के आधार पर अपना कार्य किया। फ्रायड की विचारधारा में भी एक दूसरे दृष्टिकोण से, यही भाव उपस्थित है। यह पुराने प्रचलित विचारों से बहुत भिन्न है। पुरानी धारणा यह थी कि जन्म के समय मनुष्य के कोई विशेष गुण नहीं होते, और वे विकास के साथ इन्हें प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार नन्हा शिशु पहले आकार में बहुत छोटा होता है और विकास से क्रमशः वह बड़ा होता जाता है, परंतु रूप उसका वही रहता है। इस पुरानी धारणा को त्याग कर आजकल मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि विकास की क्रमशः अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोदशाएं होती हैं। इन अवस्थाओं में, एक दूसरे से, स्पष्ट भिन्नता है और रोचक बात यह है कि वे विभिन्न मनोदशाएं शारीरिक विकास की अवस्थाओं के तदनुरूप होती हैं। प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन इतने स्पष्ट हैं कि मनोवैज्ञानिक भाषा में अत्युक्ति अलंकार का प्रयोग करके कहते हैं, "विकास, पुनर्जन्मों की एक शृंखला है।" जब निर्धारित समय आता है, तब एक मानसिक व्यक्तित्व का अंत होता है और दूसरे का प्रारंभ। प्रथम अवस्था जन्म से छह वर्ष तक चलती है। इस काल में एक विशेष मनोदशा होती है, जो बाद की अवस्थाओं की मनोदशा से बहुत भिन्न होती है। इस काल में दो अवस्थाएं होती हैं--एक जन्म से तीन वर्ष तक और दूसरी, तीन से छह वर्ष तक। इनमें से पहली उप-अवस्था में बच्चे का दिमाग ऐसा होता है कि उस पर वयस्क का सीधा प्रभाव नहीं पड़ सकता। वास्तव में, इस अवस्था के बच्चों के लिए कोई स्कूल नहीं है। दूसरी उप-अवस्था में (तीन से छह वर्ष तक) मनोदशा तो वैसी ही रहती है, परंतु कुछ मात्रा में बच्चा, बड़ों से प्रभावित होने लगता है। इस काल में व्यक्तित्व में काफी परिवर्तन आ जाता है। यदि हम एक नवजात शिशु की छह वर्ष के बच्चे से तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। अभी कुछ समय के लिए हम इस पर ध्यान न दें कि यह परिवर्तन कैसे हुए, पर वास्तविकता यह है कि छह वर्ष के बच्चे में स्कूल जाने योग्य बुद्धि आ जाती है।

दूसरी अवस्था छह से बारह वर्ष तक की है। इस काल में बच्चा बढ़ता है पर अन्य

कोई परिवर्तन नहीं होते। बच्चा शांत और प्रसन्न रहता है। उसकी मानसिक स्थिति स्वस्थ, सुदृढ़ और स्थिर रहती है। रॉस ने इस आयु के बच्चों के बारे में लिखते हुए कहा है कि "उत्तर बाल्यकाल (6 से 12 वर्ष) की सबसे स्पष्ट विशेषता उनकी मानसिक और शारीरिक स्थिरता है। किसी अन्य ग्रह का कोई जीव, जिसका मानव जाति से परिचय न हो, इन दस वर्षीयों को आसानी से मानव जाति का पूर्ण विकसित वयस्क समझ लेगा, यदि वह वास्तविक वयस्कों से न मिला हो।"

शारीरिक विकास में कुछ ऐसे चिह्न हैं जो इन दो मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं के बीच की सीमा निर्धारित करते हैं। ये परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देते हैं--जैसे, एक तो यही है कि बच्चे के दूध के दांतों का गिर कर नए दांतों का आना।

तीसरी अवस्था बारह से अठारह वर्ष की है। इस काल में इतने परिवर्तन होते हैं जो हमें पहली अवस्था की याद दिलाते हैं। इसे भी हम दो उप-अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं--पहली बारह से पंद्रह वर्ष तक और दूसरी पंद्रह से अठारह वर्ष तक। इस काल में शरीर में भी परिवर्तन होते हैं और शरीर का विकास पूर्ण हो जाता है। अठारह वर्ष की अवस्था तक मनुष्य का विकास पूरा हो जाता है और उसके बाद उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। उसकी आयु ही बढ़ती जाती है।

विचित्र बात तो यह है कि औपचारिक शिक्षाशास्त्री भी इन विभिन्न मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्हें इन अवस्थाओं का कुछ अंतर्बोध था। पहली अवस्था--जन्म से छह वर्ष तक--स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है, क्योंकि इस अवस्था में अनिवार्य शिक्षा लागू नहीं की जाती है। छह वर्ष का होने पर बच्चे में एक स्पष्ट बदलाव आता है, जिसके बाद वह स्कूल जाने योग्य हो जाता है। अतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि छह वर्ष का होने तक, बच्चा बहुत सी बातें जानता है। वास्तव में यदि बच्चा स्वयं अपना काम न कर सके, चल फिर न सके, या शिक्षक जो बोल रहा है उसे समझ न सके, तो वह सामूहिक जीवन के लिए तैयार नहीं होगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा को कार्यान्वित करते समय इस परिवर्तन को स्वीकार किया गया है। फिर भी शास्त्रियों को यह बात बहुत देर में समझ में आई है कि यदि बच्चा स्कूल जाता है, अपना काम स्वयं कर लेता है और उसके सामने जो विचार रखे जाते हैं उन्हें समझ लेता है, तो इसका अर्थ है कि उसके दिमाग का पर्याप्त विकास हुआ है, क्योंकि जन्म के समय वह इनमें से कुछ भी नहीं कर सकता था।

दूसरी अवस्था को भी सहज मान्यता मिली है, क्योंकि कई देशों में बच्चे बारह वर्ष की अवस्था में प्रारंभिक स्कूलों को छोड़ कर माध्यमिक स्कूलों में प्रवेश लेते हैं। बच्चों को संस्कृति के आधारभूत तत्व सिखाने के लिए छह से बारह वर्ष का काल क्यों उपयुक्त माना गया है ? चूंकि सभी देशों में ऐसा होता है अतः यह कोई तर्क शून्य निर्णय तो हो नहीं सकता। चूंकि समस्त बच्चों की एक सामान्य मनोवैज्ञानिक अवस्था होती है, इसीलिए इस आधार पर स्कूलों का संघटन करना संभव हो सका है जो अनुभवों पर आधारित है। वास्तव

में हमारा अनुभव हमें बताता है कि इस आयु के बच्चे में इतनी योग्यता होती है कि वह स्कूल के लायक दिमागी मेहनत कर सके। वह शिक्षक की बात समझ लेता है। उसमें इतना धैर्य होता है कि वह दूसरों की बात सुने और सीखे। इस समस्त अवधि के दौरान वह स्थिरता से कार्य करता है और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। इसीलिए संस्कृति ग्रहण करने का यही सबसे अच्छा काल माना गया है।

बारह वर्ष की आयु के बाद शिक्षा का स्तर थोड़ा ऊंचा हो जाता है। इसका यह अर्थ है कि औपचारिक शिक्षा यह स्पष्ट अनुभव करती है कि बच्चा अब एक दूसरे प्रकार के मानसिक जीवन में प्रवेश कर रहा है। इस काल की भी दो उप-अवस्थाएं हैं। इसीलिए माध्यमिक स्कूलों के दो भाग होते हैं—उच्च और निम्न। निम्न भाग प्रायः तीन वर्ष तक चलता है और उच्च प्रायः चार वर्ष तक। महत्व इसका नहीं है कि प्रत्येक उप-अवस्था कितने वर्षों की होती है, हमें तो इस तथ्य में रुचि है कि उच्च शिक्षा का छह वर्ष का काल भी व्यवहार में दो भागों में विभाजित किया जाता है। कुल मिलाकर, यह अवस्था, पिछली अवस्था से अधिक कठिन और अशांत होती है। किशोरावस्था की शिक्षा में रुचि रखने वाले मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, इस काल में इतने अधिक मानसिक परिवर्तन होते हैं कि इसकी तुलना जन्म से छह वर्ष वाली अवस्था से की जा सकती है। इस आयु में चरित्र कभी स्थिर नहीं रहता। अनुशासनहीनता और विद्रोह के चिह्न दिखाई देते हैं। पहले की अपेक्षा शारीरिक स्वास्थ्य भी उतना अच्छा नहीं रहता। परंतु इन परिवर्तनों की ओर स्कूल कोई ध्यान नहीं देते। वे तो एक कार्यक्रम निर्धारित कर देते हैं और प्रत्येक बच्चे को उसी के अनुसार कार्य करना होता है—चाहे जो हो। छात्रों को एक जगह बैठ कर लंबे व्याख्यान सुनने होते हैं, आज्ञा का पालन करना होता है और वे रटने में बहुत समय बिता देते हैं।

स्कूल के इन वर्षों के बाद उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलता है। विश्वविद्यालय भी मूलतः पिछले स्कूलों से विशेष भिन्न नहीं होते। शायद केवल काम का बोझ ही बदलता है। यहां भी बोलते प्रोफेसर हैं और छात्र सुनते हैं। जिस समय मैं छात्रा थी, तब नवयुवक छात्र दाढ़ी नहीं बनाते थे। जब वे सब बड़े हॉल में एकत्रित होते थे तो उनकी लंबी दाढ़ियों और विभिन्न प्रकार की मूंछों को देख कर हंसी आती थी। परंतु इन पूर्ण वयस्कों के साथ बच्चों जैसा व्यवहार किया जाता था। उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे चुपचाप बैठ कर लेक्चर सुनें; जैसा प्रोफेसर कहते हैं वैसा ही करें; अपनी सिगरेट या ट्राम भाड़े के लिए पिता के आगे हाथ फैलाएं जो उन्हें परीक्षा में फेल होने पर सदा डांटने को तत्पर रहते थे। इन्ही पूर्ण वयस्कों को अपनी बुद्धि और अनुभव से एक दिन संसार का निर्देशन करना होगा । इन्हीं का दिमाग सर्वोच्च व्यवसायों में काम आएगा। ये ही भविष्य के डॉक्टर, इंजीनियर और वकील बनेंगे।

हम यह भी पूछना चाहते हैं कि यह डिग्री उनके कितने काम आएगी ? क्या वे आश्वस्त हैं कि इससे वे अपनी जीविका चला चकेंगे ? ऐसे डॉक्टर के पास कौन जाता है जिसने हाल ही में डॉक्टरी पास की हो ? कौन अपनी फैक्टरी का डिजाइन एक नए इंजीनियर

से बनवाएगा ? या कौन अपना मुकदमा एक ऐसे वकील को देगा जिसने अभी प्रैक्टिस शुरू की है ? इनमें हमारा विश्वास क्यों नहीं है ? इसका कारण यही है कि इन नवयुवकों ने केवल शब्दों को सुनने में ही वर्षों बिता दिए हैं और केवल सुनने से ही कोई आदमी नहीं बनता। सक्रिय कार्य और अनुभव ही युवकों को परिपक्व बनाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि नए डॉक्टरों को पहले वर्षों तक अस्पताल में काम करना होता है, नए वकीलों को पहले नामी वकीलों के दफ्तरों में अनुभव प्राप्त करना होता है और यही बात इंजीनियरों के लिए भी सच है। उसके बाद ही वे स्वतंत्र काम कर सकते हैं। यही नहीं, इन स्थानों में अभ्यास के लिए प्रवेश पाने हेतु उन्हें दूसरों की सिफारिशों और अनुग्रह का सहारा लेना पड़ता है, तथा अन्य कई अड़चनों को पार करना होता है। दुःख है कि ऐसा सभी देशों में होता है। इसका एक उदाहरण है—एक बार न्यूयार्क में सैकड़ों छात्रों ने एक जुलूस निकाला। उनका नारा था, "हम बेरोजगार और भूखे हैं। हम क्या करें ?" कोई इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाया। शिक्षा अब बस के बाहर हो चुकी है और उसका पुराना रूप बदलना कठिन है। अभी तक शिक्षा की उपलब्धि इतनी ही है कि उसने यह माना है कि व्यक्ति के विकास में विभिन्न अवस्थाएं होती हैं।

रचनात्मक काल

जब मैं छोटी थी तब दो से छह वर्ष के बच्चों पर कोई ध्यान नहीं देता था। आजकल तो विभिन्न प्रकार की अनेक संस्थाएं हैं जो स्कूल पूर्व अवस्था के—तीन से छह वर्ष तक के बच्चों को भरती करती हैं। परंतु आज भी, पहले की तरह, अधिक सम्मान विश्वविद्यालय को दिया जाता है, क्योंकि यही माना जाता है कि वहां के पढ़े लोगों की बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। परंतु जबसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवन का अध्ययन शुरू किया है, उनके विचार बदल गए हैं। कई लोगों का विचार है—जिनमें मैं भी हूं—कि जीवन का सबसे महत्वपूर्ण काल विश्वविद्यालय नहीं, वरन सबसे पहली अवस्था है : अर्थात जन्म से छह वर्ष तक का काल। यही वह समय है जब मनुष्य की बुद्धि का निर्माण होता है, जो मनुष्य का सबसे बड़ा उपकरण है। इस समय केवल बुद्धि का ही निर्माण नहीं होता वरन उसकी समस्त मानसिक शक्तियों का भी निर्माण होता है। जो मानसिक जीवन का कुछ ज्ञान रखते हैं, वे इस विचार से बहुत प्रभावित हुए हैं और अनेक ने नवजात शिशु तथा एक वर्ष के शिशु का अध्ययन शुरू कर दिया है—वही शिशु जो वयस्क व्यक्ति की रचना करता है।

इस अवस्था और इसके आश्चर्यजनक तत्वों का अध्ययन करते समय मन में कुछ-कुछ ऐसी ही भावनाएं उठती हैं जो आदि काल में मृत्यु पर चिंतन करते हुए उठती रही होंगी। मृत्यु के बाद क्या होता है ? यह प्रश्न मनुष्य के दिल को हिला देता था, परंतु अब मनुष्य के जन्म के बारे में अधिक उत्सुकता है, क्योंकि नवजात शिशु में हमें अपनी छिपी हुई प्रकृति का अविकसित रूप मिलता है।

ऐसा क्यों होता है कि मनुष्य को इतना लंबा और इतना मुश्किल शैशवकाल व्यतीत करना होता है ? अन्य किसी जानवर का बचपन इतना कठिन नहीं होता। आखिर इस काल के दौरान होता क्या है ? निस्संदेह किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य होता है। पहले कुछ नहीं था और फिर प्रायः एक वर्ष में बच्चा सब कुछ जान लेता है। ऐसा नहीं है कि बच्चे के पास जन्म के समय थोड़ा सा ज्ञान, थोड़ी सी याददाश्त और थोड़ी सी इच्छा-शक्ति हो जो समय के साथ विकसित होती जाए। बिल्ली जन्मते ही म्यांऊ-म्यांऊ कर सकती है। चिड़िया का बच्चा अंडे से निकलते ही, और नवजात बछड़ा भी, उसी तरह की आवाजें निकालते हैं जैसा वे वयस्क होने पर निकालेंगे। परंतु मानव शिशु तो गूंगा होता है। वह केवल रोकर ही अपने को व्यक्त करता है, अतः मनुष्य में ऐसा नहीं है कि कोई वस्तु पहले से उपस्थित है, उसे केवल विकसित करना है, वरन बच्चे में नए तत्वों का समावेश होता है। जहां पहले कुछ नहीं था वहां नए तत्व स्थापित होते हैं। शिशु का सबसे अलौकिक कार्य यही है कि वह कुछ नहीं से कुछ बन जाता है और हमारी बुद्धि इस पहेली से चकरा जाती है।

शिशु के लिए यह इसलिए संभव है क्योंकि उसका दिमाग हमसे भिन्न होता है। बच्चे के पास कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जो हमारे पास नहीं होतीं और उसकी उपलब्धि कोई साधारण उपलब्धि नहीं है—वह सभी कुछ है। वह न केवल अपनी भाषा का निर्माण करता है वरन अपने शरीर के अंगों में भी ऐसे परिवर्तन करता है जिससे वह इन शब्दों का उच्चारण कर सके। उसे प्रत्येक गतिविधि का शारीरिक आधार, बुद्धि के समस्त तत्वों और मानव के सभी गुणों की रचना करनी पड़ती है। ये समस्त आश्चर्यजनक कार्य जान-बूझ की कोशिश का परिणाम नहीं होते। हम वयस्क जानते हैं कि हमें क्या चाहिए। यदि हम कुछ सीखना चाहते हैं तो उसे सीखने का सचेत प्रयास करते हैं। परंतु बच्चे में ऐसा कोई संकल्प का तत्व नहीं होता। वह ज्ञान और संकल्प, दोनों का ही निर्माण करता है।

यदि हम वयस्कों की मानसिकता को सचेत कहते हैं, तो हमें बच्चों की मानसिकता को संकल्पशून्य कहना होगा। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि संकल्पशून्य मानसिकता, सचेत से निम्न कोटि की है। संकल्पशून्य मस्तिष्क में बहुत बुद्धि हो सकती है। सभी जानवरों में, यहां तक कि कीड़े-मकोड़े में भी संकल्पशून्य मस्तिष्क ही कार्य करता है। उनकी बुद्धि सचेत नहीं होती, यद्यपि बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पास विवेक के तत्व हैं। बच्चे में भी इसी तरह की संकल्पशून्य बुद्धि होती है और उसी से वह इतनी अद्वितीय प्रगति करता है।

सबसे पहले वह अपने चारों ओर की वस्तुओं को जानना शुरू करता है। बच्चा अपने वातावरण को कैसे आत्मसात करता है ? वह अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण जिन्हें हम जानते हैं कि वे उसमें हैं—ऐसा करता है। उसे ऐसी तीव्र संवेदनशीलता प्राप्त है जिससे उसे अपने चारों ओर की वस्तुओं में इतनी रुचि और उत्साह आ जाता है कि वे वस्तुएं उसके जीवन का अंग बन जाती हैं। बच्चा अपने दिमाग से अपने वातावरण को ग्रहण नहीं

करता वरन अपनी संपूर्ण जीवन शक्ति से करता है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण भाषा है। बच्चा बोलना कैसे सीखता है ? हम यही कहते हैं कि चूंकि वह सुन सकता है, अतः वह मनुष्यों की बोली सुनता है और उसी से बोलना सीखता है। ठीक है, हम इसे मान भी लें तो प्रश्न यह उठता है कि अपने चारों ओर की सैकड़ों आवाजों में से केवल मनुष्य की आवाज ही को सुनकर वह क्यों उसी तरह की आवाज निकालने का प्रयास करता है ? यदि यह सच है कि वह सुनता है और यह भी सच है कि वह केवल मनुष्य की बोली ही सीखता है, तो जरूर मनुष्य की बोली में कोई ऐसी चीज होगी जो अन्य आवाजों की अपेक्षा उसे अधिक प्रभावित करती है। यह प्रभाव इतना गहरा होता है और उसके कारण इतनी अधिक भावनाएं, इतना उत्साह, उत्पन्न होता है कि उस आवाज को दोबारा उत्पन्न करने के लिए उसके शरीर के अदृश्य तंतुओं में कंपन पैदा होने लग जाते हैं।

सोचिए कि संगीत सभा में क्या होता है। सभी सुनने वाले बड़े ध्यान से सुनते हैं और उनके सिर तथा हाथ, स्वर के साथ हिलने लगते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है ? इसका एक ही कारण है—संगीत से उपजी मानसिक प्रतिक्रिया। बच्चे के अचेतन मस्तिष्क पर भी कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। उस पर आवाजों का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसके सामने हमारी संगीत से उपजी प्रतिक्रिया कुछ भी नहीं है। उसकी जीभ, गालों और गले के छोटे वाक-तंतुओं का कंपन हमें करीब-करीब दिखाई देने लगता है। सभी हिलते हैं और उन आवाजों को निकालने का प्रयास करते हैं, जिन्होंने उसके अचेतन मस्तिष्क पर इतना प्रभाव डाला है। कैसा आश्चर्य है कि बच्चा इतने विस्तृत और सही रूप में भाषा सीख लेता है कि वह भाषा उसके मानसिक व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। बचपन में ग्रहण की गई इस भाषा को मातृभाषा कहते हैं। स्पष्ट है कि यह उन सब भाषाओं से भिन्न होती है जो वह बाद में सीखता है जैसे हमारे प्राकृतिक दांत, कृत्रिम दांतों से भिन्न होते हैं।

ऐसा कैसे होता है कि जो आवाजें पहले अर्थहीन होती हैं उन्हीं से अचानक उसके मस्तिष्क में अर्थ समझ में आने लगते हैं और विचार उत्पन्न होते हैं। बच्चे ने अपने आप केवल शब्द और उनके अर्थ ही नहीं सीखे, उसने पूरे वाक्य और वाक्यों की रचना भी स्वयं सीख ली। वाक्यों की रचना को समझे बिना हम भाषा नहीं समझ सकते। मान लीजिए कि हमने कहा, "मेज पर गिलास रखा है।" इन शब्दों से अर्थ तभी निकलते हैं जब ये इसी क्रम से रखे जाएं। यदि इसके स्थान पर हम कहें, "मेज रखा गिलास है पर" तो इसका अर्थ नहीं निकलेगा। शब्दों को व्यवस्थित रूप से रखने से ही उनके अर्थ समझ में आते हैं। यह बात भी बच्चा समझ सकता है।

ग्रहणशीलता

यह सब कैसे होता है ? यदि हम कहें कि बच्चे को बातें याद रहती हैं तो याद रखने के लिए याददाश्त का होना जरूरी है जो बच्चे में नहीं होती। उसे तो याददाश्त भी बनानी

होती है। इसके पहले कि वह यह समझे कि शब्दों की व्यवस्था से ही अर्थ निकलता है, उसमें तर्क करने की शक्ति होनी चाहिए। वह भी बच्चे में नहीं होती। तर्क करने की शक्ति अर्थात विवेक का भी वह निर्माण करता है।

बच्चे के दिमाग में जो योग्यता है वह हमारे दिमाग में नहीं है। शून्य से भाषा को विकसित करने के लिए एक दूसरे प्रकार की मनोवृत्ति चाहिए। यह बच्चे में होती है। उसकी बुद्धि हमारी बुद्धि से भिन्न होती है।

हम कह सकते हैं कि हम अपने दिमाग का उपयोग करके ज्ञान ग्रहण करते हैं। परंतु बच्चे, अपने मानसिक जीवन में ज्ञान का सीधा समावेश करते हैं। केवल जिंदा रहते हुए वह अपनी मातृभाषा सीख लेता है। मानो उसके अंदर कोई मानसिक रासायनिक प्रक्रिया चल रही हो। इसके विपरीत, हम विभिन्न प्रकार के अनुभवों को अपने दिमाग में एकत्रित करते जाते हैं, परंतु उन्हें आत्मसात नहीं करते। जैसे घड़ा अपने अंदर भरे हुए पानी से पृथक रहता है, उसी तरह हम भी अपने अंदर एकत्रित अनुभवों से पृथक रहते हैं। परंतु बच्चे में वे अलग नहीं रहते। उसके दिमाग में अनुभव अंकित नहीं होते, वे उसका अभिन्न अंग बन जाते हैं : वे उसके दिमाग का निर्माण करते हैं। बच्चा अपने चारों ओर जो भी पाता है, उससे अपने दिमाग की स्वयं रचना करता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति को हमने ग्रहणशील मन कहा है।

हमारे लिए शायद बच्चे की इस मानसिक शक्ति को समझना बहुत कठिन है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह बहुत महत्वपूर्ण है। कितना अच्छा होता कि यह असाधारण योग्यता, जो बचपन में हमारे पास थी, बाद में भी बनी रहती। हम हंसते-खेलते पूरी जटिलताओं समेत नई भाषा सीख लेते। कितना अच्छा होता कि हम केवल जीवित रहने मात्र से ज्ञान प्राप्त कर लेते और हमें इसके लिए उतना ही प्रयत्न करना पड़ता जितना हम सांस लेने या खाना खाने के लिए करते हैं। शुरू में तो हमें कुछ पता नहीं चलेगा। फिर अचानक वह चीज जो हमने सीखी थी, हमारे दिमाग में ज्ञान के सितारे की तरह दिखाई देने लगेगी और हमें प्रतीत होगा कि ये विचार हमारे व्यक्तित्व में समा गए हैं।

यदि मैं आपसे कहूं कि एक ऐसी दुनिया है जहां स्कूल या शिक्षक नहीं हैं, जहां पढ़ाई नाम की कोई चीज नहीं है, फिर भी वहां के निवासी केवल जीवित रहने मात्र से चलते-फिरते सब बातें सीख लेते हैं और वे उनके मस्तिष्क का अभिन्न अंग बन जाती हैं तो आप यही कहेंगे कि मैं गप लगा रही हूं। परंतु जो बात आपको गप लग रही है यहां वही वास्तविकता है। बच्चे के सीखने का यही तरीका है। वह इसी मार्ग से चलता है। बिना एहसास किए कि वह कुछ सीख रहा है, वह सब कुछ सीख लेता है और इस तरह प्यार व आनंद के मार्ग से, धीरे-धीरे, अवचेतन से चेतन की ओर जाता है।

हमें यह बहुत बड़ी उपलब्धि मालूम होती है कि मानव ने इतना ज्ञान प्राप्त किया, उसे इस ज्ञान का बोध है, और उसके पास मानव मस्तिष्क है। परंतु हमें इसका मूल्य चुकाना पड़ता है क्योंकि जैसे ही हमें इसका बोध होना शुरू होता है, वैसे ही हमें नया ज्ञान प्राप्त

करने के लिए मेहनत और प्रयास करना पड़ता है।

बच्चे की एक दूसरी बड़ी उपलब्धि है अंगों का गतिशील होना। जन्म होने के बाद वह महीनों तक अपने बिछौने पर पड़ा रहता है। परंतु कुछ समय बाद उसे देखें तो वह चलने लगता है तथा अनेक काम करने लगता है। वह अपने को व्यस्त रखता है और उसी में खुश रहता है। वह आगे की नहीं सोचता, वर्तमान में रहता है। प्रतिदिन उसकी गतिशीलता बढ़ती जाती है। उसको सभी जटिलताओं सहित भाषा का ज्ञान हो जाता है। साथ ही अपनी जरूरत के अनुसार चलने-फिरने की क्षमता भी उसमें आ जाती है। लेकिन यही सब कुछ नहीं है। और भी बहुत सी बातें वह आश्चर्यजनक गति से सीखता है। उसके चारों ओर जो कुछ भी होता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। आदतें, परंपराएं, धर्म आदि उसके मस्तिष्क में जड़ जमा कर बैठ जाते हैं।

बच्चे द्वारा अर्जित क्रियाओं (गतिशीलता) में भी एक व्यवस्था होती है, अर्थात प्रत्येक क्रिया, विकास की विशेष अवस्था के फलस्वरूप प्रारंभ होती है। इसके पहले कि वह गतिशील हो वह अपने वातावरण को आत्मसात कर लेता है। उसके अंदर एक अचेतन मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो चुका होता है और अपना पहला कदम उठाते समय उसे इसका बोध होने लगता है। यदि आप एक तीन वर्षीय बच्चे को ध्यान से देखें, तो आप को वह हर समय किसी न किसी चीज से खेलता हुआ दिखाई देगा। इसका यह अर्थ है कि उसने पहले जो बातें अचेतन रूप से ग्रहण की थीं, उनका अब वह स्वयं सचेत बोध करने का प्रयास कर रहा है। खेल की आड़ में वह उन वस्तुओं को हाथ में लेकर उनका परीक्षण करता है जिनको उसने अभी तक अचेतन मस्तिष्क से ग्रहण किया था। वह अब पूर्ण रूप से सचेत हो जाता है और अपनी गतिविधियों से भविष्य के मानव का निर्माण करता है। कोई रहस्यमयी अद्भुत शक्ति उसका संचालन करती है और धीरे-धीरे उसका विकास होता है। इस तरह वह अपने हाथों से, अनुभव द्वारा, पहले खेल में और बाद में काम करके पूर्ण मनुष्य बनता है। हाथ, मनुष्य की बुद्धि के उपकरण होते हैं। इन प्रयोगों के फलस्वरूप बच्चे का अपना अलग व्यक्तित्व विकसित होता है, जो पहले की अपेक्षा सीमित होता है, क्योंकि ज्ञान का संसार सदा से अचेतन और अवचेतन संसार से अधिक सीमित होता है।

वह जीवन में प्रवेश करता है और अपना अदृश्य कार्य प्रारंभ कर देता है—अर्थात धीरे-धीरे अपने देश और समय के अनुकूल अपने व्यक्तित्व को ढालता है। वह क्रमशः अपने दिमाग की रचना करता है और उसके दिमाग में याददाश्त, समझने की शक्ति और सोचने की क्षमता विकसित हो जाती है। छह वर्ष का होते-होते वह इतना सब प्राप्त कर लेता है। तब अचानक हमारे शिक्षा शास्त्रियों में यह विचार उदय होता है कि इस जीव में समझ भी और हमारी बात सुनने का धीरज भी है, यद्यपि पहले वह हमारी बात नहीं समझ सकता था। पहले वह हमसे भिन्न संसार में रहता था।

हमारी पुस्तक इस प्रथम अवस्था के बारे में है। बच्चों के प्रारंभिक वर्षों के मनोविज्ञान के अध्ययन से इतनी आश्चर्यजनक बातें पता चलती हैं कि कोई भी उन्हें समझने के बाद

अत्यंत प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हम वयस्कों का काम शिक्षा प्रदान करना नहीं है वरन शिशु की सहायता करना है जिससे वह अपने मस्तिष्क का विकास कर सके। कितना अच्छा हो यदि हम अपने को तैयार रखें, बच्चों के साथ समझदारी का व्यवहार करें, उसकी महत्वपूर्ण जरूरतों को समझें और इस प्रकार बच्चे के इस काल को और बढ़ा दें जिसमें उसके अंदर ग्रहण करने की क्षमता होती है। यदि हम मनुष्य के अनायास ज्ञान ग्रहण करने में सहायक हों तो हम मानव जाति का कितना उपकार करेंगे। मनुष्य को भरपूर सूचना भी मिल जाए पर उसे इसका एहसास न हो कि वह कैसे मिल गई—मानो कोई जादू हो गया हो। और सच में ही प्रकृति के सभी कार्य रहस्यमय और विस्मयकारी हैं।

यह खोज कि बच्चे के दिमाग में स्वयं ग्रहण करने की योग्यता होती है, शिक्षा में एक क्रांति उत्पन्न करती है। अब हमें यह बात समझ में आ जाएगी कि मनुष्य के विकास की प्रथम अवस्था, जिसमें चरित्र का निर्माण होता है, सबसे महत्वपूर्ण क्यों है। बच्चे को, और किसी आयु में इतनी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। उसके रचनात्मक कार्य में कोई भी रुकावट उसके द्वारा पूर्णता प्राप्त करने की संभावना को कम करती है। अतः हमें बच्चे की सहायता करनी चाहिए इसलिए नहीं कि वह छोटा असहाय जीव है; वरन इसलिए कि उसके पास विशाल रचनात्मक शक्तियां हैं जो इतनी सुकोमल होती हैं कि उन्हें स्नेह तथा सविवेक सुरक्षा की जरूरत होती है। हमें इन्हीं शक्तियों की सहायता करनी है—बच्चों की नहीं, और न उसकी कमजोरियों की। जब हमारी समझ में यह आ जाएगा कि ये शक्तियां उसके अचेतन मस्तिष्क की हैं, जो कार्य द्वारा और संसार के अनुभवों द्वारा चेतन बनेंगी, तभी हमें यह समझ में आएगा कि शिशु का मस्तिष्क हमारे मस्तिष्क से भिन्न है। हमें यह भी समझ में आएगा कि हमारे मौखिक आदेशों का उस पर कोई असर नहीं पड़ता है, और न हम उसके अचेतन से चेतन बनने की प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः हस्तक्षेप कर सकते हैं—यही प्रक्रिया जो मानवीय क्षमता का निर्माण करती है। तब शिक्षा की समस्त अवधारणा में परिवर्तन आ जाएगा। तब शिक्षा का उद्देश्य बच्चे के जीवन की, तथा मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास की सहायता करना होगा। तब शिक्षा का अर्थ यह नहीं होगा कि हम अपनी बातें और विचार जबरदस्ती बच्चे पर थोपें।

शिक्षा का यही नया मार्ग है—मस्तिष्क के विकास में उसकी सहायता करना और उसकी शक्तियों तथा क्षमताओं को सुदृढ़ बनाना।

अध्याय चार

नई दिशा

आधुनिक जीव-विज्ञान अब एक नया मोड़ ले रहा है। किसी समय सारा शोध वयस्कों के संसार तक ही सीमित था। जानवरों या पेड़-पौधों का अध्ययन करते समय, वैज्ञानिक सदा पूर्ण विकसित वयस्क नमूने का ही उपयोग करते थे। यही बात मानव के अध्ययन में भी थी। चाहे नैतिकता से संबंधित समस्या हो या समाज के संगठन की, उसमें केवल वयस्कों का ही समावेश होता था। एक बहुचर्चित विषय था—मृत्यु। परंतु इसमें आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि वयस्क व्यक्ति, जीवन पार करता हुआ मृत्यु की ओर ही जाता है। नैतिकता की सारी समस्या या तो कानून की थी या बड़ों के बीच सामाजिक संबंधों की। परंतु अब विज्ञान ने विपरीत दिशा में जाना शुरू कर दिया है। अब अध्ययन चाहे आदमी का हो या अन्य प्रकार के जीवों का, अधिकांश नमूने छोटी आयु के जीवों के या उनके उद्गम स्रोतों के होते हैं। आजकल भ्रूणविज्ञान (इंब्रायलॉजी) और कोशिका विज्ञान (सायटोलॉजी)—कोशिकाओं का अध्ययन—प्रचलन में हैं। इनके अनुसंधान से नए तथ्य प्रकट हुए हैं जिनसे नया दर्शन उत्पन्न हो रहा है। चूंकि यह दर्शन तथ्यों पर आधारित है और पूर्णतः सैद्धांतिक नहीं है, अतः इसे अधिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है। इस दर्शन का हर चरण प्रयोगशाला की खोजों पर आधारित है।

भ्रूणविज्ञान हमें वास्तव में जीवन के उस काल के बारे में बताता है जिसमें वयस्क मानव का उद्भव हुआ था। उस प्रारंभिक अवस्था में बहुत सी ऐसी बातें पाई जाती हैं जो वयस्क अवस्था में नहीं होतीं या यदि होती भी हैं तो भिन्न प्रकार की अवस्था में होती हैं। यह विज्ञान एक ऐसे जीवन काल को प्रदर्शित करता है जिसके बारे में प्राचीन विचारकों को नहीं मालूम था और इनसे बच्चे के व्यक्तित्व पर नया प्रकाश पड़ता है।

आइए हम एक बहुत साधारण विचार से प्रारंभ करें। वयस्क की तरह, बच्चा, मृत्यु की ओर अग्रसर नहीं हो रहा है। वह तो जीवन में प्रवेश कर रहा है। उसका कार्य संपूर्ण गुणों से संपन्न मानव का निर्माण है। वयस्क के पूर्ण विकसित होने पर बच्चा अंतर्धान हो जाता है। अतः बच्चे का संपूर्ण जीवनकाल एक श्रेष्ठता की ओर, अधिक पूर्णता की ओर, अग्रसर होने में व्यतीत होता है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि बच्चा, अपने को पूर्ण बनाने का यह कार्य, आनंद और रुचि पूर्वक करेगा।

बच्चे का जीवन ऐसा है जिसमें अपना कर्तव्य करने में सुख और आनंद प्राप्त होता है। वयस्कों के लिए रोज के काम अक्सर उदासी और निराशा पैदा करते हैं।

बच्चे के लिए जीवन की प्रक्रिया का अर्थ है—अपने व्यक्तित्व का विकास करना। वह जितना बड़ा होता जाता है, उतनी ही उसकी शक्ति और बुद्धि विकसित होती जाती है। यह बुद्धि और शक्ति, वह अपने कार्य और गतिविधियों से अर्जित करता है। इसके विपरीत, वयस्क के जीवन में आयु बढ़ने से उलटा ही असर होता है। एक बात और भी है—बचपन में कोई प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं होती। क्योंकि बच्चे के काम में—अर्थात मानव निर्माण में—कोई अन्य उसका हाथ नहीं बंटा सकता या हम कह सकते हैं कि बच्चे के बढ़ने का काम कोई और नहीं कर सकता।

पर यदि हम बच्चे के जीवन में इससे भी पूर्व की अवस्था में जाएं अर्थात उसके जन्म से पूर्व की अवस्था—तो हम पाएंगे कि उस समय भी वह वयस्कों के संपर्क में रहता है, क्योंकि वह अपना भ्रूण जीवन मां के गर्भ में व्यतीत करता है। उसके भी पूर्व वह प्रथम कोशिका में था जो वयस्कों से प्राप्त दो कोशिकाओं के मिलन से उत्पन्न हुई थी। अतः चाहे हम मानव जीवन की उत्पत्ति को देखें, या बच्चे को बड़े होते हुए, हम सदा वयस्कों को निकट ही पाएंगे।

बच्चे का जीवन एक ऐसी रेखा है जो दो वयस्क पीढ़ियों को जोड़ती है। उसका निर्माण एक वयस्क से प्रारंभ होता है और दूसरे वयस्क में परिपूर्ण होता है। उसका जीवन वयस्कों के जीवन के अति सन्निकट चलता है और उसके अध्ययन से हमें कई नए रोचक तथ्य पता चलते हैं।

जीवन के दो चेहरे

प्रकृति सदा बच्चे की सुरक्षा की व्यवस्था करती है। प्रेम ही उसके जन्म का कारण है। प्रेम ही उसका स्वाभाविक स्रोत है। जन्म के बाद उसे अपने माता-पिता की स्नेहपूर्ण देखरेख मिलती है। अर्थात वह कलह के वातावरण में पैदा नहीं होता और संसार से उसकी सुरक्षा की यही पहली व्यवस्था है। प्रकृति ने मां-बाप के अंदर बच्चे के प्रति प्रेम उत्पन्न किया है। यह कृत्रिम प्रेम नहीं होता। यह प्रेम तर्क या विवेक पर आधारित नहीं होता है जैसे मानवता को एकता के सूत्र में बांधने के लिए भाईचारे की भावना को उत्पन्न किया जाता है। बचपन में हमें जो प्रेम मिलता है वही बड़ों की दुनिया में प्रेम का आदर्श माना जाता है। इस प्रेम की प्रकृति ही ऐसी है कि वह त्याग की प्रेरणा देती है, सेवा भाव को प्रोत्साहित करती है और अपने अहं को दूसरों के आगे समर्पण करने को प्रेरित करती है। सभी मां-बाप अपने बच्चों के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं। बच्चों के प्रति यह अनुराग उनके लिए स्वाभाविक है। उन्हें इससे आनंद प्राप्त होता है। उन्हें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वे कोई त्याग कर रहे हैं। ऐसा

कभी कोई नहीं कहता, "उस बेचारे को देखो, उसके दो बच्चे हैं।" इसके विपरीत, उसे सब भाग्यवान ही मानते हैं। मां-बाप अपने बच्चों के लिए जो मेहनत करते हैं, उससे उन्हें सुख मिलता है। वे गुण, जिन्हें वयस्क बहुत आदर्श मानते हैं जैसे, त्याग, निःस्वार्थ सेवा; वे बच्चों के कारण ही जाग्रत होते हैं और परिवार के बाहर शायद ही कहीं दिखाई दें। ऐसा कौन व्यापारी है जो किसी संपत्ति के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी से कहे, "आप ही ले लीजिए। मैं आपके लिए इसे छोड़ देता हूं।" परंतु मां-बाप भूखे होने पर भी बच्चे का पेट भरने के लिए खुशी-खुशी अपना भोजन छोड़ देंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन जीने के दो ढंग हैं और वयस्क दोनों ही तरह से जीता है। एक मां-बाप की तरह और दूसरा समाज के सदस्य की तरह। इन दोनों में, बच्चों के साथ जीना श्रेष्ठतर है क्योंकि उनके संपर्क से हमारे अंदर का सर्वोत्तम पक्ष बाहर प्रकट होता है।

जानवरों में भी जीवन के ये दो चेहरे स्पष्टता से दिखाई देते हैं। खूंखार से खूंखार जानवर भी अपने बच्चों के पास आकर बहुत कोमल और शांत हो जाता है। शेर और चीते, अपने बच्चों के साथ कितना स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं। शर्मीला हिरन अपने बच्चे की सुरक्षा करते समय कितना खूंखार हो जाता है। बच्चों के सान्निध्य में उनकी सहज प्रकृति उलटी हो जाती है मानो मातृत्व और पितृत्व से उन्हें विशेष गुण प्राप्त होते हैं जो उनकी सामान्य प्रवृत्ति को दबा देते हैं। शर्मीले जानवरों में मनुष्य से भी अधिक आत्म सुरक्षा की मूल प्रवृत्ति होती है। परंतु बच्चों की सुरक्षा करते समय वह प्रवृत्ति परिवर्तित होकर आक्रामक बन जाती है।

चिड़ियों में भी ऐसा होता है। खतरे की आशंका होने पर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उड़ जाने की है। परंतु यदि उनके साथ बच्चे हों, तब वे अपना घोंसला नहीं छोड़तीं। वे बिना हिले-डुले, पंखों से घोंसले को ढंके, बैठी रहती हैं जिससे सफेद अंडे अंदर से चमकें नहीं। कुछ चिड़ियां घायल होने का ढोंग रच कर, आक्रमणकारी को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, यद्यपि इससे उन्हें खतरा रहता है। इस तरह वे आक्रमणकर्ता का ध्यान बच्चों की ओर से हटाने में सफल होती हैं। जानवरों के अनेक क्षेत्रों में हम यही बात देखते हैं। इनका यह अर्थ है कि उनमें दो प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्तियां होती हैं—एक तो आत्म सुरक्षा की और दूसरी, अपने बच्चों की सुरक्षा की। महान जीव वैज्ञानिक जे. एच. फेबर ने इसके बहुत रोचक उदाहरण दिए हैं। वे अपनी पुस्तक के अंत में कहते हैं कि मातृ प्रेम के कारण ही जानवरों की विभिन्न जातियां बची हुई हैं। यह सच है, क्योंकि जीवित रहने के संघर्ष में अपनी सुरक्षा के लिए जानवर, विविध प्रकार के हथियार अपने में विकसित कर लेते हैं। परंतु बच्चे अपनी सुरक्षा कैसे करते, क्योंकि उनमें तो ये हथियार विकसित नहीं हो पाते हैं। शेर के बच्चों के दांत नहीं होते और चिड़िया के बच्चों के पंख नहीं होते। अतः जीवन को सुरक्षित रखने के लिए तथा जाति को बचाने के लिए सर्वप्रथम यही आवश्यक है कि मां-बाप अपने बच्चों की रक्षा करें, जो अभी अपनी रक्षा करने योग्य नहीं हो पाए हैं।

यदि केवल शक्तिशाली की विजय पर ही जातियां बची रहतीं, तो सभी जातियां विनष्ट हो गई होतीं। अतः जातियों के सुरक्षित बने रहने का असली कारण है—वयस्कों का बच्चों के प्रति प्रेम।

जीवन के विकास के इतिहास में सबसे रोमांचकारी भाग वही है जब बुद्धि के संकेत मिलने शुरू होते हैं जो छोटे से छोटे जीव में दिखाई देते हैं। साधारण से साधारण जीव में आत्म सुरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उनमें अपनी विशेष प्रकार की बुद्धि भी होती है, परंतु इस बुद्धि का प्रयोग मुख्यतः बच्चों की सुरक्षा के लिए किया जाता है। इन जीवों में आत्म सुरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति में विविधता कम होती है और बुद्धि भी अपेक्षाकृत कम होती है। वे अधिक विस्तार की सूक्ष्मता में नहीं जा सकते। फेबर ने कीड़ों-मकोड़ों के अपने बच्चों के प्रति व्यवहार पर पूरे सोलह ग्रंथ लिखे हैं।

यदि हम विविध प्रकार के जीवों का अध्ययन करें तो हमें पता चलता है कि उन्हें जीवन में दो प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की आवश्यकता होती है। यदि यही बात मनुष्यों के लिए कही जाए तो बच्चों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है—चाहे वह सामाजिक कारण से ही हो—क्योंकि बच्चों का प्रभाव बड़ों पर भी पड़ता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव जीवन का समुचित रूप से अध्ययन करने के लिए हमें उसके उद्गम से प्रारंभ करना होगा।

अध्याय पांच

सृष्टि का चमत्कार

हर युग में विचारकों को यह सचाई विस्मित करती रही है कि जो पहले था ही नहीं, वह कैसे बाद में पुरुष या नारी बन जाता है, जिसमें सोचने की शक्ति भी होती है और अपने स्वतंत्र विचार भी होते हैं।

यह कैसे हो जाता है ? इतने आश्चर्यजनक और जटिल अंग प्रत्यंगों का निर्माण कैसे हो जाता है ? आंखें, जीभ, दिमाग, तथा मनुष्य के अन्य अनगिनत अंग कैसे बन जाते हैं ? अठारहवीं सदी के आरंभ के वैज्ञानिक—बल्कि कहना चाहिए कि उस जमाने के दार्शनिक—पूर्व निर्माण में विश्वास करते थे। वे सोचते थे कि बीज-कोशिका में एक छोटे आकार का बना बनाया मानव होता है। वह इतना छोटा होता है कि आंखों से दिखाई नहीं देता; पर उन्हें विश्वास था कि वह होता अवश्य है और बाद में बढ़कर बड़ा हो जाता है। सभी स्तनपायी जीवों के बारे में उनकी यही धारणा थी। इस विषय में दो विचारधाराएं थीं। एक का मानना था कि यह अति लघु मानव पुरुष की बीज कोशिका में उपस्थित होता है। दूसरे पक्ष का विचार था कि वह स्त्री की कोशिका में होता है। इसी प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ करता था।

जी.एफ. वूल्फ नामक एक डॉक्टर ने माइक्रोस्कोप (जिसका आविष्कार हो चुका था) द्वारा खुद इस रचना प्रक्रिया के रहस्य को देखने की कोशिश की। उसने मुर्गी के अंडे की उर्वरक बीज-कोशिकाओं का अध्ययन किया। उसके निष्कर्ष चकित करने वाले थे। उसके अनुसार, पूर्व निर्मित कुछ नहीं होता। जीव स्वयं अपनी रचना करता है। उसने माइक्रोस्कोप से स्वयं जो रचना प्रक्रिया देखी थी, उसी का वर्णन किया। सर्वप्रथम एक बीज-कोशिका रहती है, जो दो में विभाजित हो जाती है। इन दो के फिर चार भाग हो जाते हैं। (देखिए चित्र संख्या 1) और इसी तरह कोशिका के बार-बार विभाजित होने से "नवीन जीव" निर्मित होता है।

स्पष्ट है कि 'पूर्व निर्माण' में विश्वास रखने वाले वैज्ञानिक इस पर बहुत गुस्सा हुए। यह तो अज्ञानता है, धृष्टता है। इससे धर्म का सम्मान घटेगा। बेचारे वूल्फ को इतनी मुसीबत हो गई कि उसे देश छोड़ कर भागना पड़ा। इस तरह, आधुनिक भ्रूणविज्ञान के जन्मदाता ने अपना अंतिम समय देशनिकाले में ही व्यतीत किया और उसकी मृत्यु भी देश के बाहर ही हुई। यद्यपि माइक्रोस्कोपों के निर्माण में विस्तार हुआ, पर अगले पचास वर्षों तक, किसी

वैज्ञानिक की हिम्मत नहीं हुई कि वह इस विषय पर अनुसंधान करे। हां, अग्रगामी वैज्ञानिक वूल्फ ने जो बातें दावे के साथ कही थीं, उनका धीरे-धीरे प्रभाव अवश्य पड़ा। अतः जब एक दूसरे वैज्ञानिक के.ई. फॉन बेयर ने वूल्फ के प्रयोगों को फिर से दोहराया, और उन्हें सही पाया, तो सबने उसकी नई खोज को स्वीकार कर लिया। इस तरह विज्ञान की एक नई शाखा का जन्म हुआ—''भ्रूणविज्ञान''।

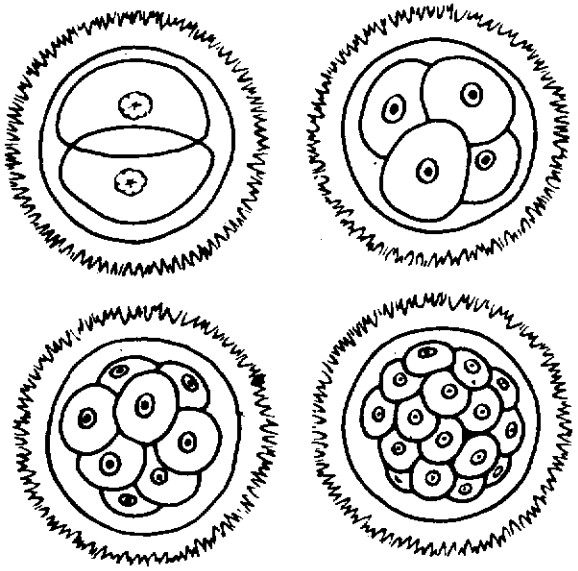

चित्र 1. बीज कोशिका की वृद्धि

भ्रूणविज्ञान निस्संदेह विज्ञान की एक बहुत रोचक शाखा है। इसमें शरीर रचना विज्ञान (एनाटॉमी) की तरह पूर्ण विकसित शरीर के अंगों का अध्ययन नहीं होता और न ही शरीर क्रिया विज्ञान (फिजियोलॉजी) की तरह उनके कार्य करने के तरीकों का अध्ययन होता है। यह रोग विज्ञान (पेथोलॉजी) की तरह बीमारियों का अध्ययन भी नहीं करता। इसका उद्देश्य रचना प्रक्रिया की उद्घाटित करना है : किस तरह एक काया, जो पहले थी ही नहीं, इस संसार में प्रवेश करने के लिए रूप धारण करती है।

प्रत्येक जंतु, स्तनधारी पशु, और प्रकृति की सबसे अभूतपूर्व रचना—मानव—एक अकेली प्रथम कोशिका से प्रारंभ होता है। यह कोशिका देखने में एक साधारण आदि कोशिका की तरह गोल आकार की होती है जिसमें ऐसी कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती जो उसे अन्य कोशिकाओं से भिन्न बनाती हो। ये बीज गर्भित कोशिकाएं (जर्मीनेटिव सेल्स) बहुत छोटी

होती हैं। आदमी की ऐसी कोशिका करीब एक मिलीमीटर के दसवें भाग के बराबर होती है। इसके आकार का अंदाज लगाने के लिए एक बहुत नुकीली पेंसिल से एक बिंदु बनाइए। और उसके बगल में बिलकुल पास-पास दस बिंदु और बनाइए। आप चाहे कितने ही छोटे बिंदु बनाएंगे, फिर भी वे सब मिलकर एक मिलीमीटर से अधिक जगह नहीं घेर पाएंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य को जन्म देने वाली कोशिका कितनी छोटी होती है। इस कोशिका का विकास अपनी जननी से अलग होता है, क्योंकि यह एक प्रकार की संपुटिका (कैप्सूल) में बंद और सुरक्षित रहती है जो इसे धारण करने वाले वयस्क के शरीर से इसे पृथक रखती है।

सभी किस्म के जानवरों में ऐसा ही होता है। कोशिका अपनी जननी के शरीर से ऐसे पृथक रहती है कि उसके द्वारा जिस पिंड का जन्म होता है, वह सही में बीज-कोशिका की ही रचना होता है। मनन के लिए कितना अथाह विषय है। बड़े से बड़ा आदमी चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो, चाहे वह सिकंदर हो या नेपोलियन, दांते हो या शेक्सपियर, गांधी हो या साधारण आदमी—सबकी उत्पत्ति इन अति सूक्ष्म कोशिकाओं से होती है।

यदि हम एक बीज-कोशिका को माइक्रोस्कोप के नीचे रख कर देखें तो इसमें बहुत से छोटे-छोटे कण दिखाई देंगे। चूंकि ये कण किसी रसायन से सरलता से रंगे जा सकते हैं, अतः इन्हें *क्रोमोजोम* कहते हैं। अलग-अलग जाति के जीवों में क्रोमोजोम की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। आदमी में 46 क्रोमोजोम होते हैं। किसी जन्तु में 15, और किसी में 13 होते हैं। किसी जाति की स्थायी विशेषता उसके क्रोमोजोम की संख्या है। इन्हीं के द्वारा वंशानुगत विशेषताएं संचारित होती हैं। अब नए प्रकार के, अधिक शक्तिशाली माइक्रोस्कोप बन गए हैं जिन्हें अतिसूक्ष्मदर्शी (अल्ट्रामाइक्रोस्कोप) कहते हैं। इनकी सहायता से पता चला है कि प्रत्येक क्रोमोजोम एक प्रकार का डिब्बा है जिसमें छोटे-छोटे करीब 100 दानों की एक माला रखी रहती है। ये क्रोमोजोम जब खुलते हैं तो ये दाने बाहर निकल आते हैं और कोशिका में करीब 4000 दाने फैल जाते हैं। इन्हें जीन कहते हैं। (देखें चित्र-2) सभी इसे स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक जीन के अंदर कोई न कोई वंशानुगत विशेषता जमा रहती है, जैसे नाक की शकल या बालों का रंग।

यह स्पष्ट है कि इस सच्चाई तक केवल माइक्रोस्कोप की सहायता से नहीं पहुंचा जा सकता था। यह तो मनुष्य के रचनात्मक मस्तिष्क की देन है। वह जो कुछ देखता, सुनता है, उसे चित्रों के रूप में अंकित करके दिमाग में जमा नहीं रखता, वरन वे उसकी कल्पना शक्ति को प्रेरणा देते हैं। इसी कल्पना शक्ति की उड़ान से, तथा अपनी बुद्धि के उपयोग से, वह अनुमान लगा सकता है कि क्या हो रहा है। मस्तिष्क की ये ही शक्तियां, वैज्ञानिकों को प्रेरणा प्रदान करती रही हैं। यदि हम समस्त जीवों की उत्पत्ति से संबंधित धारणाओं पर विचार करें तो हम देखेंगे कि विज्ञान के सुस्पष्ट कथनों में रहस्यवाद का भी कुछ अंश है। इस छोटी सी, प्रायः अदृश्य बीज-कोशिका में समस्त पूर्व कालों की वंशानुगत परंपरा छिपी हुई है। इस सूक्ष्म बिंदु में समस्त मानव अनुभव समाया हुआ है—मानव जाति के निर्माण का समस्त इतिहास।

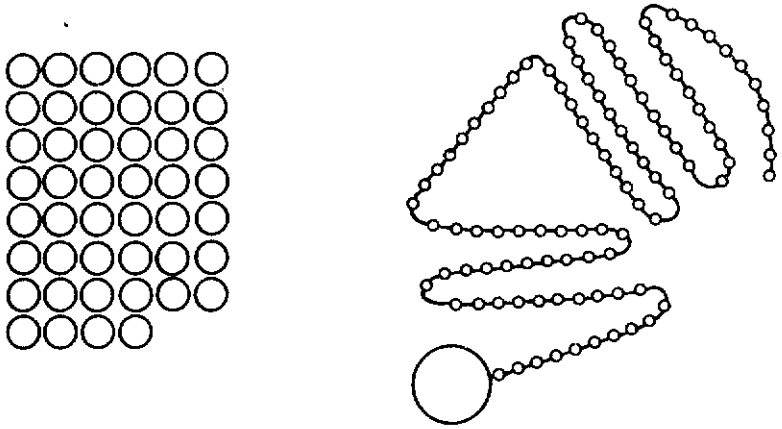

चित्र 2. एक पंक्ति में बनी सौ जीनों की एक माला। ये जीन क्रोमोजोम के अंदर रहते हैं। क्रोमोजोमों की कुल संख्या 46 होती है। इन्हें बायीं ओर बनी ज्यामितीय आकृति में दिखाया गया है।

इसके पहले कि आदि कोशिका में कोई परिवर्तन दिखाई दे और वह अपने को विभक्त करने का कार्य शुरू करे, ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी जीनों ने आपस में कोई समझौता कर लिया हो। उन सबमें एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा होती है, जिसके फलस्वरूप एक वांछित परिणाम निकलता है। कोशिका में जितने जीन हैं वे सब नए जीव के उत्पादन में भाग नहीं ले सकते। इस प्रतियोगिता में जो जीन सफल होते हैं, वे ही जीव की सृष्टि करते हैं। उनमें "प्रभावी विशेषताएं" (डोमीनेंट कैरेक्टरिस्टिक्स) होती हैं।

अन्य जीन शांत होते हैं। उनमें अप्रभावी विशेषताएं होती हैं। बीज-कोशिका के रचना कार्य की तैयारी के लिए जो अद्‌भुत घटना होती है उसे सबसे पहले मेंडल ने समझा था। अपने प्रसिद्ध और क्रांतिकारी प्रयोग के आधार पर उसने यह वैज्ञानिक परिकल्पना व्यक्त की थी। उसने एक ही जाति के दो पौधों का संकरण किया। एक में लाल रंग और दूसरे में सफेद रंग के फूल थे। इनसे तैयार किए गए पौधे के बीज बोने से तीन पौधे तो लाल फूल वाले निकले और एक पौधा सफेद फूल का। चार में से तीन पौधों में लाल रंग के प्रभावी जीनों ने सफेद रंग के अप्रभावी जीनों को हटा दिया था। यह सरलता से दिखाया जा सकता है कि प्रतिद्वंद्वी विशेषताओं के बीच संघर्ष में, परिणामों का अनुपात गणितीय संचय के नियमों के अनुसार होना अनिवार्य है।

जीन के संभावित संचयों के गणितीय अनुमानों पर आधारित अध्ययन जो इसके बाद हुए हैं, काफी जटिल हैं। परंतु निष्कर्ष यही निकलता है कि किसी भी बीज से, कुछ परिस्थितियों में, विशिष्ट गुण वाले का निर्माण हो सकता है जिसकी सूरत, शक्ल, ताकत आदि उसके जीन की प्रभुत्व वाली प्राथमिकताओं पर निर्भर करती है।

इन्हीं, एक दूसरे से भिन्न संचयों के कारण, प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है। इसीलिए हम देखते हैं कि एक ही परिवार में, एक ही मां-बाप के, सब बच्चे शक्ल, सूरत, स्वास्थ्य और बुद्धि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

ऐसे अध्ययनों में विशेष रुचि ली जा रही है, जो सर्वोत्तम संतान तैयार करने की अनुकूल परिस्थिति बता सकें और इसी से एक नए विज्ञान का जन्म हुआ है जिसे सुजनन विज्ञान (यूजेनिक्स) कहते हैं।

फिर भी जीन और उनके संचयों का यह अध्याय ऐसा है जो अधिकांशतः अनुमानों पर आधारित है। संचयन हो जाने के बाद की घटनाओं के अध्ययन में इसकी कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं है।

इसके बाद ही शरीर निर्माण की वास्तविक जैविक प्रक्रिया प्रारंभ होती है। इसमें कोशिका विभक्त होती है। यह इतनी स्पष्ट और सरल प्रक्रिया है कि वूल्फ ने माइक्रोस्कोप से इसे पहली बार देख कर ही भ्रूण के विकास की क्रमशः सभी अवस्थाओं का वर्णन कर दिया था।

सबसे पहले कोशिका दो बराबर भागों वाली कोशिकाओं में विभक्त होती है। ये दोनों भाग आपस में जुड़े रहते हैं। इन दो के चार होते हैं, फिर चार के आठ, और आठ के सोलह, और इसी तरह यह प्रक्रिया चलती रहती है। अंत में सैकड़ों कोशिकाएं तैयार हो जाती हैं। ऐसा लगता है मानो कोई बुद्धिमान, मकान बनाने के पहले, पर्याप्त ईंटें जुटाने का इंतजाम कर रहा है। उसके बाद सब कोशिकाएं तीन विशिष्ट तहों में सजा दी जाती हैं, मानो कोई दीवाल बनाई जा रही है। यह तुलना हक्सले ने की है। उसके बाद की प्रक्रिया सभी जानवरों में एक सी होती है। सबसे पहले कोशिकाएं मिल कर एक रिक्त गोलाकार बनाती हैं जैसे रबर की गेंद हो। इसे *मोरूला* कहते हैं। फिर यह गेंद एक ओर से अंदर की ओर मुड़ जाती है जिससे आमने सामने दो दीवालें हो जाती हैं। अंत में, एक तीसरी परत, दोनों परतों के बीच में रिस कर प्रवेश कर जाती है। इस तरह तीन दीवालें तैयार हो जाती हैं। जिन पर आगे का सारा भवन खड़ा होता है। (चित्र. 3)

ये तीन परतें इस प्रकार होती हैं—सबसे बाहर की परत *एक्टोडर्म,* बीच की परत *मेसोडर्म* और अंदर की परत *एंडोडर्म* कहलाती हैं। इनसे मिल कर एक लंबी, छोटी काया बन जाती है, जिसमें सब कोशिकाएं समान आकार की होती हैं; यद्यपि वे प्रथम कोशिका से, जिससे इन सबकी उत्पत्ति हुई है, कुछ छोटी होती हैं।

इन तीनों परतों में से प्रत्येक परत, अंगों के एक जटिल-तंत्र को जन्म देती है। बाहर की परत से त्वचा, इंद्रियां तथा स्नायु तंत्र (नरवस सिस्टम) बनते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि

यही परत बाह्य संसार के संपर्क में आती है। त्वचा उसकी सुरक्षा करती है और इंद्रियां तथा स्नायु तंत्र द्वारा उसका बाह्य संसार से संपर्क स्थापित होता है। अंदर की परत उन अंगों का विकास करती है जो पोषण की व्यवस्था करते हैं, जैसे आंत, उदर, पाचन ग्रंथियां, जिगर, अग्न्याशय (पैंक्रियाज) और फेफड़े। बीच की परत हड्डियों के ढांचे का, जो सारे शरीर को थाम कर रखता है, तथा मांसपेशियों का निर्माण करती है। स्नायु तंत्र के अंग "संबंधों के अंग" कहलाते हैं क्योंकि बाह्य संसार से वे ही हमारे संबंधों का संचालन करते हैं। पाचन और श्वसन-तंत्र के अंग, स्थावर अंग कहलाते हैं क्योंकि वे जीवित पदार्थों के निष्क्रिय कार्य संपन्न करते हैं।

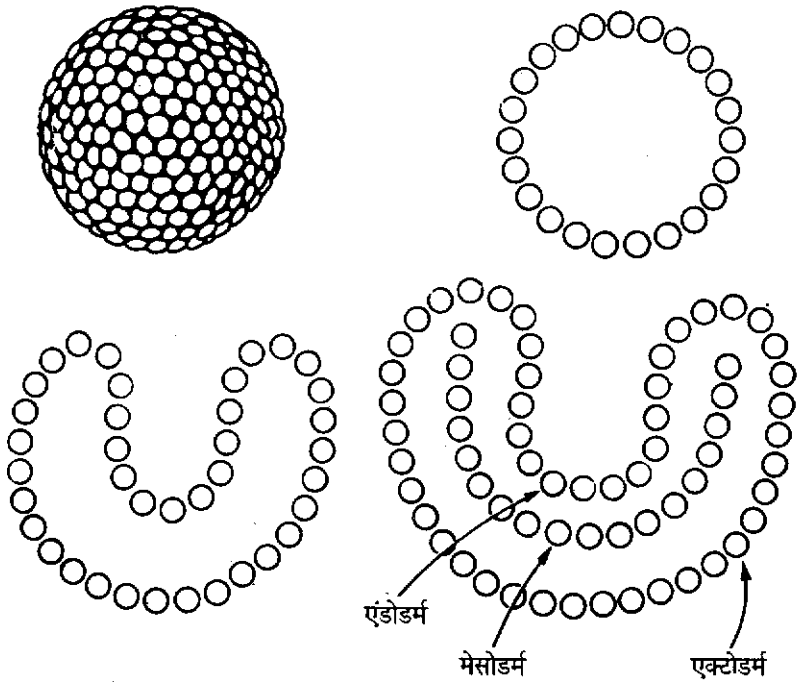

चित्र 3

हाल में इस पर और भी अध्ययन हुए हैं जिनसे अंगों के विकास पर प्रकाश पड़ता है। होता यह है कि इन परतों में कुछ बिंदु या केंद्र प्रकट होने लगते हैं जिनमें अचानक

ही बड़ी मात्रा में जैविक गतिविधियां शुरू हो जाती हैं। इन दीवालों में से कोशिकाएं प्रकट होती हैं और अंग का निर्माण करना या उसका डिजाइन बनाना शुरू कर देती हैं। सभी अंगों के निर्माण की यही कार्यविधि है। सभी का प्रारंभ ऐसे ही केंद्रों से होता है जहां कोशिकाओं की गतिविधियां बढ़ जाती हैं। परंतु इन केंद्रों का परस्पर संबंध नहीं होता और ये एक दूसरे से पृथक रहते हैं। शिकागो के प्रोफेसर चाइल्ड ने इस तथ्य का पता लगाया था। उन्होंने केंद्रों को 'ग्रेडिएंट' कहा था।

लगभग इसी समय एक अन्य भ्रूण वैज्ञानिक, डगलस ने स्वतंत्र रूप से इंग्लैंड में कार्य करते हुए इसी प्रकार की खोज की थी, यद्यपि उसका अवलोकन केवल स्नायुतंत्र तक ही सीमित था। उसने इन गतिशील केंद्रों को सैंग्लिया कहा था और उसके अनुसार ये अति संवेदनशील होते हैं।

जिस समय अंग बनने शुरू होते हैं, उसी समय स्वयं कोशिकाओं में भी परिवर्तन होने लगते हैं। पहले वे सब एक जैसी थीं परंतु अब उनमें बहुत विभिन्नताएं आ जाती हैं। ये विभिन्नताएं उन क्रियाओं के अनुकूल होती हैं जो इनके द्वारा निर्मित अंग अंततः करेंगे। इस प्रकार, एक तरह का विशिष्टीकरण होता हैं अर्थात प्रत्येक कोशिका स्वयं को उन अंगों के कार्यों के अनुकूल रूपांतरित कर लेती है जिनका वह निर्माण कर रही है। यद्यपि किसी विशेष कार्य के लिए अति प्रवीण विशिष्टीकरण होता है, परंतु उस कार्य के परिचालन होने से पहले ही यह विशिष्टीकरण हो जाता है।

चित्र 4 में कुछ कोशिकाओं को दिखाया गया है जिससे कुछ अंदाज हो सके कि उनमें कितनी भिन्नता होती है। जिगर की कोशिकाएं षट्कोणीय होती हैं और एक दूसरे से ऐसे चिपकी रहती हैं जैसे फर्श पर पत्थर जमे रहते हैं। उनको आपस में जोड़ने वाला कोई ऊतक (टिस्सू) नहीं होता। इसके विपरीत, हड्डियों की कोशिकाएं अंडाकार होती हैं। उनकी संख्या कम होती है और वे दूर-दूर होती हैं। उनका परस्पर संपर्क पतले तंतुओं (फिलामेंट) द्वारा होता है। परंतु हड्डियों की कोशिकाओं की विशेषता यही है कि वे स्वयं अपना विस्तार करके, ठोस जोड़ने वाला ऊतक तैयार करती है। श्वास की नली की ऊपर की परत विशेष ध्यान देने योग्य है। इसकी त्रिकोणीय कोशिकाओं में छोटे-छोटे प्याले जैसे होते हैं जिनमें से लगातार कुछ गोंद जैसी चीज निकलती रहती है, जिसमें हवा के अंदर ही धूल चिपक जाती है। इन प्यालों के चारों ओर तंतुओं की एक झालर सी लगी रहती है जो पूरे समय हिलती रहती है। इससे कफ शरीर के बाहर की ओर निकलता रहता है। त्वचा में विशेष चपटी कोशिकाएं होती हैं जिनकी परतें बनी रहती हैं। सबसे बाहर की परत की कोशिकाएं विनष्ट हो जाती हैं और नीचे से उनके स्थान पर दूसरी आ जाती हैं। ये कोशिकाएं शरीर की बाहरी सतह को सुरक्षित रखती हैं। इनसे हमें उन सैनिकों की याद आती है जो अपने देश के लिए अपना जीवन न्यौछावर करने को तत्पर रहते हैं।

स्नायु कोशिकाएं सबसे अधिक विकसित और सबसे महत्वपूर्ण होती हैं। उनके विनष्ट होने पर दूसरी नहीं बनतीं। वे सदा अपने कार्यस्थल पर उपस्थित रहती हैं। उनके लंबे प्रतान

(टैंड्रिल) होते हैं जो बहुत दूर तक जाते हैं जैसे टेलीफोन के तार महाद्वीपों को जोड़ते हैं।

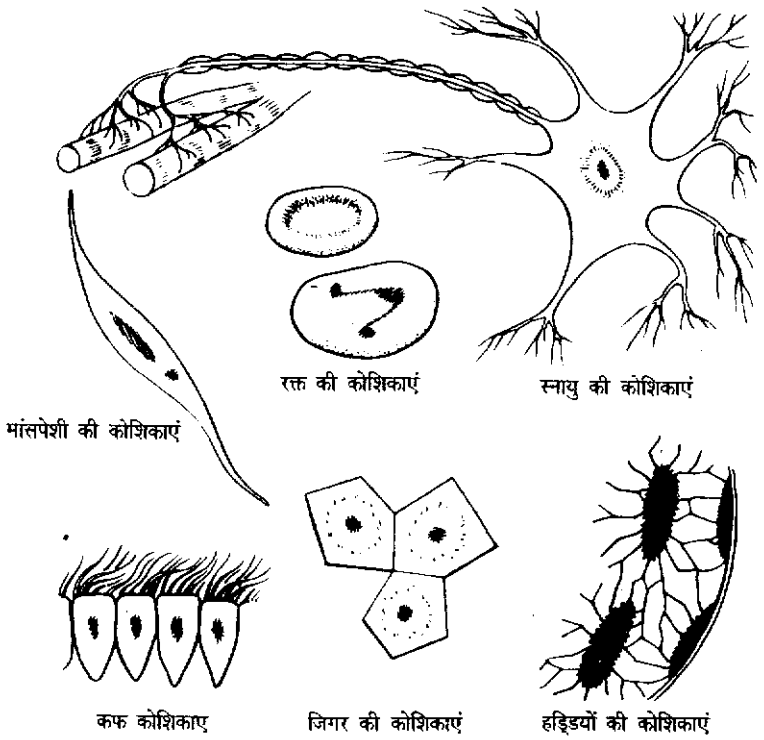

चित्र 4. विभिन्न प्रकार की कोशिकाएं

इन कोशिकाओं में आपस की इतनी ज्यादा भिन्नता कितनी रोचक है, क्योंकि सभी की उत्पत्ति उन्हीं कोशिकाओं से होती है जो पहले बिलकुल एक जैसी थीं। अपने भविष्य के कार्य की तैयारी में उन्होंने अपने को परिवर्तित कर लिया। अब प्रत्येक कोशिका वह कार्य कर सकती है जो पहले उसने कभी नहीं किया था। परंतु एक बार परिवर्तित होने के बाद, उनमें दुबारा परिवर्तन नहीं हो.सकता। जिगर की कोशिका कभी स्नायु कोशिका नहीं बन सकती। पहले यह कहा जाता था कि वे काम के लिए अपने को तैयार करती हैं। परंतु वास्तव में वे अपने

को परिवर्तित कर लेती हैं।

क्या ऐसा ही मानव समाज में नहीं होता ? हम अपने समाज में विशेषज्ञों को देखते हैं, जिनकी तुलना हम शरीर के अंगों से कर सकते हैं। प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति कई प्रकार के कार्य करता था। एक ही व्यक्ति मकान भी बना सकता था, बढ़ई का काम कर सकता था, और थोड़ी बहुत डॉक्टरी भी कर सकता था अर्थात, वह थोड़ा-थोड़ा सभी कुछ कर सकता था। परंतु जैसे-जैसे समाज में विकास हुआ, कार्यों में विशिष्टीकरण बढ़ता गया। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक प्रकार का कार्य चुन लेता है और दूसरे कार्य के लिए मानसिक रूप से अनुपयुक्त होता जाता है। किसी भी व्यवसाय को करने के लिए केवल उसकी तकनीक जानना ही पर्याप्त नहीं होता। यदि उस कार्य को पूरी लगन के साथ किया जाए तो हमारे अंदर ऐसे परिवर्तन होने लगते हैं जो सफलता के लिए आवश्यक होते हैं। कार्य की सफलता के लिए तकनीक से अधिक आवश्यकता अपने व्यक्तित्व को कार्य के अनुरूप ढालने की होती है। इस प्रकार व्यक्ति अपना आदर्श स्वयं बना लेता है। और वही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

भ्रूण के प्रत्येक अंग विशिष्ट कोशिकाओं से बने हैं। सब अंगों के अपने अलग कार्य हैं जो दूसरे अंगों के कार्यों से भिन्न हैं। परंतु संपूर्ण जीव के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए यह जरूरी है कि ये सब कार्य सुचारु रूप से हों। अतः प्रत्येक अंग का अस्तित्व और उसके कार्य संपूर्ण शरीर के लिए हैं।

भ्रूण अपने विकास काल में न केवल अंगों का निर्माण करता है वरन उनके बीच संचार की व्यवस्था भी करता है। यह कार्य दो बड़े तंत्रों द्वारा होता है—परिसंचरण तंत्र (सर्कुलेटरी सिस्टम) और स्नायु तंत्र (नर्वस सिस्टम)। ये सबसे जटिल अंग हैं और ये ही एकमात्र ऐसे अंग हैं जिनका संपूर्ण कार्य, अन्य सब अंगों के मध्य संचार स्थापित करने का है।

पहला, अर्थात परिसंचरण तंत्र एक नदी की तरह है, जो सारे शरीर को पोषण पहुंचाता है। परंतु यह 'संग्रहकर्त्ता' की तरह भी काम करता है। यह शरीर की प्रत्येक कोशिका के लिए आहार पहुंचाता है और साथ ही फेफड़ों से ऑक्सीजन भी ग्रहण करता है। खून में कुछ ऐसे तत्व भी मिले रहते हैं जिन्हें अंतःस्रावी ग्रंथियां उसमें डालती हैं। इन्हें हारमोन कहते हैं। ये अंगों को प्रभावित करते हैं, उनकी गतिविधियों को उत्तेजित करते हैं और उनके कार्यों पर नियंत्रण रखते हैं, जिससे सबके कार्यों में ऐसा समन्वय स्थापित हो, जो सबके लिए हितकर हो।

हारमोन ऐसे तत्व हैं जिनकी आवश्यकता उन अंगों को होती है जो हारमोन उत्पादन करने वाले स्थानों से दूर स्थित हैं। ऐसी स्थिति में परिसंचरण तंत्र का कार्य बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रत्येक अंग जैसे एक नदी के किनारे स्थित है जहां से वह अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं ग्रहण करता है, और उसमें अपने बनाए हुए तत्वों को डाल देता है जिनकी जरूरत अन्य स्थानों में स्थित अंगों को होती है।

दूसरा महत्पूर्ण तत्व स्नायु तंत्र है, जो शरीर की संपूर्ण गतिविधियों में समन्वय स्थापित

करता है। यही सबका संचालन करता है। मस्तिष्क में एक प्रकार का नियंत्रण कक्ष होता है जहां से शरीर के प्रत्येक अंग के लिए आदेश भेजे जाते हैं।

मानव जाति के जीवन में भी एक प्रकार के परिसंचरण तंत्र का विकास हुआ है। विभिन्न देशों और व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुएं सारे संसार में विचरण करती हैं और जिसे जीवन के लिए जो आवश्यक लगता है, वह उसे ले लेता है। व्यापार की विशाल नदी उन्हें अन्य देशों और लोगों तक पहुंचा देती है। व्यापारी और घुमंतू विक्रेता लाल रक्त-कणिकाओं की तरह हैं। इस विशाल मानव समाज में एक स्थान में उत्पादित माल का उपयोग दूसरे स्थान में होता है।

कुछ वर्षों से संसार में ऐसी व्यवस्थाओं का भी विकास हो रहा है जो वही काम करने प्रयास कर रही हैं, जैसा काम शरीर में हारमोन करते हैं। जैसे, बड़े राज्यों का प्रयास हो रहा है कि वे पर्यावरण को नियोजित करें, व्यापार पर नियंत्रण रखें, सभी राष्ट्रों की परियोजनाओं को प्रोत्साहित करें, और उनका संचालन करें, जिससे सारे संसार में समन्वय बढ़े और सबका कल्याण हो। इन प्रयासों में जो दोष प्रकट हुए हैं वे इसे प्रमाणित करते हैं कि अभी समाजों के बीच परिसंचरण का तंत्र पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाया है, जैसी उसने भ्रूण अवस्था में प्राप्त कर ली थी; यद्यपि इस दिशा में आरंभ तो हो गया है।

मानव समाज में स्नायु तंत्र की विशेष कोशिकाओं की तरह की कोई वस्तु नहीं है। संसार में आज जैसी अव्यवस्था है उससे हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि अभी उनके कार्यों को करने के लिए उनकी जैसी कोई संस्था विकसित नहीं हुई है। अतः समस्त समाज का निर्देशन करके, उसमें समन्वय स्थापित करने के लिए अभी कुछ नहीं हो पाया है। समाज में सबसे उच्च प्रकार की शासन व्यवस्था लोकतंत्र है। इसमें सभी को वोट देने का अधिकार होता है और इस तरह शासन के अध्यक्ष के चुनाव में सभी का योगदान रहता है। परंतु भ्रूणविज्ञान में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें प्रत्येक कोशिका विशेष कार्य के लिए होती है। अतः इन सब कोशिकाओं का संचालन करने वाली कोशिका को और भी अधिक विशिष्ट होना चाहिए। शासन करना सबसे कठिन काम है और इसके लिए सबसे उच्चकोटि के विशिष्टीकरण की आवश्यकता है।

अतः प्रश्न चुनावों का नहीं वरन प्रशिक्षण और कार्य के उपयुक्त बनने का है। जो दूसरों का मार्ग-दर्शन करता है उसे पहले स्वयं को बदलना होगा। कोई भी नेता या मार्ग-दर्शक नहीं बन सकता, जब तक उसने इस कार्य के लिए प्रारंभिक तैयारी नहीं की हो। कार्य के साथ विशिष्टीकरण को जोड़ने के इस सिद्धांत पर हमें ध्यान देना चाहिए क्योंकि प्रकृति के कार्य करने का यही तरीका है। जीव के शरीर में इसके चमत्कारिक परिणाम हमें सामने ही दिखाई देते हैं।

अतः भ्रूणविज्ञान हमें दिशा दिखा सकता है। वह हमारी प्रेरणा का स्रोत बनता है। जूलियन हक्सले ने भ्रूण के चमत्कारों को संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया है, "शून्य से शुरू कर पूर्ण वयस्क के जटिल शरीर की रचना तक ले जाने वाला मार्ग जीवन के निरंतर चमत्कारों

में से एक है। यदि हम इस चमत्कार से प्रभावित नहीं होते, तो इसका केवल एक ही कारण है—इसे हम अपने दैनिक जीवन में रोज ही हर समय देखते रहते हैं।"

हम चाहे जिस जानवर का अध्ययन करें—चाहे वह चिड़िया हो या खरगोश या कोई अन्य रीढ़धारी जीव, हमें पता चलता है कि उसके शरीर में अनेक अंग होते हैं और प्रत्येक अंग अत्यंत जटिल होता है। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इन जटिल अंगों का परस्पर संपर्क रहता है। यदि हम परिसंचरण तंत्र पर विचार करें तो हम देखते हैं कि इसमें जल निकास की प्रणाली इतनी सूक्ष्म, जटिल और संपूर्ण है कि मनुष्य द्वारा निर्मित किसी तंत्र से इसकी तुलना नहीं हो सकती है। इसी तरह मस्तिष्क, जो इंद्रियों द्वारा बाह्य संसार से सूचनाएं प्राप्त करता है, इतना अद्वितीय है कि कोई आधुनिक उपकरण उसके सदृश्य नहीं है। आंख या कान से मेल खाता हुआ क्या कोई यंत्र है ? और यदि हम अपने शरीर के अंदर होने वाली रासायनिक प्रतिक्रियायों का अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि वहां ऐसी सुसज्जित प्रयोगशालाएं हैं, जिनके पास नए पदार्थों के उत्पादन की ऐसी तकनीक हैं, जो संसार में कहीं नहीं पाई जातीं। और स्नायु तंत्र के संचार की प्रणाली इतनी अभूतपूर्व है कि हमारे टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, बेतार का तार, आदि उसके आगे भोंडे खिलौने जैसे लगते हैं।

संसार के सर्वोत्तम प्रशिक्षित सैनिक भी हमारी मांसपेशियों के बराबर आज्ञाकारी नहीं होंगे। वे अपने एकमात्र संचालक के आदेशों का फुर्ती से पालन करती हैं। वे विनीत सेविकाओं की तरह हैं जो आदेशों का सदा सही पालन करने को तत्पर रहती हैं। यदि हम इन सब तथ्यों पर थोड़ा सा मनन करें और इस बात का स्पष्ट अनुभव करें कि ये अंग कितने जटिल हैं—संचार के अंग, मांसपेशियां और स्नायु, जो हमारे शरीर की छोटी से छोटी कोशिका तक संपर्क स्थापित करते हैं—और इस बात को याद करें कि ये सब एक अकेली बीज-कोशिका से उत्पादित हुए हैं तो हम प्रकृति के चमत्कार से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

अध्याय छह

भ्रूणविज्ञान और आचरण

भ्रूण के विकास की प्रत्येक अवस्था, मानव समेत, सभी उच्चतर जानवरों में पाई जाती है। निम्नतर जानवर इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनका विकास पूरा नहीं हो पाता। उनका विकास प्रारंभिक अवस्थाओं में ही समाप्त हो जाता है।

मसलन वोलवोक्स को देख सकते हैं। वोलवोक्स ऐसा जीव है जो गोलाकार अवस्था के आगे विकसित ही नहीं हुआ। वह एक छोटी, खाली गेंद की तरह सागर में घूर्णन करता रहता है। उसकी कोशिकाओं की एकमात्र सतह के बाहरी ओर छोटे-छोटे बालों की एक परत होती है, जिनको हिलाने से वह इधर-उधर घूमती है और चलती है।

कोएलेनटरेट्स वे जीव हैं जिनका विकास दूसरी अवस्था तक हुआ है, अर्थात दोहरी दीवाल वाली अवस्था—जब खाली गोलाकार एक तरफ से अंदर की ओर गड्ढा करके कोशिकाओं की दो परतें बना देता है—एक्टोडर्म और एंडोडर्म। तीनों परतों के विकास होने के बाद की अवस्थाएं, कई जातियों के जानवरों में इतनी समान होती हैं, कि एक जाति का भ्रूण गलती से दूसरी जाति का समझा जा सकता है। चित्र सं 5 में इसे स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है।

यही तथ्य, विकासवाद के सिद्धांत का सबसे स्पष्ट प्रमाण है। कहा जाता था कि आदमी की उत्पत्ति बंदरों से हुई है; स्तनपायी जीवों और चिड़ियों की रेंगने वाले जीवों से हुई है; रेंगने वाले जीव उभयचर (जल व स्थल दोनों पर रहने वाला) से उत्पन्न हुए हैं; और उभयचर मछली से; और इसी तरह अंत में एक कोशिकीय जीव रह जाते हैं। वंशानुक्रम की प्रक्रिया के कारण, भ्रूण को अपने पूर्वजों की सब अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। अतः भ्रूण का विकास, विभिन्न जातियों के विकास की कहानी है। इसे 'पुनरावर्तन सिद्धांत' (रिकैपीचुलेशन थ्योरी) कहते हैं, जिसके अनुसार व्यक्ति के विकास में, जातियों के विकासक्रम की पुनरावृत्ति होती है।

इसीलिए भ्रूणविज्ञान, डारविन के सिद्धांतों में सम्मिलित कर लिया गया और उसके सिद्धांतों का सबसे अकाट्य प्रमाण भी माना जाने लगा। परंतु बाद में डी व्राइस की खोजों के फलस्वरूप भ्रूणविज्ञान को अपना क्षेत्र अधिक व्यापक बनाना पड़ा जिससे जैव पदार्थों को ठीक से समझा जा सके।

आरंभ, उत्परिवर्तन सिद्धांत (म्यूटेशन थ्योरी) से करें। डी व्राइस ने देखा कि एक ही

प्रकार के जनक पेड़ों से विविध प्रकार के पौधे उत्पन्न होते हैं। इन पर कोई बाह्य प्रभाव भी नहीं पड़ा था। कुछ ने इसे समझाने के लिए स्वतः रूपांतरण की चर्चा की। यदि इन परिवर्तनों के कारण पर्यावरण में नहीं मिलते, तो अवश्य वे भ्रूण की आंतरिक गतिविधियों में होंगे क्योंकि द्रुत विकास यहीं संभव हो सकता था।

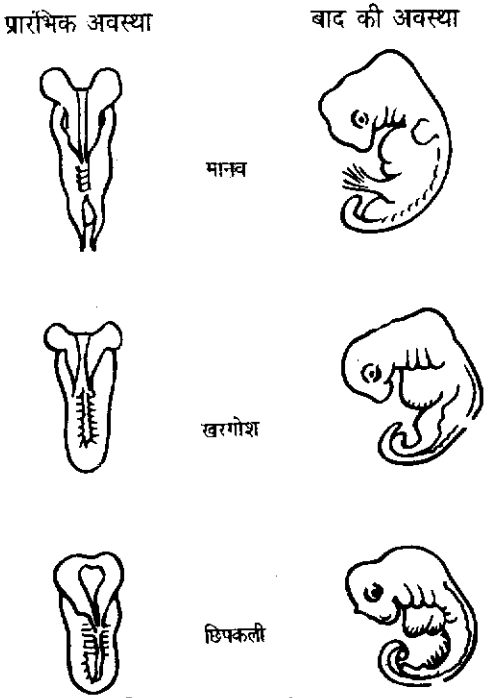

चित्र 5. भ्रूणों की शरीर रचना

डारविन के सिद्धांत के अनुसार, परिस्थितियों के अनुकूल बनने के उद्देश्य से जो रूपांतरण होते हैं, वे बहुत धीमी गति से, लंबी अवधि में होते हैं। अतः विचारकों ने समस्या को सुलझाने के लिए अन्य कल्पनाओं का आधार लिया तथा अन्य समस्याओं की संभावना को स्वीकारा। वास्तव में, माइक्रोस्कोप से भ्रूण के निर्माण का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह केवल भ्रूण के यांत्रिक रूप का होता है। परंतु जीवधारी केवल अंग प्रत्यंगों का समूह मात्र नहीं होते जो सामान्य लक्ष्य के लिए काम कर रहे हों। उच्चतर जीवों के बारे में सबसे रहस्यमय बात तो यही है कि इतनी समान प्रारंभिक प्रक्रियाओं के बावजूद कोई रेंगने वाला जीव उत्पन्न हुआ तो कोई चिड़िया, कोई स्तनपायी जीव, तो कोई आदमी।

इन सभी जीवों की मुख्य भिन्नता उनके हाथ, पांव, धड़, दांत, आदि की बनावट है। यह बनावट उन्हें भ्रूण से वंशानुगत प्राप्त नहीं होती, वरन अपने रहने के स्थान के वातावरण

में उनके आचरण के कारण विकसित होती है।

इससे यह विचार विकसित हुआ कि प्रकृति में भी निर्माण कार्य का एक विशेष तरीका है जैसे आदमी भी अपना मकान एक विशेष योजना के अनुसार बनाता है। चाहे वह साधारण मकान हो, या विशाल भवन, सभी के आरंभ में पहले ईंट, पत्थर एकत्रित किए जाते हैं और फिर उनसे दीवाल खड़ी की जाती है। फिर हमारी इमारतों की शकल और सजावट में इतनी भिन्नता क्यों होती है ? यद्यपि उनके बनाने में एक-सा सामान लगता है, परंतु वे जिस उद्देश्य के लिए बनाए जा रहे हैं—उनका जिस कार्य के लिए उपयोग होगा—अंतर उसमें होता है।

इन सबके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि भ्रूणविज्ञान ने अब काल्पनिक सिद्धांतों में विचरण करना बंद कर दिया है। इससे नए विचारों को प्रेरणा मिली है, साथ ही अब इसमें प्रयोगों के आधार पर अनुसंधान का मार्ग खुल गया है और इस दिशा में पर्याप्त प्रगति भी हुई है। इसके कारण अब इसके व्यावहारिक उपयोग भी होते हैं।

भ्रूण पर अब ऐसे प्रभाव डाले जा सकते हैं जो उसमें परिवर्तन ला सकें। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य भ्रूण पर प्रभाव डाल कर जीवन की दिशा बदलने का प्रयोग कर सकता है। इस ओर कार्य शुरू हो गया है।

जीन और उनके संचयों द्वारा हम वनस्पति में वंशानुगत परिवर्तन कर सकते हैं और इसी प्रकार जानवरों में भी परिवर्तन कर सकते हैं। इसके परिणाम बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक नया क्षेत्र सामने आया है जो बहुत विशाल है और विविध विषयों से संबंध रखता है। यह केवल शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से ही नहीं, वरन व्यावहारिक दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। भ्रूण की महत्ता यह है कि उसके अंगों का अभी पूरा निर्माण न होने के कारण उनमें सरलता से परिवर्तन किए जा सकते हैं। मनुष्य को अब इस रहस्य का ज्ञान प्राप्त हो गया है।

कुछ वर्ष पहले अमेरिका में भ्रूणविज्ञान के क्षेत्र में पहला पेटेंट (एकस्व अधिकार) प्रदान किया गया था। शहद की मक्खियों की एक ऐसी प्रजाति उत्पन्न की गई थी जिसके डंक नहीं थे और वह साधारण मधुमक्खी की अपेक्षा बहुत अधिक शहद इकट्ठा कर सकती थी। इसी तरह, बहुत से ऐसे पौधे तैयार किए गए हैं जिनकी टहनियों पर कांटे नहीं होते। कुछ अन्य ऐसे पौधे बनाए गए हैं जिनकी जड़ों में अधिक पोषक तत्व होने लगे हैं या पौधे पहले से ही बहुत पोषक, पर जहरीले थे; अब उनका जहर समाप्त कर दिया गया है।

फूलों के क्षेत्र में सबसे अच्छे परिणाम सामने आए हैं। यद्यपि इसके बारे में सबको इतनी जानकारी नहीं है, पर मनुष्य का प्रभाव अब धरती से भी परे, पानी के अंदर पाए जाने वाले जीव-जंतुओं पर भी पड़ने लगा है। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य, अपनी बुद्धि का प्रयोग करके, पृथ्वी को अधिक सुंदर और समृद्ध बनाने में सफल हुआ है। यदि हम जीव वैज्ञानिकों की तरह सब प्रकार के जीवों का अध्ययन करें और उनका एक दूसरे पर प्रभाव तथा उस प्रभाव के परिणामों पर विचार करें, तो हमें पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन

का एक उद्देश्य समझ में आने लगेगा कि वह स्वयं ब्रह्मांड की बड़ी शक्तियों में से एक है।

अपनी बुद्धि के कारण मनुष्य सृष्टि रचना का कार्य आगे बढ़ा रहा है। मानो (जैसा हक्सले ने कहा है) उसे इस संसार में इसीलिए भेजा गया है कि वह अपनी बुद्धि के उपयोग से सृष्टि रचना में सहायता दे और रचना कार्य की गति को बढ़ाए। जीवन पर नियंत्रण रख कर, वह पूर्णता प्राप्त करने में जीवन की सहायता कर रहा है। अतः अब भ्रूणविज्ञान का अध्ययन काल्पनिक और व्यर्थ नहीं है।

इसी रीति से यदि हम मानसिक विकास की कल्पना करें, तो हमारा यह सोचना स्वाभाविक होगा कि यदि आज मनुष्य जीवन में हस्तक्षेप करके नए और उच्च प्रकार के जीवन की रचना कर सकता है, तो वही मनुष्य के मानसिक निर्माण में भी सहायक हो सकता है और उस पर नियंत्रण रख सकता है।

मानसिक विकास भी, शरीर के विकास की तरह, प्रकृति की रचना प्रक्रिया का अनुसरण करता है। जैसे शरीर एक आदि कोशिका से प्रारंभ होता है, जो अन्य कोशिकाओं से प्रत्यक्षतः किसी प्रकार भिन्न नहीं लगती; उसी तरह मानव मस्तिष्क भी शून्य से या जो शून्य जैसा प्रतीत होते हैं, उनसे प्रारंभ होता है।

जैसे आदि बीज-कोशिका में कोई पूर्व निर्मित संपूर्ण आदमी नहीं होता, उसी तरह नवजात शिशु के मानसिक व्यक्तित्व की पूर्व रचना नहीं होती। जैसे भ्रूण की रचना के समय पहले कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि होती है, उसी तरह मानसिक स्तर पर पहले सामग्री का संग्रह होता है। यह संग्रह ग्रहणशील मस्तिष्क द्वारा होता है। भ्रूण की तरह मस्तिष्क में भी संवेदनशील केंद्र प्रकट होते हैं जिनके चारों ओर मानसिक प्रत्यंगों का निर्माण होता है। इन केंद्रों में इतनी अधिक गतिविधियां होती हैं कि वयस्क को उनकी याद नहीं रहती। इसके उदाहरण के लिए हम बच्चे द्वारा भाषा ग्रहण करने की बात पहले ही कह चुके हैं। ये संवेदन केंद्र दिमाग की रचना नहीं करते, वरन उसके प्रत्यंगों की रचना करते हैं और ये प्रत्यंग भी, भ्रूण के अंगों की तरह, एक दूसरे से स्वतंत्र विकसित होते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक केंद्र में भाषा का विकास हो रहा होता है, तो दूरी का अनुमान लगाने की योग्यता और अपना रास्ता ढूंढ़ने की योग्यता, अलग विकसित हो रही होती है। इसी प्रकार दो पांव पर संतुलन सहित खड़े होने की योग्यता या अन्य प्रकार के संतुलनों की योग्यता, अलग विकसित होती है।

इनमें से प्रत्येक योग्यता का अपना एक विशेष उद्देश्य होता है और इस प्रकार की संवेदना इतनी सजीव होती है कि वह अपने केंद्रों को किसी कार्य के लिए प्रेरित करती हैं। ये संवेदन केंद्र विकास की संपूर्ण अवधि के दौरान नहीं बने रहते। प्रत्यंगों की रचना हो जाने के बाद वे समाप्त हो जाते हैं। परंतु जब तक वे स्थापित रहते हैं, तब तक वे बहुत ही सक्रिय रहते हैं। वे इतनी अधिक शक्ति का उत्पादन करते हैं, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि बड़े होने के बाद हमें उनकी याद नहीं रहती। सब प्रत्यंगों के तैयार हो जाने के बाद, वे एक होकर मनुष्य के मानसिक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

बहुत कुछ इसी प्रकार के अस्थायी संवेदन केंद्र कीड़े-मकोड़ों के जीवन क्रम में भी पाए जाते हैं। "उत्परिवर्तन सिद्धांत" (म्यूटेशन थ्योरी) के प्रतिपादक डी व्राइस ने बताया कि ये अस्थायी संवेदन केंद्र, जन्म के बाद से ही, कीड़ों की क्रमशः परिवर्तन होने वाली उन गतिविधियों का मार्ग-निर्देशन करते हैं जो उनके जीवन और विकास के लिए आवश्यक हैं। डी व्राइस की इस दूसरी खोज के फलस्वरूप, अन्य जानवरों के भी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुए और इसके बाद अनेक सिद्धांत प्रतिपादित हुए जिन पर विद्वानों का विवाद चलता रहा। अंत में अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक वॉटसन ने परिकल्पनाओं के इस विवाद को समाप्त करते हुए एक नया सिद्धांत प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

उसने कहा कि हम उन सब परिकल्पनाओं को त्याग दें जिन्हें हम सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। एक ही चीज है, जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकते हैं और जो हम अपनी आंख से देख सकते हैं—वह है जानवरों का आचरण। अतः हमें उसी को अपने शोध का आधार बनाना चाहिए।

इसीलिए उसने अपना अध्ययन, जानवरों के बाह्य आचरण से प्रारंभ किया। उसका यह विश्वास था कि जीवन के बारे में हमारा ज्ञान बढ़ाने में ये ही सबसे विश्वसनीय सिद्ध होंगे। इसके बाद उसने मानव व्यवहार और बच्चों के मनोविज्ञान पर कार्य करना शुरू किया मानो वे ऐसे विषय हैं जिनको हम इस मार्ग से समझ सकते हैं। परंतु उसे शीघ्र ही यह पता चला कि शिशु में कोई लक्षण ऐसा नहीं होता जिससे पता चले कि उसका व्यवहार पूर्व निर्धारित है। उसने इसे भी प्रमाणित किया कि शिशु में स्वाभाविक प्रतिक्रियाएं और मनोवैज्ञानिक विरासत जैसी कोई चीज नहीं होती। उसके अनुसार, मनुष्य का व्यवहार अनुबंधित प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला है जो एक दूसरे पर अध्यारोपित होती चली जाती है। इस तरह व्यवहारवाद (बिहेवियरिज्म) की उत्पत्ति हुई जिसका अमेरिका में बहुत प्रचलन हुआ। परंतु कई लोग इसे अधूरा और सतही मानते थे और इसकी बहुत आलोचना और विरोध करते थे।

फिर भी, उनके विचारों से प्रोत्साहित होकर, दो अन्य अमेरिकी शोधकर्ताओं ने मानव व्यवहार पर फिर से नए सिरे से अध्ययन प्रारंभ किया जिसमें उन्होंने परीक्षण और प्रयोगशाला के तरीके अपनाए।

इनके नाम थे कॉगहिल तथा गैसेल। इनमें से कॉगहिल ने, व्यवहार को समझने के लिए भ्रूणविज्ञान से अध्ययन प्रारंभ किया और गैसेल ने बच्चे के विकास का क्रमबद्ध अध्ययन प्रारंभ किया और अपनी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की।

फिलेडेलफिया में, कॉगहिल ने एक ही प्रकार के जीव के भ्रूण के विकास का अध्ययन करने में कई वर्ष व्यतीत किए। यह जीव था—एम्बलीओस्टोमा, जो विकास क्रम में एमफीबिया से कुछ निम्न स्तर का है। उसने इस जीव को इसलिए चुना क्योंकि इसकी संरचना सरल है, जिसके कारण शोध में सुविधा और स्पष्टता संभव है। कॉगहिल के निष्कर्ष 1929 तक प्रकाशित नहीं हुए थे। उसको अपने शोध में इतना समय इसलिए लगा क्योंकि उसने जो

भी तथ्य पता किए वे जीव वैज्ञानिकों के प्राचीन विश्वासों से भिन्न थे। वह अपने प्रयोगों को और भी कड़ाई से, सही प्रकार से, दोहराता रहा, पर उसने सदा यही पाया कि दिमाग में स्नायु केंद्र, प्रत्यंगों के बनने के पहले ही बन जाते हैं और वे ही प्रत्यंगों का निर्देशन करते हैं। उदाहरणतः दृष्टि-केंद्र पहले बना और दृष्टि-स्नायु बाद में। यदि हम यह मान कर चलें कि भ्रूण के विकास की भी वही अवस्थाएं होती हैं जो सृष्टि के इतिहास में जीव के विकास की होती हैं, तो निष्कर्ष यही होगा कि जीव के विकास में जिन संरचनाओं का विकास बाद में हुआ है, वे भ्रूण में भी बाद में विकसित होंगी। अतः सबसे पहले केंद्र विकसित होने चाहिए। और फिर उनके उपयोग के फलस्वरूप अंग विकसित होने चाहिए। परंतु ऐसा कैसे हुआ कि आंख पहले बनी और दृष्टि-केंद्र बाद में तथा उन केंद्रों को आंख से जोड़ने वाली तंत्रिकाएं और बाद में बनीं ?

कॉगहिल के अनुसंधानों ने जानवरों के आचरण से संबंधित वास्तविक तथ्यों के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहन दिया है। यही नहीं, उसके अनुसंधानों के फलस्वरूप यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि यदि केंद्रों के बन जाने के बाद अंगों का विकास होता है तो इसका कारण यही है कि अंग अपनी संरचना उन्हीं कार्यों के अनुरूप करें जो उन्हें पर्यावरण में करने हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहार वंशानुगत होता है (जैसा सहज प्रतिक्रियाओं के लिए पहले ही माना जाता था) साथ ही यह नया विचार भी उत्पन्न होता है कि पर्यावरण में जीव के व्यवहार चक्र के अनुरूप ही उसके अंगों का निर्माण होता है।

सच तो यह है कि हमें ऐसे अनेक स्पष्ट उदाहरण प्रकृति में मिलते हैं जिनमें अंगों का रूप तथा उनके कार्यों में गहरा साम्य होता है, चाहे उससे जीव को प्रत्यक्ष लाभ होता हो या नहीं। जो कीड़े विशेष प्रकार के पुष्पों के मधुरस चूसते हैं, उनकी सूंड (प्रबॉसिस) विकसित होकर फूल के दलपुंज (कोरोला) की लंबाई के बराबर लंबी हो जाती है। उनमें एक तरह का लेप भी विकसित हो जाता है जिसमें पराग (पॉलेन) चिपक जाता है। यह लेप इन कीड़ों के उपयोग का नहीं होता, पर इनके माध्यम से पराग दूसरे फूलों तक पहुंच जाता है। चींटीखोर जानवर का मुंह इतना छोटा होता है कि केवल उसकी लंबी, कीड़े की तरह की जीभ उस मुंह में से बाहर निकल कर आ सकती है। इस जीभ पर भी एक चिपचिपा लेप होता है जिससे वह चीटियां खा सकता है।

परंतु जानवरों का व्यवहार, इस प्रकार एक ही क्रिया के लिए सीमित क्यों हो जाता है ? ऐसा क्यों होता है कि कोई जानवर रेंगता है, कोई कूदता है, और कोई पेड़ों पर चढ़ता है ? कोई जानवर चींटियां ही क्यों खाता है और कोई अपनी संरचना ऐसी क्यों कर लेता है कि वह केवल एक विशेष फूल को संसेचित कर सके ? ऐसा क्यों होता है कि कुछ जिंदा जानवरों को खा जाते हैं और कुछ केवल सड़ा हुआ मांस ही खाते हैं ? कुछ जानवर केवल घास खाकर रहते हैं और कुछ लकड़ी के अतिरिक्त कुछ नहीं खाते। कुछ ऐसे भी हैं जो खाद मिट्टी (ह्यूमस) का भोजन करते हैं। जानवरों की इतनी विभिन्न अनगिनत जातियां क्यों हैं ? प्रत्येक जाति का व्यवहार दूसरी जाति से बहुत भिन्न होता है। कुछ जानवर शर्मीले,

और कुछ इतने खूंखार क्यों होते हैं ? इस संसार में जीवों का एकमात्र उद्देश्य केवल जिंदा रहना ही नहीं है, (जैसा डारविन ने विकास सिद्धांत में बताया था) जिसके लिए वे, पर्यावरण से अपने लिए सर्वोत्तम लाभ पाने हेतु सबसे संघर्ष करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि जीवन का ध्येय निरंतर अपने में सुधार करके केवल अपना विकास करना है। केवल पूर्णता प्राप्त करना भी जीवन का असली उद्देश्य नहीं हो सकता।

अतः हमारे विचारों में फिर एक क्रांति आती है। अब इस नई विचारधारा के अनुसार, जीवन के उद्देश्य का संबंध, पर्यावरण के प्रति उस जीव के कार्य की उपयोगिता से है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी जीव सृष्टिकर्ता के कर्मचारी हैं जैसे कोई बड़े भवन में नौकर चाकर रहते हों और सबको एक विशेष कार्य सौंपा गया है। पृथ्वी पर प्रकृति का संतुलन, इन असंख्य जीवों के कार्यकलाप से बना हुआ है। इनमें से प्रत्येक अपने कार्य से बंधा हुआ है। हमें व्यवहार के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक के जीवन से संबंधित आवश्यकताओं को पूरा करना ही व्यवहार का उद्देश्य नहीं है, वरन उससे कहीं अधिक है।

यदि ऐसा है तो उन विकासवादी सिद्धांतों का क्या होगा जिनकी विज्ञान में इतने समय से बहुत प्रतिष्ठा बनी हुई है ? क्या वे सब अब समाप्त हो जाएंगे ? नहीं ऐसा नहीं होगा। उनका केवल विस्तार हो रहा है। निस्संदेह अब विकास की धारणा को उसके पुराने रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा जिसके अनुसार एक अनिश्चित पूर्णता की ओर प्रगति ही विकास कहलाती थी। आज विकास की परिकल्पना व्यापक हो गई है। अब विभिन्न जीवों की गतिविधियों को जोड़ने वाले आपसी क्रियाशील संबंध भी विकास के क्षेत्र में आते हैं।

क्रियाशील संबंध केवल परस्पर सहायता के उदाहरण मात्र नहीं हैं। ये सब विश्वव्यापी उद्देश्य से—समस्त संसार के पर्यावरण और विश्व की एकता—से जुड़े हुए हैं। इस उद्देश्य के फलस्वरूप जो व्यवस्था स्थापित होती है, उसमें सब जीव अपने जीवन के लिए आवश्यक तत्व प्राप्त करते हैं।

पिछली शताब्दी के भू-वैज्ञानिक यह स्वीकार कर चुके थे कि जीवन का प्रभाव पृथ्वी पर भी पड़ता है। डारविन के समकालीन लायल ने यह बताया था कि विभिन्न जातियों के जीव, पृथ्वी के विकास क्रम के विभिन्न कालों में कैसे उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वी की विभिन्न सतहों पर चट्टानों की परतों में मिले जानवरों के पाषाणीकृत अवशेषों (फॉसिल्स) के आधार पर उसने यह प्रमाणित किया कि पृथ्वी पर जीवन बहुत प्राचीन समय से है। परंतु उसके बाद के भू वैज्ञानिकों ने यह भी प्रदर्शित किया है कि पृथ्वी की सतह के निर्माण में जानवरों के व्यवहार का भी असर पड़ा है। इस शताब्दी के आरंभ में फ्रेडरिक रैट्जैल की पुस्तक "पृथ्वी और जीवन" की, मेरे देश में बहुत चर्चा थी। उसके बाद अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जिनमें अनेक नई खोजों का, तथा उन पर आधारित परिणामों का उल्लेख है।

पहले तो इसी बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि समुद्र में पाए जाने वाले जानवरों के अवशेष हिमालय और आल्प्स जैसे ऊंचे पहाड़ों की चट्टानों पर मिले हैं। पहाड़ों की चोटियों

से पानी के साथ बह कर आए मलवे में भी ये अवशेष मिलते हैं। निस्संदेह, इन जानवरों ने पृथ्वी पर जमीन बनाने में सहायता की होगी जैसे हम आज भी असंख्य प्रवाल द्वीपों में देखते हैं, जो विशाल समुद्रों में फूलों की तरह उभर कर आते हैं। ये अवशेष उन निर्माताओं की याद दिलाते हैं जिन्होंने विनष्ट होते हुए संसार को पुनर्जीवित किया।

इसके और भी प्रमाण तथा अध्ययन लगातार प्राप्त होते जा रहे हैं। केवल हवा और पानी ही पृथ्वी की सतह के निर्माण के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। इसमें जानवरों, वनस्पतियों और आदमियों का भी योगदान रहा है। इटली के भूवैज्ञानिक एंतोनियो स्तोपानी ने बताया कि जमीन की दशा किस तरह उस पर रहने वाले जीवधारियों पर निर्भर करती है। अंत में उसने कहा, "जानवरों की एक प्रशिक्षित और अनुशासित सेना है जो प्रकृति के संतुलन को सुरक्षित रखने के लिए निरंतर प्रयत्न करती रहती है।"

अब परिस्थिति-विज्ञान (इकोलॉजी) का उदय हो चुका है। यह विज्ञान की एक विशेष शाखा है जो सभी जीवधारियों के मध्य संबंधों का अध्ययन करती है। अतः एक प्रजाति के जीवों का दूसरी प्रजाति के जीवों के प्रति व्यवहार का अब इतना विस्तृत ज्ञान हो गया है कि लगता है मानो प्रकृति में अर्थशास्त्र लागू किया जा रहा है। इसकी सहायता से गांवों की स्थानीय व्यावहारिक समस्याओं का हल ढूंढ़ा जा सकता है जैसा वैज्ञानिक खेती में किया जा रहा है। उदाहरण के लिए यदि किसी क्षेत्र में बाहर के ऐसे पौधे आ जाते हैं जो खेती को नुकसान पहुंचाते हैं और आदमी के द्वारा काबू में नहीं आते तब उन पर नियंत्रण पाने के लिए परिस्थिति-विज्ञान की सहायता ली जाती है। उसके सुझाव के अनुसार बाहर से ऐसे विनाशकारी कीड़ों को मंगाया जा सकता है जो उस पौधे की फसल को समाप्त कर दें और आवश्यक संतुलन को पुनर्स्थापित कर दें। ऐसे उपाय कई स्थानों में उपयोग में लाए गए हैं, विशेषकर ऑस्ट्रेलिया में।

परिस्थिति-विज्ञान को जीव विज्ञान का व्यावहारिक रूप भी कहा जा सकता है क्योंकि इसका क्षेत्र विभिन्न प्रजातियों के जीवों के मध्य संबंधों का है न कि प्रत्येक प्रजाति की अलग-अलग विशेषताओं से।

आधुनिक ज्ञान का सबसे उपयोगी और ज्ञानवर्धक अंश उसका व्यावहारिक पक्ष है क्योंकि इसी के द्वारा हमें जीवधारियों की पर्यावरण के संग गतिविधियों की जानकारी मिलती है जिससे जीवन के विकास के हमारे ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है और वह हमें सच्चाई की एकजुटता के अधिक निकट पहुंचाता है। इस दृष्टिकोण से, जीवधारियों की पर्यावरण के संग गतिविधियां, सबसे प्रभावशाली और प्रामाणिक हैं। पृथ्वी पर जीवन का उद्देश्य केवल अपने को सुरक्षित रखना नहीं है वरन उस प्रक्रिया को गतिशील रखना है जो समस्त सृष्टि और प्रत्येक जीवधारी के लिए अत्यावश्यक है।

एक योजना : एक पद्धति

आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियां और सिद्धांत दोनों ही जीवन के रहस्य को समझाने में पूर्णतया सक्षम नहीं हैं परंतु प्रत्येक नई खोज हमें उसके निकट ले आती है।

हमें बाह्य तथ्यों से, जिनका हम पूरी तरह अवलोकन कर सकते हैं, आगे का कार्य करने के लिए उपयोगी मार्गदर्शन मिलता है। हमारी तरह के सब लोग जो शिक्षा के माध्यम से जीवन की सहायता करना चाहते हैं, बच्चे को अनिवार्यतः उसी दृष्टि से देखने को बाध्य हैं, जैसे अन्य किसी जीव को उसके विकास और वृद्धि की अवस्था में देखते हैं। इसीलिए हमें यह जानने की उत्सुकता होती है कि जीव विज्ञान में अर्थात समस्त जीवों की दुनिया में, मानव के बचपन का क्या स्थान है। जीवन के विकास की पुरानी परिकल्पना के अनुसार, परिस्थिति के अनुकूल बनने का प्रयास, वंशानुगत परंपरा तथा पूर्णता प्राप्त करने की अंतःप्रेरणा ही विकास का कारण है। परंतु अब इस परिकल्पना से समस्त बातें नहीं समझाई जा सकतीं। इसके अतिरिक्त एक और प्रभाव है जो केवल जीवित रहने की अंतःप्रेरणा मात्र नहीं है, वरन समन्वय प्राप्त करने की इच्छा है। इसके अनुसार सभी के प्रयत्न मिल कर एक व्यापक लक्ष्य की ओर कार्य करते हैं।

अतः बच्चे में एक महत्वपूर्ण प्रेरणा होती है—अपनी संरचना करना और पूर्णता को प्राप्त करना। इसके अतिरिक्त उसका एक अन्य उद्देश्य भी होता है। वह है समन्वय प्राप्त करना जो उसे पूर्ण इकाई के हेतु करना होता है।

आप शायद यही पूछेंगे, "बचपन का असली उद्देश्य क्या है ?" और हम विश्वास सहित वैज्ञानिक शिक्षा में आगे प्रगति नहीं कर सकते जब तक इस प्रश्न का उत्तर न दे दें।

बच्चे को दो कर्तव्य एक साथ निभाने चाहिए। यदि हम केवल एक पर ही ध्यान दें--अर्थात्बड़े होने का कर्तव्य तो शायद उसकी समुचित शक्तियों का पूरा उपयोग नहीं हो पाएगा।

हम इस बात को पहले ही तर्कसंगत मान चुके हैं कि जन्म के समय बच्चे में रचनात्मक संभावनाएं होती हैं, जिन्हें वातावरण में उसकी गतिविधियों द्वारा प्रकट होकर सामने आना चाहिए।

वह शून्य से आता है अर्थात उसके पास कोई मानसिक गुण, कोई पूर्व स्थापित चलने फिरने की शक्ति नहीं होती, परंतु उसके अंदर की संभावनाएं उसके विकास को निर्धारित करती हैं और इस विकास का रूप उसके चारों ओर के संसार पर आधारित होता है।

नवजात शिशु की इस शून्यता की तुलना बीज-कोशिका की शून्यता से की जा सकती है।

यह बात सरलता से गले नहीं उतरती। वूल्फ ने अपने समय में सबको इसी बात से आश्चर्यचकित कर दिया था कि मनुष्य का शरीर पूर्व निर्मित नहीं होता, जैसा उस समय के दार्शनिक मानते थे। इसी तरह हमें इस बात पर भी बहुत आश्चर्य होता है कि बच्चा जन्म के समय अपनी जाति, या अपने परिवार की कोई उपलब्धियां साथ में नहीं लाता।

यह सब उसे स्वयं निर्माण करनी पड़ती है। संसार में सभी जगह, सभी जातियों में, चाहे वे सभ्य हों या असभ्य, ऐसा ही होता है। प्रत्येक बच्चे का, जन्म के समय एक ही रूप होता है--अचल, खाली और महत्वहीन।

परंतु इस निष्क्रिय जीव के अंदर एक व्यापक शक्ति होती है--"मानव रचनात्मक तत्व" जो उसको अपने समय और सभ्यता के अनुकूल मनुष्य बनने को प्रेरित करती है। अपने ग्रहणशीलता के गुण के कारण वह अपना विस्तार करता है और यह बात हम संपूर्ण मानव जाति के लिए सही पाते हैं।

बच्चे का कर्तव्य है कि वह इस विकासशील समाज की वर्तमान अवस्था तक पहुंचे—ऐसा समाज जो हजारों लाखों वर्ष पुराना है और हजारों लाखों वर्षों तक शायद चलेगा। बच्चे को सभ्यता के वर्तमान स्तर तक पहुंचना होता है और यह वर्तमान स्तर भी सदा समान नहीं रहता।

यह एक अनोखी बात है कि अर्जित विशेषताओं का वंशानुगत संप्रेषण नहीं होता और वे सब जन्म के बाद ही विकसित होती हैं। इसे समझना कठिन है कि इस विकास में कितना हाथ वयस्क का है और कितना बच्चे का।

एक बात और ध्यान देने की है। बच्चा अपने चारों ओर जो भी देखता है, उसे वह सम भाव से तथा जैविक उदासीनता से अपने में आत्मसात कर लेता है और वह उसके चरित्र का भाग बन जाती है। यह तथ्य हम समस्त मानव जाति में पाते हैं और यह मानव जाति की एकरूपता का प्रमाण है।

इसी आश्चर्यजनक सत्य की और पुष्टि करने के लिए पिछड़ी जनजातियों के अनेक अध्ययन किए जा रहे हैं जहां इनके और प्रमाण मिलने की आशा है।

डा. रुथ बेनेडिक्ट ने अपनी नई पुस्तक "संस्कृति के रूप" (पैटर्न्स ऑफ कल्चर) में लिखा है कि फ्रांसीसियों का एक मिशनरी दल, जो मानव जाति विज्ञान (एथनोलॉजी) पर अध्ययन कर रहा था, पेटेगोनिया पहुंचा, जहां पर आज भी संसार की प्राचीनतम जातियां रहती हैं। इनके जीवन का ढंग और सामाजिक प्रथाएं, पाषाणयुगीन हैं। इन्हें गोरी चमड़ी वाले आदमियों से डर लगता है, अतः इस दल के वहां पहुंचते ही वे सब भाग गए। परंतु, भागने की जल्दी में एक नवजात बालिका वहीं छूट गई, जिसे मिशनरी दल ने उठा लिया। आज वह लड़की एक बुद्धिमती नवयुवती है, जिसे यूरोप की दो भाषाएं आती हैं। उसकी आदतें पाश्चात्य संस्कृति की हैं; धर्म कैथोलिक है; और वह एक विश्वविद्यालय में जीव विज्ञान का अध्ययन कर रही है। अठारह वर्ष की अवधि में वह सही मायने में पाषाण काल से परमाणु काल में आ गई।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में, बिना प्रयास किए, पूर्णतः अचेतन रूप से व्यक्ति की आश्चर्यजनक उपलब्धियां हो सकती हैं।

बाह्य संसार में विशेषताओं को अपने में ग्रहण कर लेना एक जैविक तथ्य है जो हमें जीव विज्ञान में अनुकृति की याद दिलाता है। यह दुर्लभ होती है पर उतनी असाधारण नहीं

जैसा पहले समझा जाता था। इसके अब अधिकाधिक उदाहरण मिलते जा रहे हैं। यहां तक कि बर्लिन के प्राणिविज्ञान संग्रहालय में इनका एक बड़ा संग्रह प्रदर्शित किया गया है। अनुकृति सुरक्षा का एक तरीका है जिसमें अपने चारों ओर के वातावरण को जीव अपने शरीर में आत्मसात कर लेता है। ध्रुव प्रदेशीय भालू की खाल का सफ़ेद होना, तितलियों के पंखों का पत्तियों की शकल का होना, कुछ कीड़ों का पेड़ों के हरे डंठल की तरह होना, और किसी मछली का चपटा तथा रेतीली दिखाई देना—ये सब श्रेणी में आते हैं।

वातावरण के जिन लक्षणों की जीव अनुकृति करता है, उनका क्या इतिहास है या जीव को उनका सचेत ज्ञान होता है या नहीं; इन सबका अनुकृति से कोई संबंध नहीं होता। जीवों की कुछ जातियां अपने वातावरण के विविध लक्षणों को केवल देख लेती हैं, अन्य उन्हें आत्मसात कर लेती हैं।

यद्यपि जानवरों द्वारा अनुकृति का उदाहरण बच्चों के मानसिक विकास की प्रकृति से नितांत भिन्न है, फिर भी अन्य जीवों के इस उदाहरण से हमें अपने बचपन को समझने में सहायता मिलती है।

अध्याय सात

मानसिक भ्रूण

हमने देखा कि नवजात शिशु को मानसिक क्षेत्र में अपनी संरचना करनी पड़ती है जैसी कि भ्रूण ने गर्भावस्था में शारीरिक क्षेत्र में की थी। यद्यपि उसके जन्म के बाद का काल उस जीवन से भिन्न है जो उसने गर्भ में बिताया था, फिर भी वह उस आदमी से भी भिन्न है जो वह आगे जाकर बनेगा। जन्मोत्तर कार्यकलापों की प्रकृति रचनात्मक होती है। इसलिए इस काल को "रचनात्मक काल" कहा जाता है। इस काल में नवजात शिशु मानो एक प्रकार की "मानसिक भ्रूणावस्था" में होता है।

ऐसा लगता है कि आदमी की दो भ्रूणावस्थाएं होती हैं। एक तो अन्य जानवरों की तरह जन्मपूर्व अवस्था, और दूसरी जन्मोत्तर अवस्था, जो केवल आदमी में ही पाई जाती है। आदमी का यह लंबा शैशव काल उसे जानवरों से पूर्णतया पृथक कर देता है, और यह तथ्य मनुष्य को अन्य सबसे भिन्नता प्रदान करता है। मनुष्य की शक्तियां और क्षमताएं न तो पूर्वगामी जीवों से प्राप्त हुई हैं और न उन पर आधारित हैं। उससे पृथ्वी पर एक नवीन, उच्चतर जीवन का आंरभ होता है।

जीवों की विभिन्न प्रजातियों को पहचानने के लिए सदा उनकी विभिन्नताओं पर ध्यान दिया जाता है, समानता पर नहीं। किसी भी प्रजाति की स्थापना सदा किसी नए तत्व के कारण होती है। वह पुरानी प्रजाति से केवल व्युत्पन्न नहीं होती, उसमें कुछ नवीनता होती है। उसमें कुछ विशेष लक्षण होते हैं जो पहले नहीं थे। मनुष्य के आने से संसार में एक नए तथ्य का प्रारंभ होता है।

स्तनपायी जीवों और चिड़ियों के उदय के समय भी कुछ ऐसा ही हुआ था। उनमें *नए तत्व* थे। वे अपने पूर्वगामी जीवों की प्रतिलिपियां मात्र या उनकी रूपांतरित आकृति नहीं थे। डायनासोर के विलुप्त हो जाने के बाद चिड़ियों में नई विशेषताओं का उदय हुआ। जैसे, अपने अंडों की सुरक्षा करना, घोंसले बनाना, बच्चों की देखभाल करना और उनकी बहादुरी से रक्षा करना। इसके विपरीत, संवेदनाशून्य रेंगने वाले जीव अपने अंडों को त्याग देते हैं। स्तनपायी जीव तो अपनी प्रजाति की सुरक्षा में चिड़ियों से भी आगे थे। वे घोंसले नहीं बनाते थे परंतु अपने बच्चों को अपने शरीर के अंदर ही बड़ा करते थे और उन्हें अपने खून से पोषित करते थे। ये सब बिलकुल नई जैविक विशेषताएं थीं।

इसके बाद एक नए जीव—मानव—का उदय हुआ। मानव प्रजाति में दोहरी भ्रूण अवस्था

होती है। इसकी रचना नए डिजाइन की है और अन्य जीवों को देखते हुए, इसकी नियति भिन्न है।

इतना जान लेने के बाद, हम बच्चों के विकास तथा मनुष्य के मानसिक पक्ष का अध्ययन एक बार फिर नए सिरे से आरंभ करें। यदि इस संसार में मनुष्य के कार्य, उसकी आत्मा और रचनात्मक बुद्धि से जुड़े हुए हैं, तो उसके अस्तित्व और शरीर के सब कार्यों का आधार, उसकी आत्मा और बुद्धि होनी चाहिए। इन्हीं के चारों ओर उसके व्यवहार और शारीरिक कार्य संगठित होते हैं। अतः पूर्ण मानव का विकास मानो एक आध्यात्मिक प्रभा मंडल के अंतर्गत होता है।

आज पश्चिम में भी इस विचार को स्वीकार किया जाने लगा है, जिसका भारतीय दर्शन में सदा से महत्व माना जाता था। हमारे अनुभवों ने हमें इस ओर ध्यान देने को बाध्य किया है कि शारीरिक बीमारियां अक्सर मानसिक अवस्थाओं के कारण होती हैं, क्योंकि उस समय हमारा मानस, हमारे शरीर पर उचित नियंत्रण नहीं रख पाता।

यदि मानव की प्रकृति अपने इस आध्यात्मिक प्रभामंडल से शासित होने की ही हो, यदि वह इसी पर निर्भर रहता है और उसका सारा आचरण इसी का परिणाम है, तो जाहिर है कि हमें नवजात शिशु के मानसिक जीवन पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए—केवल उसके शारीरिक जीवन पर नहीं, जैसा आजकल का नियम है।

बच्चे में अनुकूलन की प्रवृत्ति

विकासशील बच्चा आदमी के गुण अर्जित करता है—शक्ति, बुद्धि, भाषा; पर साथ ही वह उस आदमी को, जिसकी वह रचना कर रहा है, चारों ओर के संसार के उपयुक्त भी बनाता है। यही उसका विशेष मानसिक गुण है जो वयस्कों से बिलकुल भिन्न है। पर्यावरण से बच्चे का संबंध, वयस्कों का पर्यावरण से संबंध से भिन्न है। वयस्क अपने पर्यावरण की प्रशंसा करते हैं, वे उसे याद रख सकते हैं, उस पर विचार कर सकते हैं, परंतु बच्चा उसका अवशोषण करता है। जो चीजें वह देखता है, उन्हें वह याद नहीं रखता, वे उसके मानस का अंग बन जाती हैं। अपने चारों ओर के संसार को—जिसे वह अपनी आंखों से देख सकता है या कानों से सुन सकता है—आत्मसात कर लेता है। इस तथ्य का तुरंत कोई उपयोग न भी हो, पर बच्चे का व्यक्तित्व इससे बदल जाता है। यह विशेष प्रकार की याददाश्त है जो सचेतन रूप से याद नहीं रहती पर बच्चे के जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है। इसे सर पर्सी नन ने एक विशेष नाम दिया है। वे इसे "नेमे" कहते हैं।

इसका एक उदाहरण तो हम देख चुके हैं—वह है भाषा। बच्चे को ध्वनियां याद नहीं रहतीं, वह उन्हें अंगीकृत कर लेता है और उनका सही उच्चारण कर सकता है। वह भाषा को, उसके सभी जटिल नियमों और अपवादों सहित, सही बोल लेता है, यद्यपि उसने उस भाषा का अध्ययन नहीं किया और न उसने साधारण याददाश्त का उपयोग किया। शायद

भाषा सीखने की इस प्रक्रिया की उसे याद भी नहीं होती, परंतु वह भाषा उसके मानसिक जीवन का, और स्वयं उसका अंग बन जाती है। यह स्मृति विषयक तथ्य से भिन्न वस्तु है और बच्चे के दिमाग का एक सबसे आश्चर्यजनक लक्षण है। बच्चे में एक विशेष प्रकार की संवेदनशीलता होती है जिसके कारण वह अपने चारों ओर की चीजों को अवशोषित कर लेता है। अवलोकन और अवशोषण का कार्य ही उसे जीवन के अनुकूल बनने में सहायता करता है। इसे वह उस अचेतन शक्ति के कारण करता है जो उसे केवल बचपन में प्राप्त होती है।

बच्चे के जीवन की पहली अवस्था अनुकूलन की है। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि इस अनुकूलन से क्या तात्पर्य है और बच्चे तथा वयस्क में अनुकूलन प्रक्रिया में क्या भेद हैं। बच्चे की इसी विशेष अनुकूलन प्रक्रिया के कारण, वह सदा अपनी जन्मभूमि में ही रहना चाहता है और अपनी मातृभाषा को ही वह पूर्णरूप से सही बोल पाता है। वयस्क होने के बाद जो विदेश में जाकर रहते हैं, वे कभी उस मात्रा में अपने को उस देश के अनुकूल नही बना पाते। मिशनरी लोगों के बारे में जरा सोचिए। ये अपनी स्वेच्छा से, धर्म का प्रचार करने, दूर देशों में जाते हैं। यदि आप उनसे बात करें तो वे कहेंगे, "धर्म के लिए यहां रह कर हमने अपने जीवन का बलिदान कर दिया।" अर्थात उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया कि वे उस देश में सुखी नहीं हैं। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि वयस्क की अनुकूलन की क्षमता कितनी सीमित होती है।

अब बच्चे की ओर देखें। वह जिस भूमि पर पैदा होता है, उसे प्यार करने लगता है, चाहे वह कहीं भी हो। उसे वहां के जीवन के बराबर सुख कहीं और नहीं मिलेगा, चाहे वह जीवन कितना ही कष्टदायी हो। किसी को फिनलैंड के बर्फीले मैदान अच्छे लगते हैं तो किसी को हॉलैंड के रेतीले टीले। प्रत्येक ने अपने को बचपन में अपने देश के अनुकूल बना लिया है।

यह अनुकूलन बच्चा ही करता है और वयस्क उसे प्राप्त करता है। उसके बाद वयस्क के मन में यह भावना उठती है कि वह इस देश का नागरिक है, उसे अपने देश से प्यार करना चाहिए तथा देश के प्रति आकर्षण होना चाहिए। उसे और कहीं इतना सुख और इतनी शांति नहीं मिलती।

किसी समय इटली में, गांव में पैदा होने वाले, गांव से बाहर कहीं नहीं जाते थे और आजन्म वहीं रहते थे। जब इटली एक राष्ट्र बन गया तो बहुतों को विवाह के कारण या काम की वजह से, अपने जन्म स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान जाना पड़ा। उनको एक असाधारण रोग होने लगा। उसके लक्षण थे—शरीर पीला पड़ जाना, उदासी छा जाना, कमजोरी और रक्त की कमी। इसके कई इलाज किए गए। अंत में डॉक्टर ने मरीजों को यही सलाह दी कि अपने गांव वापस जाकर वहां की हवा में रहो। और प्रायः सदा ही इस सलाह का परिणाम अच्छा निकला। मरीज का रंग और स्वास्थ्य फिर से पहले जैसा हो जाता था। लोग कहते थे कि अपने गांव की हवा सर्वोत्तम इलाज है चाहे उस गांव की जलवायु उस जगह

से बदतर ही हो जहां वे काम के लिए जाते थे। इन मरीजों के अचेतन मस्तिष्क में शांति उसी स्थान पर मिलती थी जहां वे बचपन में खेले थे।

हम लोगों के लिए मस्तिष्क का यह ग्रहणशीलता वाला रूप बहुत महत्वपूर्ण है। यही वयस्क के व्यक्तित्व का निर्माण करता है और उसे हर प्रकार के समाज, जलवायु या देश के अनुकूल बना देता है। इसी पर हमारा समस्त अध्ययन आधारित है। हम इस बात पर भी ध्यान दें कि जो यह कहता है कि "मैं अपने देश से प्रेम करता हूं" वह कोई बनावटी या दिखावे की बात नहीं कर रहा है वरन वह स्वयं अपने आधारभूत अंश को प्रकट कर रहा है।

अतः यह बात समझ में आती है कि अपने विशेष मानसिक गुण के कारण बच्चा कैसे अपने देश के रीति-रिवाजों को ग्रहण कर लेता है और अपने देश तथा समय के अनुकूल व्यक्ति का निर्माण करता है। स्थानीय व्यवहार को भी मनुष्य अपने बचपन में आत्मसात करता है। यह तो स्पष्ट है कि किसी क्षेत्र के रीति रिवाज तथा वहां की विशेष मानसिकता, ऐसी उपलब्धियां हैं जो व्यक्ति अर्जित करता है, क्योंकि वे प्राकृतिक या पैदाइशी नहीं होतीं। अतः अब हमें बच्चे की गतिविधियों की बेहतर जानकारी होने लगी है। वह अपना ऐसा आचरण विकसित करता है जो उसके समय और देश के नहीं, वरन स्थानीय मानसिकता के भी अनुकूल होता है। भारत में जीवन के प्रति इतना अधिक आदर है कि यहां के निवासी जानवरों की भी पूजा करते हैं। जानवरों के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम बड़े होने के बाद उत्पन्न नहीं हो सकता। केवल यह कहने से कि "जीवन आदर के योग्य है" हम उस भावना को ग्रहण नहीं कर लेते। अगर मैं सोचूंगी कि भारतीय ठीक ही कहते हैं, मुझे भी जानवरों का आदर करना चाहिए, तो यह मेरे मस्तिष्क का एक तर्क होगा; भावनाओं का परिणाम नहीं। गाय के लिए जो भावना भारतीयों में होती है, हम यूरोपवासियों में कभी नहीं हो सकती। भारतीय बाद में तर्क द्वारा उस भावना को मिटा भी नहीं सकते। ये सब मानसिक विशेषताएं वंशानुगत प्रतीत होती हैं, परंतु वास्तव में बच्चा इन्हें अपने वातावरण से अर्जित करता है। एक बार एक स्थानीय मांटेसरी स्कूल के बगीचे में हमने देखा कि एक दो वर्ष से जरा ही बड़ा हिंदू बच्चा, जमीन पर बड़े गौर से कुछ देख रहा है और लगता था कि वह अपनी उंगली से जमीन पर कुछ लकीर खींच रहा है। वहां पर एक चींटा था जिसके दो पांव टूट गए थे और वह मुश्किल से चल पा रहा था। बच्चे ने उसकी कठिनाई देख कर उसकी सहायता करनी चाही, और इसीलिए वह जमीन पर उंगली से उसके लिए रास्ता बना रहा था। कोई यही सोचेगा कि इस हिंदू बच्चे ने जानवरों के प्रति यह प्रेम वंशानुगत प्राप्त किया होगा।

एक और बच्चा इस दृश्य को देख कर वहां पहुंचा। उसने चींटे को देखा और अपने पांव से उसे कुचल दिया। यह दूसरा बच्चा मुसलमान था। ईसाई बच्चा भी शायद यही करता या अनदेखा करके आगे निकल जाता। कोई यही सोचेगा कि यह भावना भी वंशानुगत है कि आदमी और जानवर पृथक हैं तथा आदर और प्रेम केवल आदमी को ही मिलना चाहिए।

संसार में विभिन्न धर्म हैं। यदि कभी कोई जाति, तर्क के प्रभाव से अपने पुराने विचारों का तिरस्कार करे, तो उसके हृदय में बड़ी अशांति उत्पन्न होती है। विश्वास और भावनाएं, हमारा अभिन्न अंग बन जाती हैं। जैसा हम यूरोप में कहते हैं, "वे हमारे खून में हैं।" मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने वाली समस्त सामाजिक और नैतिक आदतें, जातिगत भावनाएं तथा अन्य सब प्रकार की भावनाएं जो उसे एक ठेठ भारतीय या एक ठेठ अंग्रेज बनाती हैं, बचपन में उस रहस्यमयी शक्ति द्वारा निर्मित होती हैं जिसे हम 'नेमे' कहते हैं।

अलग-अलग जातियों की अलग-अलग मुद्राएं और अलग-अलग चाल-ढाल भी इसी मानसिक शक्ति के परिणाम स्वरूप हैं। अफ्रीका के कुछ निवासी, जंगली जानवरों का सामना करने के लिए एक विशेष प्रकार की शारीरिक संरचना गठित कर लेते हैं। कुछ अन्य, अपनी सुनने की शक्ति को तीव्र करने के लिए ऐसे अभ्यास करते हैं जिससे जाति के सब सदस्यों की श्रवण शक्ति बहुत तेज होती है। बच्चा जो भी वैयक्तिक विशेषता अंगीकार करता है, वह उसके साथ सदा रहती है। और यदि किसी कारण से बाद में वह उसे त्याग दे, तो वह थोड़ी बहुत मात्रा में उसके अवचेतन मस्तिष्क में अवश्य बनी रहती है। बचपन में ग्रहण किया हुआ पूर्णतया कभी नहीं मिटाया जा सकता। 'नेमे' जिसे उच्च कोटि की याददाश्त भी कहा जा सकता है, व्यक्ति की विशेषताओं की रचना भी करती है और उन्हें जीवित भी रखती है। बच्चे ने जो ग्रहण किया वह जीवन पर्यंत उसके व्यक्तित्व का अंग बना रहता है। यही बात उसके शरीर के अंगों के लिए भी सच है। अतः प्रत्येक वयस्क पर, व्यक्तित्व का ठप्पा, उसके प्रारंभिक वर्षों में ही लग जाता है।

अतः वयस्कों का बदलना असंभव है। जब हम कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति के संस्कार अच्छे नहीं हैं" या जब हम किसी को फूहड़ कहते हैं, तो हम उसे आसानी से चोट पहुंचा सकते हैं या उसे नीचा दिखा सकते हैं और उसे अपने दोषों की ओर अवगत करा सकते हैं। परंतु उसके दोष दूर नहीं होते, क्योंकि वे उसके अंदर अंकित हो चुके हैं और बदले नहीं जा सकते।

इसी पद्धति से, इतिहास के विविध युगों में, मनुष्य ने अपने को उस युग के अनुकूल बनाया है। यद्यपि प्राचीन काल का वयस्क हमारे आज के संसार में नहीं रह सकता, परंतु बच्चा जिस युग में जन्म लेता है, उसी स्तर की सभ्यता को अपना लेता है। सभ्यता का चाहे जो स्तर हो, बच्चा जिस वयस्क का निर्माण करता है, वह उस सभ्यता में उसकी परंपरानुसार रह सकता है। इससे पता चलता है कि बचपन का असली कार्य, व्यक्ति को उसके वातावरण के अनुकूल बनाना है जिससे वह अपने चारों ओर के संसार में सहज रूप से रह सके और उसे प्रभावित कर सके।

अतः एक दृष्टि से बच्चा इतिहास के विविध कालों को, विभिन्न स्तर की सभ्यताओं को, जोड़ने वाला है। बचपन का सच में बहुत महत्व है। यदि हम व्यक्तियों में नए विचारों का प्रतिपादन करना चाहते हैं, और उनकी आदतों और रीति रिवाजों में सुधार करना चाहते हैं, उनके राष्ट्रीय चरित्र में नया जोश भरना चाहते हैं, तो हमें बच्चों से ही प्रारंभ करना

होगा क्योंकि वयस्कों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि हम सचमुच में संसार में सुधार करना चाहते हैं, तथा सभ्यता का विस्तार करना चाहते हैं, तो हमें इस उद्देश्य के लिए बच्चों की ओर ही जाना होगा।

भारत में अंग्रेजी राज की समाप्ति के कुछ ही पहले अंग्रेज राजनयिकों का एक परिवार बहुधा अपने दो बच्चों को, उनकी हिंदुस्तानी आया के साथ, एक अच्छे हिंदुस्तानी होटल में खाना खाने भेजता था। वहां पर वह आया, जमीन पर बैठ कर, बच्चों को हिंदुस्तानी तरीके से अपने हाथ से चावल खाना सिखाती थी। उनका विचार था कि ऐसा करने से, बच्चों के मन में हिंदुस्तानियों के हाथ से खाने के प्रति घृणा और अवज्ञा की भावना पैदा नहीं होगी, जो सामान्यतः यूरोप-वासियों में होती है। दैनिक जीवन की यही छोटी-छोटी विषमताएं, मनुष्यों में आपसी मनमुटाव का मुख्य कारण होती हैं। इसी तरह यदि यह प्रतीत हो कि आधुनिक प्रथाओं में विकार उत्पन्न हो रहा है और पुरानी व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है, तो बच्चों के माध्यम से ही कुछ ठोस उपलब्धि हो सकती है।

समाज को प्रभावित करने के लिए हमें अपना ध्यान बचपन के काल की ओर केंद्रित करना चाहिए। इसीलिए नर्सरी स्कूलों की इतनी महत्ता है, क्योंकि यहीं के बच्चे मानव जाति का निर्माण करेंगे और वे हमारे द्वारा उपलब्ध साधनों से ही यह कार्य कर पाएंगे।

शिक्षा, वातावरण के माध्यम से, बच्चों पर बहुत बड़ा प्रभाव डाल सकती है, क्योंकि बच्चा अपने वातावरण को अपने में अवशोषित कर लेता है, उसमें से सब कुछ ग्रहण करके उसे आत्मसात कर लेता है। उसके पास असीमित संभावनाएं हैं और वह मानव जाति की रचना करने के साथ-साथ उसे रूपांतरित भी कर सकता है। बच्चे ही हमें एक अच्छे भविष्य की आशा दिलाते हैं। हम शिक्षक बहुत कुछ कर सकते हैं जिससे मानव जाति में अधिक प्रेम, अधिक सहजता, अधिक सुख और अधिक नैतिकता उत्पन्न हो।

मानसिक भ्रूण का जीवन

इसका अर्थ है कि जन्म होते ही बच्चे का मानसिक जीवन शुरू हो जाता है और हमें इस बात को समझकर ही बच्चे के साथ व्यवहार करना चाहिए। आजकल नवजात शिशुओं के मानसिक जीवन पर बहुत ध्यान दिया जा रहा है। अब मनोवैज्ञानिक इस विषय में इतनी अधिक रुचि लेने लगे हैं कि शायद इस क्षेत्र में एक नए विज्ञान का उदय हो जाए जैसे स्वास्थ्य विज्ञान और बाल चिकित्सा का विकास हुआ है।

यदि जन्म के समय भी शिशु का मानसिक जीवन होता है तो वह जन्मपूर्व भी अवश्य होगा, वरना जन्म के समय उसका अस्तित्व ही नहीं होगा। अतः वह भ्रूण में भी होगा। यदि इसे मान लेते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि भ्रूण की किस अवस्था में मानसिक जीवन प्रारंभ हो सकता है ? हम जानते हैं कि कभी-कभी बच्चे का जन्म, नौ के बजाए सातवें महीने में ही हो जाता है। सातवें महीने का बच्चा भी जीवित रह सकता है। अतः उसका

मानसिक जीवन नौ महीने के बच्चे के बराबर ही कारगर होना चाहिए। इस उदाहरण पर मैं अधिक नहीं बोलूंगी। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सभी जीवन मानसिक होता है। जीवों की हर प्रजाति में कुछ मात्रा में मानसिक क्षमता अवश्य होती है, चाहे वह कितना ही आदिकालीन जीव हो। यदि हम एक कोशिकीय जीव का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उसमें भी बोध के चिह्न होते हैं। वे खतरे से दूर और भोजन की ओर चलते हैं आदि-आदि।

फिर भी कुछ समय पहले तक यही समझा जाता था कि बच्चे का कोई मानसिक जीवन नहीं होता। अभी कुछ ही समय से विज्ञान ने उसकी कुछ मानसिक प्रवृत्तियों को मान्यता दी है जिनकी ओर पहले ध्यान ही नहीं गया था।

कुछ तथ्य सामने आए हैं जिन्होंने वयस्कों के अंतःकरण में नई चेतना जगाई है। वे हमारे उत्तरदायित्वों की ओर संकेत करते हैं। जन्म की घटना में भी अचानक लोगों की बहुत रुचि बढ़ गई है और इसका प्रभाव मनश्चिकित्सा के साथ-साथ साहित्य पर भी पड़ा है।

मनोवैज्ञानिक अब "जन्म के कठिन अनुभव" की बातें करते हैं जिसमें वे मां का नहीं, वरन बच्चे का जिक्र करते हैं। बच्चा कुछ बोल नहीं सकता और चुपचाप सब झेलता है तथा अपनी यंत्रणा और जन्म की पीड़ा समाप्त होने पर ही रोता है।

जिस वातावरण में वह अब तक था, उससे पूर्णतया भिन्न वातावरण में अपने को ढालने के लिए मजबूर किए जाने पर अचानक ही उसे प्रवेश करना पड़ा है। प्रवेश करते ही उसे उन सब क्रियाओं को करना पड़ा जो उसने पहले नहीं की थीं और यह सब वह इतनी थकान की अवस्था में करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य के जीवन में यह सब से कठिन और सबसे रोमांचकारी परीक्षा है। बच्चे के मानसिक जीवन के इस संकटकालीन और निर्णायक क्षण को उन्होंने "जन्म का आतंक" कहा है।

हम ऐसे भय की बात नहीं कर रहे हैं जिसका सचेत अनुभव बच्चा कर सकता है। पर यदि बच्चे का मानस बोल सकता तो वह इस परिस्थिति में यही कहता, "तुमने मुझे इस भयानक संसार में क्यों डाल दिया है ? मैं क्या करूं ? मैं इस नई परिस्थिति में कैसे जीवित रहूं ? इतनी डरावनी आवाजों को भी कैसे सहूं ? मैंने तो कभी फुसफुसाना भी नहीं सुना। मैं वे सारे कार्य कैसे करना शुरू कर दूं जो अब तक तुम, मेरी मां, मेरे लिए करती रही थी ? मैं पाचन क्रिया कैसे करूं और कैसे सांस लूं ? मैं वातावरण के ये प्रचंड परिवर्तन कैसे सहन करूं ? मैंने तो सदा तुम्हारे शरीर के सामान्य और अपरिवर्तनशील तापमान का ही सुख पाया है।"

बच्चे को इसका भी आभास नहीं होता कि क्या हो गया ? कैसे हो गया ? उसे तो यह भी नहीं पता था कि यह जन्म होने का दर्द है। फिर भी उसके अचेतन मन में कुछ ऐसी भावनाएं उठ रही होंगी जिनको व्यक्त करने का मैंने प्रयत्न किया है। वह अपने रोने में इन्हीं को व्यक्त करता होगा।

अतः इस क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि बच्चे का संसार से प्रथम अनुकूलन कराने के लिए सहायता के कुछ तरीके अवश्य होंगे। हमें यह

कभी नहीं भूलना चाहिए कि छोटे से छोटा शिशु भी भय का अनुभव करता है। जन्म के बाद जब उन्हें नहलाने के लिए जल्दी से पानी में डाला जाता है तो प्रायः वे कस कर पकड़ने का प्रयास करते हैं मानो उन्हें ऐसा लग रहा है कि वे गिर रहे हैं। यह प्रतिक्रिया भय प्रदर्शित करती है। प्रकृति इस नवजात शिशु की सहायता कैसे करती है ? वह कुछ व्यवस्था तो अवश्य करती है। जैसे, वह मां में इस स्वाभाविक इच्छा को जाग्रत करती है कि वह बच्चे को कस कर अपनी छाती से लगा ले। इससे तेज रोशनी से बच्चे की सुरक्षा हो जाती है। प्रसव के बाद मां स्वयं भी कुछ समय तक लाचार स्थिति में रहती है। अपने लाभ के लिए वह निश्चल लेटी रहती है और उसकी यह मुद्रा, बच्चे में आवश्यक शांति की भावना का संचार करती है। सब कुछ ऐसे होता है मानो मां को अचेतन अनुभव है कि बच्चे को आघात पहुंचा है। उसे अपने पास कस कर चिपकाने से, बच्चे को उसकी गरमी मिलती है तथा वह बहुत से व्याघातों से बचा रहता है।

मानव माताओं में सुरक्षा के ये उपाय इतनी प्रबलता से प्रयुक्त नहीं किए जाते जितनी जानवरों की माताओं में किए जाते हैं। उदाहरणतः हम देखते हैं कि बिल्ली कैसे अपने बच्चों को अंधेरे कोने में छिपा देती है और कोई पास आता है तो आशंकित हो जाती है। मानव माता में सुरक्षा की स्वाभाविक भावना इतनी बलवती नहीं होती और इसलिए वह सरलता से समाप्त हो जाती है। बच्चे के जन्म लेते ही, कोई और उसे नहलाने तथा कपड़े पहनाने ले जाता है। फिर उसकी आंख का रंग देखने के लिए उसे रोशनी के सामने रखा जाता है। मानो वह कोई बेजान वस्तु है। उसका काम प्रकृति के अनुसार नहीं होता वरन मानव तर्क के अनुसार होता है, जो समझ की कमी के कारण बहुत सी भ्रांतियों का शिकार हो जाता है। एक भ्रांति तो यही सोचना है कि बच्चे का कोई मानसिक जीवन नहीं होता।

स्पष्ट है कि जन्म का यह क्षणिक समय अलग से विचार करने योग्य है।

इसका संबंध बच्चे के मानसिक जीवन से सामान्यतः नहीं होता। जन्म एक घटना है--बाह्य संसार से बच्चे का पहला सामना। प्राकृतिक इतिहास दिखाता है कि स्तनपायी जीवों में इस काल के लिए प्रकृति ने कितनी समझदार व्यवस्थाएं की हैं। बच्चा पैदा होने के कुछ समय पहले, मां अपने झुंड से अलग चली जाती है और जन्म के बाद कुछ समय तक वह अपने बच्चे के साथ अलग रहती है। यह उन जानवरों में विशेष रूप से अधिक होता है जो झुंड बना कर रहते हैं, जैसे--घोड़े, गाय, हाथी, भेड़िया, हिरन, और कुत्ते। इन सबमें हम यही प्रवृत्ति पाते हैं। अलग रहने की अवधि में बच्चों को अपने वातावरण के अनुकूल बनने का समय मिल जाता है। बच्चे अपनी मां के साथ अलग रहते हैं जो प्रेम से उनकी देखभाल और रक्षा करती है। इस अवधि में जानवर का छोटा बच्चा धीरे-धीरे क्रमिक मात्रा में अपनी जाति की तरह आचरण करने लगता है। पृथक रहने के इस काल में, बच्चे की अपने वातावरण से निरंतर मानसिक प्रतिक्रिया होती रहती है और इन प्रतिक्रियाओं में उसका व्यवहार जातिगत होता है। अतः जब मां फिर से अपने झुंड में वापस जाती है, तो बच्चा उसमें रहने के लिए तैयार रहता है--शारीरिक और मानसिक, दोनों दृष्टि से। बच्चे

का आचरण अब छोटे आकार के घोड़े, या छोटे आकार के भेड़िए या छोटे आकार के बछड़े आदि की तरह होता है।

हम इस बात पर भी ध्यान दें कि पालतू बनने के बाद भी, स्तनपायी जीव, इस विषय में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियां नहीं त्यागते हैं। हम अपने घरों में देखते हैं कि कुत्ते और बिल्ली अपने बच्चों को अपने शरीर से ढक कर छुपा देते हैं। इस तरह वे जंगल की अपनी पुरानी स्वाभाविक प्रवृत्ति को बनाए रखते हैं और इससे नवजात बच्चे और मां में अंतरंग संबंध विकसित होते हैं। हम कह सकते हैं कि बच्चे ने मां का शरीर तो त्याग दिया पर अभी भी वह उसके शरीर से जुड़ा रहता है। पहली अवस्था से दूसरी अवस्था में आने के लिए इससे अधिक व्यावहारिक सहायता की कल्पना नहीं की जा सकती।

आज हम इस जैविक अवस्था की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं—जीवन के प्रारंभिक दिनों में जानवर की जातिगत स्वाभाविक प्रवत्तियां जाग्रत हो जाती हैं।

ऐसा नहीं है कि कठिन परिस्थितियां, केवल उस अवसर के अनुरूप स्वाभाविक प्रवृत्तिगत प्रतिक्रियाओं को जाग्रत या प्रोत्साहित करती हैं, वरन ये समस्त क्रियाएं सृष्टि रचना की योजना की अंग हैं।

यदि ऐसा जानवरों के साथ होता है, तो कुछ ऐसा ही आदमी के साथ अवश्य होता होगा। जन्म का क्षण केवल एक कठिन क्षण ही नहीं होता, बल्कि एक निर्णायक क्षण होता है जिस पर पूरा भविष्य निर्भर करता है। इस समय संभावित क्षमताएं जाग्रत होती हैं। यही क्षमताएं बच्चे के रचनात्मक कार्य का निर्देशन करेंगी— अर्थात इस मानसिक भ्रूण का। चूंकि मानसिक विकास के हर महत्वूपर्ण परिवर्तन पर प्रकृति कुछ स्पष्ट शारीरिक संकेत प्रस्तुत करती है, इसीलिए हम देखते हैं कि मां और बच्चे को जोड़ने वाली नाभि नाड़ी जन्म के कुछ दिनों बाद गिरती है। यह पहली अवस्था बहुत महत्व की है क्योंकि इसी अवस्था में रहस्यमयी शक्तियां तैयार होती हैं।

अतः हमें केवल प्रसव पीड़ा के मानसिक आघात पर ही नहीं वरन उस आघात से उत्पन्न गतिविधियों की संभावना पर भी ध्यान देना चाहिए। यद्यपि मानव शिशु में (जानवरों की तरह) व्यवहार का निश्चित ढंग पूर्व स्थापित नहीं होता, फिर भी उसमें व्यवहार को प्रारंभ करने की क्षमता होती है। उसके पास, उसका निर्देशन करने के लिए पूर्वजानुरूप याददाश्त तो नहीं होती, परंतु बच्चे में एक धुंधली प्रेरणा के रूप में संभावित क्षमता होती है जो उसका निर्देशन करती है और अपने चारों ओर के व्यवहार को आत्मसात करने में उसकी सहायता करती है। जानवर जन्म के समय वंशानुगत व्यवहार अपने साथ लाता है। अपनी प्रकृति के फलस्वरूप वह सही प्रकार की गतिविधियां करता है, सही नियंत्रण रखता है, उपयुक्त भोजन का चयन करता है, और अपनी सुरक्षा भी जातिगत तरीके से करता है।

आदमी यह सब बातें जन्म के बाद सीखता है। बच्चे को जन्म के बाद अपने समाज की सब प्रथाएं अंगीकृत करनी होती है। वह उन्हें लेकर पैदा नहीं होता वरन उन्हें बाह्य संसार से स्वयं ग्रहण करता है। बचपन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यही अनुकूलन का है जो जानवरों के भ्रूण में वंशानुगत व्यवहार के रूप में पाया जाता है।

जन्म और विकास

बच्चे के इस विशेष कार्यकलाप को ध्यान में रखते हुए, अब हम मानव जीवन के "सामान्य तंत्र" के रूप में बच्चे के विकास की अवस्था का अध्ययन करेंगे। यह एक रोचक प्रसंग है।

इस शिशु को, जिसकी अभी शारीरिक रचना भी पूर्ण नहीं हो पाई है, मानव जैसे जटिल प्राणी के रूप में अपना निर्माण करना पड़ता है। जानवरों के बच्चों में, पैदा होते ही उनकी "स्वाभाविक प्रवृत्तियां" जाग्रत हो जाती हैं, पर मानव शिशु में ऐसा नहीं है। जन्म होने के बाद भी, उसकी भ्रूण अवस्था का जीवन समाप्त नहीं होता और उसी रूप में वह जो निर्माण करता है, "वह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियां" प्रतीत होती हैं।

चूंकि उसमें पूर्व स्थापित कुछ नहीं है अतः उसे स्वयं मनुष्य के समस्त मानसिक जीवन का तथा सारे चालक यंत्रों का जिनके द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है, निर्माण करना पड़ता है।

वह एक निष्क्रिय जीव होता है जो अपने सिर का भार भी नहीं संभाल सकता, परंतु शीघ्र ही वह उस बच्चे की तरह व्यवहार करेगा जिसे यीशू मसीह ने पुनर्जीवित किया था। हमें बताया जाता है कि पहले वह बच्चा बैठ गया, फिर खड़ा हो गया और तब यीशू मसीह ने "उसे उसकी मां को सौंप दिया"। इसी तरह वह निश्चल शिशु पृथ्वी पर अपनी सब क्रियाओं को करने के बाद "मानव जाति को सौंप दिया जाएगा"।

बच्चे की शारीरिक असहाय स्थिति, हमें कॉगहिल की खोज की याद दिलाती है। उसके अनुसार मस्तिष्क में स्नायु केंद्रों की स्थापना के *बाद ही* प्रत्यंगों का निर्माण होता है और तभी वे अपना कार्य शुरू करते हैं। बच्चे में गतिविधियां प्रारंभ *होने के पहले,* उसके मानस पर व्यवहार के ढंग स्थापित करने होंगे। अतः बच्चे की गतिशीलता का आधार मानसिक होता है।

मनुष्य के विकास का प्रमुख पक्ष मानसिक विकास है। मनुष्य अपनी गतिविधियों के लिए अपने मानसिक निर्देशन एवं आदेश पर निर्भर रहता है। बुद्धि, मनुष्य को जानवर से अलग करती है। मनुष्य में सर्वप्रथम बुद्धि की रचना होती है। अन्य सारे विकास इसी बुद्धि पर निर्भर करते हैं।

जन्म के समय बच्चे के अंगों का निर्माण पूरा नहीं होता। उसकी हड्डियां अभी सख्त नहीं होतीं, चालक स्नायुओं (मोटर नर्व्स) में माइलिनिन की परत नहीं विकसित होती जो उन्हें एक दूसरे से पृथक करती है, जिससे वे मस्तिष्क के आदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचा सके। इसीलिए शरीर निष्क्रिय रहता है, मानो शरीर का केवल एक सादा नक्शा खींचा गया है।

मनुष्य में पहले बुद्धि का विकास होता है और शेष विकास उसके मानसिक जीवन पर आधारित होता है।

इसी से पता चलता है कि प्रथम वर्ष कितना महत्वपूर्ण है और मानव शिशु की विशेषता

यही है कि इसमें बुद्धि के विकास को प्राथमिकता दी गई है।

बच्चे के विकास के कई पहलू हैं जो सभी एक व्यापक नियम के अनुसार निश्चित क्रम से प्रकट होते हैं। जन्मोत्तर भ्रूण के विकास का विस्तृत अध्ययन बताता है कि कैसे पहले कपाल की हड्डियां जुड़ती हैं और कैसे उसके बाद हाथ-पांव की हड्डियां सख्त होती हैं। मेरुदंडीय स्नायु पर कब 'माइलिनिन' की परत चढ़ती है और कब अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) का तीव्र गति से विस्तार होता है। (अनुमस्तिष्क संतुलन स्थापित करने का अंग है जो जन्म के समय बहुत छोटा होता है।) अंत में कब अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा पाचन प्रक्रिया से संबंधित ग्रंथियों में परिवर्तन होता है।

ये तथ्य काफी समय से अच्छी तरह मालूम हैं। इनसे पता चलता है कि जैसे-जैसे शारीरिक विकास परिपक्व होता जाता है, उसके साथ ही साथ स्नायु तंत्र में क्रियात्मक परिवर्तन होते जाते हैं। उदाहरणतः यदि अनुमस्तिष्क और स्नायु में उचित स्तर की परिपक्वता नहीं आई है, तो बच्चा अपना संतुलन नहीं स्थापित कर सकता—अर्थात न बैठ सकता है न खड़ा हो सकता है।

शिक्षा या व्यायाम से इन प्रक्रियाओं में परिवर्तन संभव नहीं है। जब चालक स्नायु परिपक्व हो जाते हैं, तभी वे शनैः-शनैः मस्तिष्क के आदेशों का पालन प्रारंभ करते हैं। इसके कारण अंगों में गतिशीलता आती है जिससे वे बाह्य जगत में अनुभव प्राप्त कर सकें।

इन अनुभवों तथा इस गतिशीलता के कारण बच्चे की चेष्टाओं में समन्वय आता है और इस तरह वह इच्छानुसार उनका उपयुक्त प्रयोग कर सकता है।

अन्य जानवरों से भिन्न, जन्म के समय मनुष्य की क्रियाओं में समन्वय नहीं होता। उसे अपनी क्रियाएं स्वयं बनानी होती हैं तथा उनमें समन्वय भी स्वयं स्थापित करना होता है। उसका कोई पूर्व निश्चित उद्देश्य भी नहीं होता। वह भी उसे स्वयं ही ढूंढ़ना पड़ता है। अन्य स्तनपायी जीवों के बच्चे जन्म होते ही अपनी जाति की रीति के अनुसार चलते हैं, भागते हैं और कूदते हैं। वे जन्म के तत्काल बाद ही कठिन प्रकार के कार्य कर सकते हैं, जैसे पेड़ पर चढ़ना (यदि यह उनमें वंशानुगत है), रुकावटों को छलांग द्वारा पार कर लेना या तुरंत भाग जाना।

परंतु आदमी इस संसार में कोई योग्यता लेकर नहीं आता। पर उसमें क्रियाओं को सीखने की असीमित योग्यता होती है। वह विभिन्न प्रकार की जटिल गतिविधियों में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है, जैसे—कारीगरी, कलाबाजी, नृत्य, संगीत और खेलकूद के अनेक क्षेत्रों में चैंपियन बनना।

ये सब कलाएं केवल अंगों के परिपक्व होने से नहीं आतीं। कार्य का अनुभव और उसका अभ्यास, अर्थात शिक्षा द्वारा यह संभव होता है। व्यक्ति अपनी कला में स्वयं ही दक्षता प्राप्त करता है क्योंकि प्रारंभिक शारीरिक बनावट तो सबकी समान होती है। मनुष्य स्वयं ही अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।

अब बच्चों की बात करें। उनके कई तत्वों के मध्य भेदों को समझना आवश्यक है।

हम पहले इस तथ्य को स्वीकार कर लें कि यद्यपि बच्चे गतिमान तभी होते हैं जब शरीर उसके लिए तैयार हो जाता है, पर उनकी मानसिक स्थिति इस पर निर्भर नहीं करती है। क्योंकि मनुष्य में मानसिक पक्ष पहले विकसित होता है। अतः शारीरिक अंग तभी काम करते हैं जब दिमाग इतना विकसित हो कि वह उन अंगों से काम ले। परंतु जब अंग कार्य करना शुरू कर देते हैं, तो आगे का मानसिक विकास, इस गतिशीलता से प्राप्त चारों ओर के अनुभवों के फलस्वरूप होता है। अतः यदि बच्चे को गतिशीलता प्राप्त करने के बाद, उसे उपयोग करने का अवसर न मिले तो उसका मानसिक विकास रुक जाता है। यद्यपि मानसिक विकास की कोई सीमा नहीं है, पर वह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि बच्चा अपने क्रियात्मक अंगों का कितना उपयोग कर रहा है। उपयोग न करने से वह स्वयं को असमर्थ बनाता है।

मानसिक विकास का एक ही रहस्य है—उस व्यक्ति की भविष्य में नियति क्या है। प्रत्येक व्यक्ति के पास विभिन्न योग्यताएं होती हैं, जो उसके द्वारा आगे जाकर पनपाई जाएंगी, परंतु मानसिक भ्रूण अवस्था में इनका पता नहीं लगाया जा सकता।

इस अवस्था में हम यही देखते हैं कि संसार के सब शिशुओं में कितनी आश्चर्यजनक समानता है। यह कहा जा सकता है कि "जन्म के समय सब बच्चे एक से होते हैं। वे समान नियमों के अनुसार, समान रूप से विकसित होते हैं।" उनके मस्तिष्क में विकास की क्रिया वैसी ही होती है जैसी गर्भावस्था में भ्रूण के शरीर में होती है। कोशिकाओं के विभाजन की वही अवस्थाएं होती हैं। यह इस हद तक सच है कि एक भ्रूण और दूसरे भ्रूण में भेद बताना कठिन है। परंतु यही कोशिकाएं बाद में इतने विभिन्न प्रकार के जीवों की उत्पत्ति करती हैं, जैसे—छिपकली, चिड़िया और खरगोश। इनमें से प्रत्येक अपना प्रारंभिक निर्माण एक ही तरीके से करता है यद्यपि बाद में अति गंभीर विभिन्नताएं उत्पन्न हो जाती हैं।

यही बात हम मानसिक भ्रूण में भी पाते हैं जिसमें से बाद में कोई कलाकार, कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति, कोई जनप्रिय नेता और कोई संत या साधारण व्यक्ति उत्पन्न होता है। इन सभी व्यक्तियों की रुचि अलग-अलग होती है जिसके कारण वे समाज में अलग-अलग हैसियतों में पहुंचते हैं। उनकी नियति "एक सा काम करने की" या "एक सा व्यवहार करने की" नहीं है जैसी निम्नतर जीवों में होती है, जिनकी गतिविधियों पर वंशानुगत सीमाएं होती हैं।

परंतु हम पहले से नहीं बता सकते कि बच्चा बाद में जाकर कितना विकास करेगा या किस मार्ग पर चलेगा। भ्रूण की निर्माण अवस्था में तथा जन्मोत्तर अवस्था में, जब आदमी का व्यक्तित्व बनता है, इसका कोई स्थान नहीं है।

इस अवस्था में हम केवल जीवन आरंभ करने में उसकी सहायता कर सकते हैं और सभी का जीवन समान रूप से प्रारंभ होता है। सभी में पहली अवस्था वातावरण से अनुकूलन की होती है, और सभी में पहले मानसिक विकास होता है। इस अवस्था में, मानव जीवन

की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बच्चे की सहायता की जाए तो वह बाद में अपनी वैयक्तिक योग्यताओं का उत्तम विकास कर सकेगा।

अतः नन्हे शिशु की शिक्षा और उसके साथ व्यवहार का एक ही तरीका हो सकता है। यदि जन्म होते ही शिक्षा प्रारंभ की जाए, तो उस समय केवल एक ही प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए। भारतीय बच्चों, या चीनी बच्चों या यूरोपीय बच्चों या समाज के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग बच्चों की शिक्षा पद्धति में कोई भिन्नता नहीं हो सकती। हम तो एक ही प्रणाली की बात कर सकते हैं और वह है मनुष्य के सहज विकास में सहायक होना। सभी शिशुओं की मानसिक आवश्यकताएं हैं और आदमी बनने के लिए सभी समान अवस्थाओं से गुजरते हैं। हममें से प्रत्येक को बड़ा होने के लिए इन्हीं अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

इस वैज्ञानिक सत्य पर मतभेद की गुंजाइश नहीं है। चाहे कोई दार्शनिक हो, या विचारक, या प्रयोगशाला में काम करने वाला हो, वह इससे भिन्न कोई और मार्ग नहीं बता सकता।

केवल प्रकृति ही हमारा निर्देशन कर सकती है कि हम कैसी शिक्षा पद्धति का अनुसरण करें, क्योंकि प्रकृति ने कुछ नियम स्थापित किए हैं और विकास के दौरान आदमी की जरूरतों को निर्धारित किया है। यही प्रकृति का उद्देश्य है—मानव आवश्यकताओं को पूरा करना और जीवन के नियमों का पालन करना।

ये नियम और ये आवश्यकताएं, बच्चा स्वयं अपने प्रदर्शन तथा अपनी प्रगति से सूचित करेगा। उसकी शांत और सुखी मुद्रा, उसके प्रयत्नों की तीव्रता और उसकी नियमित प्रतिक्रियाएं, इसकी साक्षी होंगी।

हमारा एक ही कर्तव्य है कि बच्चे की आवश्यकता को तत्काल समझें और जितना बन सके, उसकी सहायता करें।

जन्म का क्षण

चिकित्सा मनोविज्ञान आजकल जन्म के क्षण की छोटी सी अवधि को, उसके बाद के विकास काल से पृथक मानता है। यद्यपि इसकी व्याख्या अभी केवल फ्रॉयड के सिद्धांतों पर आधारित है, फिर भी वे कुछ ठोस तथ्य प्रस्तुत करते हैं और एक महत्वपूर्ण भिन्नता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। यह भिन्नता है—"प्रतिगमन के लक्षण" जिनका संबंध सीधा प्रसव के मानसिक आघात से है, तथा "दमन के लक्षण" जिनका संबंध आगे के विकास काल में संभावित परिस्थितियों के उत्पन्न होने से है। 'प्रतिगमन' 'दमन' से भिन्न है। इसमें बच्चा एक अचेतन निर्णय लेता है जिसके अनुसार वह विकास में आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे की ओर जाता है।

अब यह अनुभव किया जाता है कि प्रसव का मानसिक आघात केवल बच्चे के रोने और विरोध प्रदर्शित करने में ही व्यक्त नहीं होता वरन उसके कारण बच्चे का विकास विकृत

हो सकता है। इसका प्रभाव उसकी मानसिकता पर पड़ता है। अतः उसका विकास सामान्य मार्ग को छोड़ कर, दूसरी दुर्भाग्यपूर्ण दिशा की ओर मुड़ जाता है।

कुछ बच्चों में जन्म के आघात से नकारात्मक प्रतिक्रिया होती है और प्रगति की अपेक्षा वे जन्मपूर्व स्थिति में जाना चाहते हैं। 'प्रतिगमन' के कई लक्षण हैं। परंतु सबमें एक समानता है। ऐसा लगता है कि मानो पीड़ित बच्चा इस निर्णय पर पहुंचा है, "मैं जहां से आया था, वहीं वापस जाऊंगा।" हम सोचते हैं कि छोटे बच्चे का बहुत देर तक सोना सामान्य है, परंतु हाल के पैदा हुए शिशु का भी बहुत अधिक सोना सामान्य नहीं है। फ्रायड के अनुसार यह बच्चे की संसार और जीवन के प्रति घोर विरुचि है जिसके कारण वह नींद की शरण में चला जाता है।

वैसे भी, नींद में हम अवचेतन संसार में विचरण करने लगते हैं। बहुत परेशान होने पर हम यही प्रयास करते हैं कि हमें नींद आ जाए, क्योंकि नींद में हम वास्तविकता से दूर—सपनों के संसार में चले जाते हैं जहां कोई संघर्ष नहीं होता। नींद, संसार से दूर जाने का एक आश्रय है। सोते समय शरीर की मुद्रा पर ध्यान दें। बच्चे की नींद की प्राकृतिक मुद्रा में वह अपने हाथों को मुंह के पास ले जाता है और पांवों को सिकोड़ लेता है। कभी-कभी वयस्क भी इसी मुद्रा में सोते हैं और ऐसा लगता है कि गर्भ में शरीर की जो मुद्रा थी, उसी में वे वापस लौटना चाहते हैं। प्रतिगमन का दूसरा लक्षण सोकर उठते ही रोना है। ऐसा लगता है कि वह डरा हुआ है मानो उसे इस अप्रिय संसार में आते समय जो भयानक अनुभूति हुई थी, उसे फिर से अनुभव न करना पड़े। छोटे बच्चों को अक्सर बुरे सपने आते हैं जिससे उनका जीवन के प्रति वैर का भाव और बढ़ जाता है।

थोड़ा और बड़ा होने पर सदा दूसरे के साथ चिपके रहना भी प्रतिगमन का ही रूप है, मानो बच्चे को अकेले रहने में डर लगता है। सदा दूसरे के साथ रहना प्यार का संकेत नहीं है वरन डर का है। बच्चा शर्मीला होता है और सदा किसी के निकट रहना चाहता है, विशेषतः मां के। उसे बाहर जाना अच्छा नहीं लगता और वह संसार से अलग, अपने घर में ही रहना पसंद करता है। संसार में जिन वस्तुओं से उसे सुख मिलना चाहिए वे उसे आशंकित करती हैं और नए प्रयोगों से उसे अरुचि होती है। चारों ओर का वातावरण आकर्षित करने के बजाए—जैसा एक बढ़ते हुए बच्चे को लगना चाहिए—उसे विकर्षित करता है। यदि बच्चे को अपने वातावरण से घृणा होने लगे, जिस पर उसका विकास निर्भर है, तो स्वाभाविक है कि वह उचित रूप से बड़ा नहीं होगा। ऐसे बच्चे को कभी विजय प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती और न वह अपने चारों ओर के संसार को अपने में आत्मसात कर सकेगा। उसके लिए ग्रहणशीलता सदा कठिन होगी और कभी पूरी नहीं हो पाएगी। वह इस कहावत का जीता जागता रूप होगा, "मनुष्य की नियति ही दुःख है।" उसे सब चीजें बुरी लगती हैं। सांस लेने में भी उसे प्रयास करना पड़ता है। वह जो कुछ भी करता है, खुशी से नहीं करता है। ऐसे व्यक्तियों को अधिक नींद और आराम की जरूरत होती है। अक्सर उनका पेट खराब रहता है। आप खुद ही सोच सकते हैं कि ऐसे बच्चों का क्या

भविष्य होगा, क्योंकि ये लक्षण अस्थायी नहीं होते, ये आजन्म उसके साथ रहते हैं। ऐसा बच्चा बात-बात पर रोता है, सदा सहायता की पुकार करता है। वह आलसी, उदास और निराश प्रतीत होता है। बड़ा होने पर भी उसे संसार से नफरत होती है। वह नए व्यक्तियों से मिलने में हिचकिचाता है और स्वभावतः शर्मीला होता है। जीवन के संघर्ष में ऐसे लोग सदा निम्न श्रेणी में रहते हैं। इनके सामाजिक जीवन में कोई सुख, खुशी और साहस नहीं होता।

अचेतन मानस का यह भयानक दुष्परिणाम है। सचेत यादें तो आदमी भूल भी जाता है, परंतु लगता है कि अचेतन को कुछ महसूस नहीं होता, और न कुछ याद करने को होता है, पर उसका परिणाम और भी बुरा होता है, क्योंकि इस समय का प्रभाव 'नेमे' में चला जाता है। वह उसके व्यक्तित्व पर अंकित हो जाता है।

मनुष्य जाति के लिए यही बहुत बड़ा खतरा है। जिस बच्चे को बचपन में ऐसा संरक्षण नहीं मिला जिससे उसका उचित निर्माण हो सके, वह बाद में उसी प्रकार का वयस्क बन कर उस समाज से बदला लेगा। ऐसा नहीं है कि हमारी इस उपेक्षा के लिए वह हमसे विद्रोह करेगा, जैसा कोई वयस्क करता, परंतु इसके कारण ऐसे व्यक्तियों का निर्माण होगा जो कमजोर होंगे जैसा उन्हें नहीं होना चाहिए।

इसके कारण ऐसे आंतरिक परिवर्तन होते हैं जो व्यक्ति के जीवन में रुकावटें बन जाते हैं और ऐसे व्यक्तित्व विकसित होते हैं जो संसार की प्रगति में बाधा डालते हैं।

नीहारिका (नेब्यूल)

ऊपर मैंने आपको यह बताया कि आजकल मनोविशेषज्ञ आदमी के मानसिक जीवन में जन्म के क्षण को कितनी महत्ता देने लगे हैं। परंतु अभी तक हमने प्रारंभिक निरीक्षणों की ही चर्चा की है, खासकर मैंने आपको प्रतिगमन के खतरों से अवगत कराया है। इसके साथ ही साथ हम अब उन उपायों पर भी दृष्टि डालें, जो स्तनपायी जीव अपने बच्चों की सुरक्षा के लिए अपनाते हैं। प्राकृतिक वैज्ञानिकों के अनुसार, जन्म के बाद के प्रारंभिक दिनों में मां द्वारा विस्तृत और विशेष देखरेख, तथा नवजात शिशु में अपनी जातिगत स्वाभाविक प्रवृत्ति जाग्रत होने में गहरा संबंध है। इस तथ्य से हमें बच्चे की मानसिक स्थिति को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

हमने देखा कि बच्चे का अपने नए वातावरण से अनुकूलन कितना महत्व रखता है, परंतु इसके साथ ही साथ हमें उसके जन्म के आघात का भी ध्यान रखना चाहिए। इनसे हमें यह स्पष्टतः विदित होता है कि मां की तरह, बच्चे की भी विशेष देखभाल होनी चाहिए। मां और बच्चे की समस्याएं अलग-अलग हैं, परंतु दोनों ही को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जहां तक बच्चे का संबंध है, यद्यपि उसके शारीरिक जीवन में भी जोखिम रहता है, परंतु उसके मानसिक जीवन को अपेक्षाकृत अधिक खतरा है। यदि प्रतिगमन के लक्षणों

का एकमात्र कारण जन्म के समय का आघात होता, तो सभी बच्चों में ये लक्षण प्रकट होते। इसीलिए हम एक अधिक व्यापक परिकल्पना को प्रस्तुत करते हैं जिसके अंतर्गत आदमी और जानवर सभी आ जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि जीवन के प्रारंभिक दिनों में कुछ बहुत महत्वपूर्ण घटनाएं होती हैं। स्तनपायी पशुओं में वंशानुगत आचरण जाग्रत होता है। यद्यपि मानव शिशु अपने साथ कोई वंशानुगत आचरण नहीं लाता परंतु उसमें अपना विकास करने की संभावनाएं होती हैं, और यह विकास वह बाह्य संसार का उपयोग करके करता है।

इस आधार पर हमने नीहारिका की अवधारणा को अपनाया है। हम बच्चे की उन रचनात्मक शक्तियों को, जो वातावरण से अवशोषण में उसकी सहायता करती हैं, आकाश की उस नीहारिका की तरह समझें जिससे आकाशीय पिंड ऊर्जा प्राप्त करके उत्पन्न हुए हैं। आकाश की नीहारिका में कण इतने दूर-दूर होते हैं कि उसमें कोई सघनता नहीं होती, फिर भी वे मिल कर एक दृश्य वस्तु का निर्माण करते हैं जो दूर से हमें तारों के मध्य दिखाई देती है। जैसे समय बीतने के साथ यह नीहारिका अधिक सुस्पष्ट आकार ले लेती है, उसी तरह हम किसी ऐसी वस्तु के शनैः-शनैः उदय होने की कल्पना कर सकते हैं जो वंशानुगत नहीं है, परंतु ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न हुई है जो स्वयं वंशानुगत है। उदाहरणतः बच्चे को अपने में अपनी मातृभाषा का निर्माण करने के लिए भाषा की नीहारिका से उपयुक्त प्रेरणा और मार्गदर्शन मिलता है। यह मातृभाषा उसके अंदर वंशानुगत नहीं है, परंतु वह अपने वातावरण के कुछ तत्वों से, उसे शाश्वत नियमों के अनुसार ग्रहण करता है। भाषा की नीहारिका-ऊर्जा (नेब्यूलर एनेर्जी) के कारण बच्चा अपने चारों ओर की अनेक ध्वनियों और कोलाहल के बीच में से अपनी बोलचाल की भाषा को पहचान लेता है। और इसी से वह उस भाषा को इतनी पूर्णता से अंगीकार करता है मानो वह उसकी जातिगत विशेषता हो। इसी तरह वह सामाजिक रीति रिवाजों को भी ग्रहण कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वह संसार के किसी विशेष क्षेत्र का सदस्य बन जाता है।

भाषा की नीहारिका में केवल एक ही विशेष भाषा नहीं होती जिसे वह बच्चा विकसित करेगा। बल्कि उसमें से बच्चे के चारों ओर बोली जाने वाली किसी भी भाषा का निर्माण किया जा सकता है। और प्रत्येक भाषा, संसार के समस्त देशों के समस्त बच्चों में समान प्रक्रिया के अनुसार विकसित होगी।

यहां हमें आदमी और जानवर के बीच में एक मूल भेद दिखाई देता है। जानवर का नवजात बच्चा, जन्म के बाद प्रायः तुरंत ही अपनी जाति की विशेष ध्वनियां निकालने लगता है, क्योंकि वे उसे वंशानुगत प्राप्त होती हैं। परंतु मानव शिशु काफी समय तक अवाक बना रहता है और उसके बाद वह उसी भाषा को बोलता है जो उसके चारों ओर बोली जाती है। इसीलिए यदि हॉलैंड का बच्चा इटली में बड़ा होगा तो वह इटली की भाषा ही बोलेगा हॉलैंड की नहीं, चाहे उसके पूर्वज कितनी ही पीढ़ियों से हॉलैंड में रहते आए हों।

अतः यह स्पष्ट है कि बच्चा अपनी भाषा का पूर्वनिर्मित स्वरूप विरासत में प्राप्त नहीं करता, परंतु उसे विरासत में, ग्रहण करने की अचेतन क्षमता प्राप्त होती है जिसके

द्वारा वह भाषा की रचना करता है। इस अंतःशक्ति को हमने भाषा की नीहारिका कहा है। इसकी तुलना हम बीज-कोशिका के जीन से कर सकते हैं, जिनमें आगे जाकर सही और जटिल अंगों के निर्माण की क्षमता होती है।

इसी तरह बच्चे की अनुकूलन शक्ति की नीहारिका भी होती है जिसके द्वारा वह अपने वातावरण से सामाजिक व्यवहार ग्रहण करता है। यह आचरण उसे विरासत में नहीं मिलता, जिसके द्वारा सभ्यता पुश्त-दर-पुश्त हस्तांतरित होती जाती हो, बल्कि बच्चे को अपने चारों ओर के वातावरण को अवशोषित करने की क्षमता प्राप्त होती है। उसकी सभी मानसिक उपलब्धियां इसी क्षमता पर आधारित हैं। कैरल ने ठीक ही लिखा है, "वैज्ञानिक का बेटा, विज्ञान का कुछ भी ज्ञान अपने पिता से विरासत में प्राप्त नहीं करता। यदि उसे किसी रेगिस्तानी द्वीप पर अकेला छोड़ दिया जाए तो वह गुफा में रहने वाले पूर्वजों से बेहतर नहीं होगा।"

यहां मैं एक बात स्पष्ट करना चाहूंगी। पाठकों को शायद यह प्रतीत हो कि नीहारिका की बात करते समय हमारे दिमाग में कोई ऐसा चित्र है जहां सभी स्वाभाविक क्षमताओं का अपना अलग-अलग अस्तित्व है। उन्हें यह आपत्ति हो सकती है कि इससे मस्तिष्क की मूल एकता की परिकल्पना पर आंच आएगी। परंतु हमने नीहारिका की तुलना केवल चित्रण के लिए की है, और हमारा तात्पर्य मस्तिष्क की परमाणुवादी कल्पना से नहीं है। हमारे विचार से मस्तिष्क एक गतिशील इकाई है, जिसकी संरचना चारों ओर के अनुभवों से रूपांतरित होती रहती है। इन क्रियाकारी अनुभवों के कारण मस्तिष्क में एक जैविक ऊर्जा जाग्रत होती है जिसमें से विभिन्न प्रकार की नीहारिकाएं पहचानी जा सकती हैं।

मान लीजिए कि भाषा की नीहारिका काम नहीं कर रही है या किसी अज्ञात कारण से अप्रकट है। तब भाषा का विकास नहीं होगा। यह रोग बहुत दुर्लभ नहीं है और इसमें बच्चे गूंगे हो जाते हैं, यद्यपि उनके बोलने और सुनने के अंग बिलकुल सही, और उनका मस्तिष्क भी सामान्य होता है। मैंने ऐसे कई रोगियों को देखा है, जिन्होंने विशेषज्ञों की बुद्धि को चकरा दिया है, मानो वे प्रकृति की कोई पहेली हों, जिसका हल नहीं मिल पा रहा है। इन मरीजों के बारे में जांच करके यदि यह पता लगाया जाए कि जन्म के बाद के प्रारंभिक दिनों में इनके साथ क्या बीती थी तो रोचक तथ्य प्रकट होंगे।

इन विचारों से कई ऐसे तथ्य समझ में आ सकते हैं जो अभी दूसरे क्षेत्रों में पहेली बने हुए हैं। उदाहरणतः वे, जिनका संबंध समाज के साथ अनुकूलन से है। इनका व्यावहारिक वैज्ञानिक महत्व भी बहुत अधिक हो सकता है, शायद जन्म के आघात के अनुमानित परिणामों से भी अधिक। मेरा ऐसा विचार है कि प्रतिगमन की कई प्रवृत्तियां बच्चे में उस जैविक प्रेरणा की कमी के कारण उत्पन्न होती हैं, जो सामाजिक अनुकूलन में बच्चे की सहायता करती हैं। ऐसी स्थिति में बच्चे में उपयुक्त संवेदनशीलता नहीं होती और इसलिए वह वातावरण से कुछ ग्रहण नहीं कर पाता या कम ग्रहण करता है। उसे अपने वातावरण के प्रति आकर्षण के बजाय घृणा होती है, अतः उसमें अपने पर्यावरण के प्रति प्रेम जाग्रत नहीं होता। उसे इस कमी से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

निस्संदेह ऐसी स्थिति में वह अपनी जाति के रीति रिवाजों और धर्म आदि को ठीक से ग्रहण नहीं कर पाता, और परिणामस्वरूप ऐसा व्यक्ति विकसित होता है जो समाज में अपना उचित स्थान नहीं प्राप्त करता। उसमें प्रतिगमन के कई लक्षण प्रकट होते हैं। आदमी व्यवहार के ढंग वंशानुगत प्राप्त नहीं करता है, वरन उन्हें अपने वातावरण से ग्रहण करता है। अतः उसका सारा मानसिक जीवन उसके प्रथम वर्षों पर आधारित है। अब प्रश्न यह उठता है कि रचनात्मक शक्तियों के देर से जाग्रत होने या बिलकुल जाग्रत न होने का क्या कारण है ? अभी इसका उत्तर नहीं मिला है और हमें इसका उत्तर उन अभागों के जीवन में खोजना चाहिए जिनके मर्ज को विज्ञान अभी समझ नहीं पाया है।

मुझे एक ऐसा केस मालूम है जो आगे जांच की राह दिखा सकता है। वह एक नवयुवक था जो न किसी का कहना मानता था न पढ़ता था। उसका चरित्र खराब था और उसके साथ रहना कठिन था अतः वह अलग ही रहता था। वह देखने में सुंदर, हृष्ट-पुष्ट, और बुद्धिमान भी था लेकिन जन्म के बाद पंद्रह दिनों में वह कुपोषण का शिकार हो गया जिससे उसका वजन बहुत कम हो गया, विशेषकर उसका चेहरा बहुत दुबला हो गया। उसे दूध पिलाने को जो दाई रखी गई थी, वह उसको बिलकुल प्यार नहीं करती थी। इन दो हफ्तों के बाद शेष जीवन में उसका विकास सामान्य रहा। वह तगड़ा बच्चा था (अन्यथा वह मर जाता) परंतु युवक बनने के बाद उसकी प्रवृत्ति अपराध की ओर हो गई।

परंतु यह सब परिकल्पना है जिसकी पुष्टि नहीं हुई है। एक ही बात बहुत महत्व की है। संवेदनशीलता की नीहारिका नवजात शिशु के मानसिक विकास का निर्देशन करती है, जैसे शरीर-निर्माण में संतानोत्पादी अंडे को जीन प्रभावित करते हैं। हमारे लिए उचित होगा कि हम जन्म के बाद नवजात शिशु की विशेष देखभाल करें जैसी कि उच्चतर जानवर अपने बच्चे की जन्मोत्तर अवधि में करते हैं, जब उनकी जातिगत विशेषताएं जाग्रत होती हैं। मैं केवल प्रथम वर्ष या शुरू के महीनों की देखभाल की चर्चा नहीं कर रही हूं। हमारा उद्देश्य समझदार माताओं और घरों तक यह संदेश पहुंचाना है, कि जन्म के समय, तथा जन्म के बाद कुछ दिनों तक, बच्चों की देखरेख के बारे में सुस्पष्ट मार्गदर्शन होना चाहिए।

अध्याय आठ

स्वतंत्रता की प्राप्ति

केवल प्रतिगमन की अवधि को छोड़ कर, बच्चा सीधे और तेजी से क्रियात्मक स्वतंत्रता की ओर बढ़ता है। विकास का यही रूप है कि वह अधिकाधिक आत्मनिर्भर होता जाए। वह एक तीर की तरह है जो कमान से छूटने के बाद सीधा, तेज और निश्चित रूप से आगे भागता है। जन्म होते ही बच्चा स्वतंत्रता प्राप्त करना प्रारंभ कर देता है। विकास के दौरान वह अपने को पूर्ण बनाता है और रास्ते की हर रुकावट को हटा देता है। उसके अंदर एक जैविक शक्ति कार्य करती है जो उसके प्रयासों का अपने लक्ष्य तक पहुंचने में, मार्गदर्शन करती हैं। इस जैविक शक्ति को सर पर्सी नन ने *हॉर्मि* का नाम दिया है।

हमारे सचेत जीवन में *हॉर्मि* से मिलती-जुलती यदि कोई वस्तु है तो वह हमारी संकल्प शक्ति है। परंतु यह साम्य बिलकुल ठीक नहीं बैठता। संकल्प की भावना बहुत सीमित है और व्यक्ति की चेतना का अंश है। *हॉर्मि* स्वयं जीवन तत्व का भाग है जिसे दैवी प्रेरणा कह सकते हैं। यही समस्त विकास की स्रोत है। यह जैविक शक्ति बच्चे को कई कार्यों के करने की प्रेरणा देती है। यदि बच्चे के सामान्य विकास में कोई रुकावट न आए तो बच्चा "जीवन का आनंद" प्राप्त करता है। वह सदा उत्साहित और सुखी रहता है।

बच्चे की स्वतंत्रता प्राप्ति की अवस्थाएं, उसके "सहज विकास" की मूल अवस्थाएं हैं। अर्थात यदि हम ध्यानपूर्वक उसके सहज विकास पर दृष्टि डालें, तो हमें पता चलेगा कि इन्हें हम उसकी स्वतंत्रता प्राप्ति की क्रमिक अवस्थाएं कह सकते हैं। यह मानसिक क्षेत्र के लिए ही नहीं, शारीरिक क्षेत्र के लिए भी सच है, क्योंकि शरीर की प्रकृति भी विकास की ओर होती है। यह प्रेरणा और प्रवृत्ति इतनी शक्तिशाली होती हैं, कि केवल मृत्यु द्वारा ही वे समाप्त होती हैं।

अतः हम स्वतंत्रता प्राप्ति के इस मार्ग और उसकी विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करें। जन्म के समय बच्चा एक कैद से—मां के गर्भ से—छुटकारा पाता है। और इस प्रकार वह मां के शरीर की प्रक्रियाओं से स्वतंत्र हो जाता है। उसके बाद बच्चे में एक प्रेरणा या आवश्यकता जाग्रत होती है कि वह बाह्य संसार का सामना करे और उसका अवशोषण करे। हम कह सकते हैं कि बच्चा "संसार पर विजय प्राप्त करने" की मानसिकता लेकर पैदा होता है। चारों ओर से वातावरण को ग्रहण करके वह अपना व्यक्तित्व बनाता है।

यह संसार में उसकी प्रथम अवस्था की निशानी है। यदि बच्चे में अपने वातावरण

को अवशोषित करने की प्रवृत्ति है, तो जाहिर है कि उसे इस वातावरण के प्रति कोई आकर्षण होगा। अतः हम कह सकते हैं कि (शायद इन शब्दों का चयन बहुत उपयुक्त न हो) उसे अपने वातावरण से प्रेम है। प्रो. काट्ज की तरह हम भी कह सकते हैं कि "बच्चे को संसार से अनेक भावपूर्ण प्रेरणाएं मिलती हैं।"

सबसे पहले बच्चे की इंद्रियां काम करना शुरू करती हैं। इंद्रियों के द्वारा ही वह संसार का अनुभव प्राप्त करता है। बच्चा इन्हीं अनुभवों को अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेता है।

यदि हम चारों ओर देखें, तो हमें क्या दिखाई देता है ? हमारी दृष्टि सीमा में जो भी है, वह हमें दिखाई देता है। हमें अपने कान की श्रवण सीमा के अंदर की सभी ध्वनियां सुनाई देती हैं। अतः हमको प्रभावित करने वाला क्षेत्र बहुत व्यापक है और प्रकृति का यही ढंग है। ऐसा नहीं है कि हम पहले एक ध्वनि ग्रहण करते हैं और फिर दूसरी, या विभिन्न प्रकार के शोर और आवाजें क्रमशः एक के बाद एक ग्रहण करते हैं। हम सभी आवाजों को एक साथ ही ग्रहण करते हैं—एक अविभाजित इकाई के रूप में। एक ध्वनि और दूसरी ध्वनि के मध्य भेद, या एक स्वर और दूसरे स्वर की भिन्नता पहचानना बाद में आता है, मानो वे इस व्यापक ग्रहणशीलता से विकसित हुए हों। इसकी गेस्टाल्ट के मनोविज्ञान से कितनी समानता है।

सामान्य बच्चे की मानसिकता ऐसी ही होती है। पहले वह बाहर के संसार को पूरी इकाई के रूप में ग्रहण करता है और फिर बाद में उसका विश्लेषण करता है।

परंतु मान लीजिए कि इसके विपरीत एक दूसरा बच्चा है जिसे अपने वातावरण के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। उसका वातावरण के प्रति प्रेम पहले ही दबा दिया गया है और उसकी जगह भय आ गया है। उसे वातावरण से डर लगता है।

स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार के बच्चे का विकास दूसरी प्रकार के बच्चे से भिन्न होगा। बच्चे के विकास के अध्ययन बताते हैं कि यदि प्रथम छह महीनों में बच्चे में कुछ निश्चित परिवर्तन होते हैं, तो उसका विकास सामान्य माना जाना चाहिए। इनमें कुछ परिवर्तन तो शारीरिक होते हैं पर वे दिखाई नहीं देते और परीक्षणों से ही उन्हें जाना जा सकता है। जैसे, पेट में हाइड्रोक्लोरिक एसिड का स्रवण, पाचन क्रिया के लिए शुरू हो जाता है। पहला दांत निकलता है। अतः विकास की कुछ प्रक्रियाओं द्वारा शरीर पूर्णता की ओर विकसित होता है। इसके फलस्वरूप छह महीने की आयु प्राप्त करने पर बच्चा मां के दूध के बिना रह सकता है या वह मां के दूध के साथ-साथ कुछ अन्य भोजन भी कर सकता है। यदि हम यह याद करें कि इसके पहले बच्चा पूर्णतया मां के दूध पर ही निर्भर था, क्योंकि वह कोई अन्य भोजन पचा नहीं सकता था, तो हमें पता चलेगा कि अब वह मां से किस हद तक स्वतंत्र हो गया है। मानो छह महीने का होने के बाद वह कहता है, "मैं अब अपनी मां पर निर्भर नहीं रहना चाहता। मैं अब पूर्णतया सचेत हूं और अपने आप भोजन कर सकता हूं।" इसी प्रकार की कुछ मनोवृत्ति किशोरावस्था में होती है, जब बच्चों को घर पर निर्भर

रहना बड़ा अपमानजनक लगता है और वे अपने रहने का खर्चा देने का प्रयास करते हैं।

करीब-करीब इसी समय (इसीलिए हम इसे नाजुक अवस्था मानते हैं) बच्चा पहले अक्षर का उच्चारण करता है। यहीं से भाषा सीखने की शुरुआत होती है और स्वतंत्रता की दिशा में एक और महत्वपूर्ण कदम बढ़ता है। बोलना सीखने के बाद बच्चा अपने को व्यक्त कर सकता है और दूसरों पर निर्भर नहीं रहता कि वे उसकी जरूरतों को समझें। उसका मानव समाज से संपर्क बढ़ता है, क्योंकि भाषा ही लोगों के मध्य संचार का साधन है।

अतः बोलना सीख जाना, और दूसरों से समझदारी की बातचीत करने की क्षमता प्राप्त करना, स्वतंत्रता की दिशा में एक और कदम है। जो बच्चा आरंभ में गूंगे और बहरे की तरह था—न वह अपने को व्यक्त कर सकता था न ही दूसरे की बात समझ सकता था—अब सुनने और बोलने की क्षमता एक साथ अर्जित करता प्रतीत होता है।

शीघ्र ही इसके बाद, एक साल का होने पर बच्चा चलना शुरू करता है और इससे वह एक और कैद से छूट जाता है। अब वह भाग सकता है। यदि आप उसकी ओर जाएं, तो वह भाग कर छुप जाएगा, क्योंकि वह आश्वस्त है कि वह अपने पांवों से इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है। अतः आदमी क्रमशः अवस्थाओं में विकसित होता है, और इन्हीं अवस्थाओं में उसे क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त होती है। ऐसा नहीं है कि उसकी स्वतंत्रता आपके निर्णय पर, या उसकी इच्छा पर निर्भर है। उसकी स्वतंत्रता तो शारीरिक परिवर्तन की एक अवस्था है जो विकास की प्रक्रिया से प्राप्त होती है। वास्तव में प्रकृति ही बच्चे को विकसित होने का अवसर देती है, प्रकृति ही उसे स्वतंत्र करती है, और स्वतंत्रता प्राप्त करने में उसका सफल मार्गदर्शन करती है।

खड़े होकर चलना सीखने का विशेष महत्व है; केवल इसीलिए नहीं कि यह प्रयत्न जटिल है, बल्कि इसलिए, कि यह योग्यता प्रथम वर्ष में प्राप्त होती है। इसी समय भाषा का निर्माण होता है तथा अपने आप रास्ता ढूंढने की योग्यता आदि भी इसी समय विकसित होती है। अपने पांव से चलना, बच्चे के लिए एक अति महत्वपूर्ण शारीरिक घटना है। किसी और स्तनपायी जीव को पांव से चलना नहीं सीखना पड़ता है। मनुष्य ही अकेला ऐसा प्राणी है जिसे पांव से चलने के लिए विकास की एक लंबी और नाजुक अवस्था से गुजरना पड़ता है। चलने के पहले, सीधा खड़े होने के लिए ही उसे तीन स्पष्ट शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त करना होता है। इसके विपरीत, बछड़े तथा अन्य जानवर, पैदा होते ही अपने पांव से चलना शुरू कर देते हैं। ये जानवर यद्यपि आकार में इतने बड़े होते हैं, फिर भी हम से निम्न कोटि के जीव हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे असहाय स्थिति में जन्म लेने का कारण यह है कि हमारी शरीर-रचना अत्यंत जटिल है और इन योग्यताओं को विकसित होने में समय लगता है।

सीधे खड़े होकर दो पांव से चलने की योग्यता के लिए भी बहुत विस्तृत स्नायविक संगठन की आवश्यकता होती है। इसमें कई अंग सम्मिलित होते हैं। इनमें से एक अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) है जो मस्तिष्क के पेंदे में स्थित होता है। (देखिए चित्र 6)

ठीक छह महीने की आयु से, सेरेबेलम तीव्र गति से बढ़ने लगता है। उसके विस्तार की यह तीव्र गति 14 या 15 महीनों तक बनी रहती है। उसके बाद यह गति धीमी हो जाती है। परंतु इस धीमी गति से, बच्चे के साढ़े चार वर्ष के होने तक, उसका बराबर विस्तार होता रहता है। बच्चे के खड़े होने और चलने की क्षमता इसी विकास पर निर्भर है। छह महीने का होने पर बच्चा बैठना शुरू करता है और नौ महीने का बच्चा हाथ-पांव के बल खिसकने लगता है। दस महीने का होने पर वह खड़ा होने लगता है और बारह या तेरह महीने का होने पर चलने लगता है। पंद्रह महीने का होते-होते वह अच्छी तरह दौड़ सकता है।

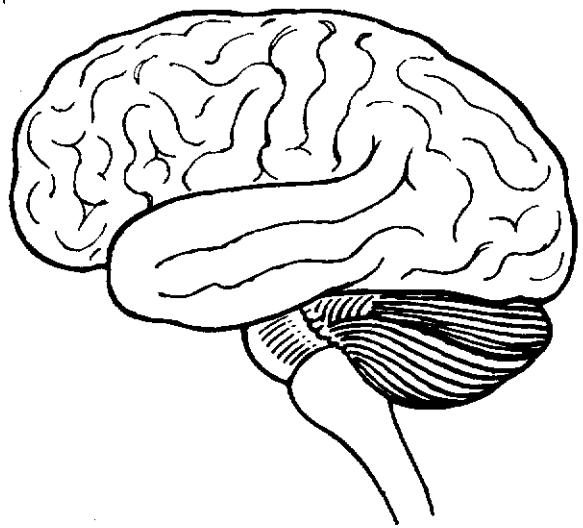

चित्र 6. मस्तिष्क के निचले भाग पर स्थित सेरिबेलम

इस जटिल प्रक्रिया के दूसरे भाग में कुछ स्नायुओं का निर्माण पूरा होता है। जब तक मेरुदंडीय स्नायुओं का निर्माण पूरा नहीं होता (जो इसी काल में होता है), वे पांव की मांसपेशियों तक आदेश नहीं पहुंचा सकतीं। इन मांसपेशियों पर नियंत्रण रखने के लिए इन स्नायुओं का निर्माण पूरा होना आवश्यक है। अतः विकास की इस जटिल प्रक्रिया में कई तत्वों का समन्वय होने के बाद ही खड़े होकर पांव पर चलना संभव होता है। एक तीसरा तत्व है, हड्डियों के ढांचे का विकास। जन्म के समय बच्चे के पांव की हड्डियों का पूरा अस्थिकरण (ऑसीफिकेशन) नहीं होता। वे उपास्थिसम अवस्था में होती हैं, अतः पूरी सख्त नहीं होतीं। वे शरीर का भार कैसे उठा सकती हैं ? इसके पहले कि बच्चा अपने पांव से चले, उनका सख्त होना जरूरी है। एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। जन्म के समय कपाल की हड्डियां आपस में जुड़ी नहीं रहती हैं। वे इस काल में जुड़ती हैं। अतः इसके बाद यदि

बच्चा चलते समय गिर जाए, तो उसके मस्तिष्क को चोट पहुंचने का बहुत खतरा नहीं होता।

यदि हम शिक्षा द्वारा बच्चे को इस समय से पहले ही चलना सिखाना चाहें, तो हम ऐसा नही कर पाएंगे, क्योंकि चलने की प्रक्रिया अनेक शारीरिक विकासों पर आधारित है जो साथ-साथ होते हैं। अंगों में परिपक्वता स्थापित होने के पहले ही, बच्चे के प्राकृतिक विकास को जबरन आगे बढ़ाने का प्रयास नुकसान कर सकता है। प्रकृति ही इसका संचालन करती है। उसके ऊपर सब निर्भर करता है और उसके आदेशों का अक्षरशः पालन होना चाहिए। इसी तरह यदि बच्चा अपने आप चलना आरंभ कर दे, तो हम उसे रोक भी नहीं सकते, क्योंकि अंगों का निर्माण पूरा हो जाने के बाद उनका उपयोग होना जरूरी है। प्रकृति में 'रचना' का अर्थ केवल किसी वस्तु का निर्माण नहीं है। उसका अर्थ होता है कि जिसका निर्माण हुआ है वह अपना कार्य भी शुरू करे। जैसे ही कोई अंग विकसित होता है, वह तत्काल, उपयुक्त क्षेत्र में, कार्य करना आरंभ कर देता है। आधुनिक भाषा में इस क्रियात्मक गतिविधि को "वातावरण का अनुभव" कहते हैं। यदि यह अनुभव प्राप्त न हो, तो अंगों का सामान्य विकास नहीं हो सकता, क्योंकि निर्माण के समय वे अपूर्ण रहते हैं, और उपयोग से ही पूर्णता प्राप्त करते हैं।

अतः वातावरण के अनुभव से ही बच्चे का विकास पूरा होता है। ऐसे अनुभव को हम 'कार्य' कहते हैं। भाषा का उदय होते ही बच्चा हर समय बोलता रहता है और उसे बोलने से कोई रोक नहीं सकता। बच्चे को चुपचाप बैठाना संसार का शायद सबसे कठिन कार्य है। यदि बच्चे को बोलने और चलने से रोका जाए, तो उसका विकास सामान्य नहीं हो सकता। उसका विकास रुक जाएगा। वह तो चलता, भागता और कूदता रहता है और इस तरह उपयोग द्वारा उसके पांव मजबूत होते हैं।

अतः नई योग्यताएं अर्जित करके, बच्चा अपनी स्वतंत्रता में विस्तार करता है और उन योग्यताओं का उपयोग करने से ही उसका सामान्य विकास होता है। बच्चा अपनी अर्जित स्वतंत्रता के प्रयोग से ही विकसित होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार विकास अपने आप नहीं होता। "प्रत्येक व्यक्ति का आचरण, उसके वातावरण से अर्जित अनुभवों का परिणाम है।"

अतः यदि शिक्षा से हमारा तात्पर्य बच्चे के विकास में सहायता करना है, तो स्वतंत्रता की ओर उसके प्रत्येक कदम पर हमें प्रसन्न होना चाहिए। जब वह पहला शब्द बोलता है तो हमें कितनी खुशी होती है, और यह खुशी और भी बढ़ जाती है जब हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सहायता के बिना उसने इसे प्राप्त किया है। परंतु शिक्षा की एक समस्या तब सामने आती है जब हम इस पर विचार करते हैं कि उपयुक्त वातावरण के प्राप्त न होने पर बच्चे की इस प्रगति में रुकावट आ सकती है या इसे धीमा किया जा सकता है।

अतः उसकी शिक्षा की प्रथम मांग यही है कि बच्चे को ऐसा वातावरण उपलब्ध कराया जाए जिससे वह अपनी प्राकृतिक क्षमताओं का विकास कर सके। इसका यह अर्थ नहीं

है कि बच्चे को सदा बहलाने का प्रयास किया जाए, या उसकी जो इच्छा हो, उसे वही करने दिया जाए। इसके विपरीत इसका तात्पर्य है कि हम अपनी मानसिकता को इसके अनुकूल बना लें कि हम प्रकृति के सहयोगी हैं और उसके उस नियम का पालन कर रहे हैं, जिसका यह आदेश है कि वातावरण के अनुभवों से ही विकास होता है।

जब बच्चा पहला कदम रखता है तो उसके अनुभव और बढ़ जाते हैं। इस समय उसका अवलोकन करने से हम देखते हैं कि वह सदा अपनी स्वतंत्रता में विस्तार करने का प्रयास करता है। वह अपने आप अपना काम करना चाहता है, चीजें उठा कर इधर-उधर ले जाना चाहता है, और स्वयं अपने कपड़े पहनना और उतारना चाहता है आदि। ऐसा वह हमारे सुझाव से नहीं करता। उसका उत्साह इतना होता है कि हमें प्रायः उसे रोकना पड़ता है। परंतु ऐसा करने से हम बच्चे को नहीं, वरन प्रकृति को रोकते हैं, क्योंकि बच्चा प्रकृति के नियमों का ही एक-एक कर पालन कर रहा है।

धीरे-धीरे बच्चे की दूसरों पर निर्भरता कम होती जाती है और इसके बाद ऐसा समय आता है जब वह मानसिक रूप से भी स्वतंत्र होना चाहता है। तब उसकी इच्छा होती है कि अपने मस्तिष्क का विकास, स्वयं अपने अनुभवों से करे, दूसरों के अनुभवों से नहीं। वह हर बात का कारण ढूंढ़ता है। और इस तरह शैशव काल में ही बच्चे की अपनी निजी भिन्नता उभरती है। यह केवल सिद्धांतों या निजी विचारों की ही बात नहीं है, इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जब हम कहते हैं कि बच्चे की स्वतंत्रता संपूर्ण होनी चाहिए, और उसके समुचित विकास की जिम्मेदारी समाज पर होनी चाहिए, तो हम हवा में आदर्शवादी बातें नहीं कर रहे हैं। जीवन और प्रकृति का सकारात्मक अवलोकन करने के बाद ही हम इन तथ्यों पर पहुंचे हैं। स्वतंत्रता और वातावरण के अनुभवों के द्वारा ही मानव-विकास हो सकता है।

फिर भी हमें बच्चों के संसार में आजादी और स्वतंत्रता के वे विचार नहीं प्रतिपादित करने चाहिए जो बड़ों के संसार में आदर्श समझे जाते हैं। यदि हम वयस्कों से पूछें कि वे स्वतंत्रता से क्या समझते हैं या हम उनसे आजादी की परिभाषा बताने को कहे, तो वे कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं बता पाएंगे, क्योंकि उनके मस्तिष्क में स्वतंत्रता की परिकल्पना बहुत ही अस्पष्ट है। उनकी दृष्टि, प्रकृति के विस्तार को व्याप्त नहीं कर पाती। बच्चे में ही हम प्रकृति के गौरव का प्रतिबिंब देखते हैं जो स्वतंत्रता प्रदान करते समय स्वयं जीवन प्रदान करती है। और इसे प्रदान करते समय वह बच्चे की आयु और जरूरतों के अपरिवर्तनशील नियमों का पालन करती है। उसने स्वतंत्रता को ही जीवन का नियम माना है : "स्वतंत्रता या मौत"।

मेरा विश्वास है कि प्रकृति का मार्ग, हमारे सामने सामाजिक जीवन को समझने का एक नया आधार प्रस्तुत कर हमारी मदद करता है। ऐसा लगता है मानो बढ़ती उमर का बच्चा हमारे आगे समस्त प्रकृति को उद्घाटित कर देता है, पर हम उसमें से केवल कुछ गौण बातें ही अपने सामाजिक जीवन में अपनाते हैं। बच्चा जो उद्घाटित करता है, वही

सत्य है और वही वास्तविकता है। जब कभी कोई प्रकृति का सत्य जाना जाता है तो वह हमारे सब संदेह दूर कर देता है। इसीलिए बच्चे की स्वतंत्रता, जिसे वह अपने विकास और वृद्धि के कारण प्राप्त करता है, हमें नए सिरे से सोचने की राह दिखा सकती है जो बहुत लाभकारी होगा।

बच्चे की स्वतंत्रता में निरंतर विस्तार का क्या उद्देश्य हो सकता है ? स्वतंत्रता आती कहां से है ? यह बच्चे के विकसित होते हुए व्यक्तित्व से उपजती है, और अपनी देखभाल स्वयं कर सकती है। सारी प्रकृति में यही होता है और सब प्राणी अपना अलग-अलग काम करने लगते हैं। अतः बच्चा, प्रकृति की योजना का ही अनुसरण करता है। वह उस स्वतंत्रता को प्राप्त करता है जो सभी जीवधारियों के लिए जीवन का पहला नियम है। यह स्वतंत्रता वह कैसे प्राप्त करता है ? वह इसे निरंतर कार्यकलाप से प्राप्त करता है। वह कैसे आजाद होता है ? अविरल प्रयास के द्वारा। जीवन कभी स्थिर नहीं रहता। स्वतंत्रता कोई निश्चल स्थिति नहीं है, यह निरंतर होने वाली विजय है। शक्ति प्राप्त करने और अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास करने के लिए अनवरत परिश्रम का मार्ग ही अपनाना पड़ता है।

बच्चे की पहली स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होती है कि अपने सब काम वह स्वयं करे और कोई दूसरा उसकी सहायता न करे। बच्चा स्वतंत्रता के लिए पहला सचेत प्रयास तब करता है जब वह स्वयं को उनसे बचाता है, जो उसकी ओर से कार्य करने की कोशिश करते हैं। स्वयं अपने आप सफलता प्राप्त करने के लिए वह अपने प्रयत्नों को और भी तीव्र कर देता है।

यदि, जैसा कुछ लोगों का विचार है, सबसे अच्छा जीवन वही होगा जब हम हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहें, और दूसरे हमारा सब काम कर दें, तो बच्चे के जन्मपूर्व जीवन से अच्छा कौन सा जीवन हो सकता है ? गर्भ में उसका सारा काम मां करती थी। सोचिए, बोलना सीखने के लिए भी कितना परिश्रम करना पड़ता है। परंतु इसी के द्वारा वयस्क आपस में बातचीत करते हैं। यदि 'आराम करना' ही जीवन का उसली उद्देश्य होता तो बच्चा बोलना क्यों सीखता ? या सामान्य भोजन के लिए अपने को क्यों अनुकूल बनाता ? वह पैदल चलने और अपने मस्तिष्क को उपयोग में लाने का क्यों कष्ट उठाए, जिसके कारण उसका, चारों ओर के संसार से परिचय होता है और उसे सुख मिलता है।

परंतु वास्तविकता यह नहीं है और इसका प्रमाण हमें बच्चों में मिलता है। वे हमें बताते हैं कि जो 'आदर्श' समाज ने अपने लिए स्थापित किए हैं, वे प्रकृति के संदेश से बहुत भिन्न हैं। बच्चा शरीर और मस्तिष्क दोनों की स्वतंत्रता, कार्य द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसे दूसरों के ज्ञान से कोई दिलचस्पी नहीं होती। वह स्वयं अपना ज्ञान अर्जित करना चाहता है। वह संसार का अनुभव करके, बिना की सहायता के, उसे समझना चाहता है। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि जब हम बच्चे को स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, तो हम ऐसे प्राणी को स्वतंत्रता दे रहे होते हैं जो बिना किसी कार्य और गतिशीलता के नहीं रह सकता। यह उसी की नहीं सभी जीवधारियों की प्रकृति है और इसे दबाना, जीवन

को विकृत करना है।

संसार में समस्त जीव, गतिशील हैं। गतिशीलता द्वारा ही जीवन की पूर्णता के लिए प्रयत्न किया जा सकता है तथा उसे प्राप्त किया जा सकता है। हमारे पूर्वजों द्वारा जो सामाजिक अभिलाषाएं हमें विरासत में मिली हैं—काम करने का समय न्यूनतम हो, हमारा काम दूसरे लोग करें, हम आलस में पड़े रहें—ये बचपन में प्रकृति से विकृत होने का संकेत करते हैं। ये अभिलाषाएं उस व्यक्ति में प्रतिगमन के लक्षण हैं, जिसे अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में, वातावरण से अनुकूलन में सहायता नहीं मिली थी। इसीलिए वह वातावरण के प्रति विरक्त रहता है और मेहनत नहीं करना चाहता। ऐसा ही बच्चा बचपन में किसी की सहायता की अपेक्षा करता है और चाहता है कि कोई उसे गोद में उठाए और कोई गाड़ी में घुमाए। वह दोस्तों के बीच में शर्माता है और उसे बहुत नींद आती है। ये सब उस विकृति के लक्षण हैं जिन्हें अब विज्ञान ने पहचाना है। इसमें बच्चे की गर्भ में वापस जाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। जो बच्चा सामान्य स्थिति में पैदा हुआ और सामान्य स्थिति में पल रहा हो, वह स्वतंत्रता की ओर जाता है। जो स्वतंत्र नहीं होना चाहता, वह विकृत है।

इन बदनसीब बच्चों की शिक्षा में एक भिन्न समस्या सामने आती है। इस प्रतिगमन का निदान कैसे किया जाए जो बच्चे के सामान्य विकास को रोकता और विकृत करता है ? इस विकृत बच्चे को अपने वातावरण से कोई प्रेम नहीं होता; क्योंकि उसे इसमें बहुत सी मुसीबतें दिखाई देती हैं। उसके लिए यह बहुत कठोर और अवरोधक है। आज वैज्ञानिक बाल मनोविज्ञान में यह विकृत बच्चा ही अध्ययन का मुख्य विषय है; अतः इसे बाल मनोरोग विज्ञान कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। अब अधिकाधिक बाल निदान केंद्र खुल रहे हैं और खेल-चिकित्सा जैसे नए ढंग के उपचार ढूंढे जा रहे हैं जो इन विकृत बच्चों की चिकित्सा करेंगे, जिनकी संख्या बढ़ती जा रही है। शिक्षा शास्त्र हमें यह सिखाता है कि वातावरण को बाधक नहीं बनना चाहिए। अतः वातावरण में ऐसे तत्व कम किए जा रहे हैं, या बिलकुल हटाए जा रहे हैं जो बच्चे के विकास में बाधा बन सकते हैं। आज बच्चे के चारों ओर की चीजों को यथासंभव आकर्षक बनाया जा रहा है विशेषकर उन बच्चों के लिए जिन्हें अपने वातावरण से ही विरक्ति होती है। आशा की जाती है इन आकर्षक चीजों से बच्चे के मन में संकोच और घृणा के स्थान पर सद्भावना और प्रेम जाग्रत होगा। सुखदायक गतिविधियों की भी व्यवस्था की जाती है, क्योंकि हम जानते हैं कि गतिविधियों के कारण ही विकास होता है। बच्चों में रुचि उत्पन्न करने वाले प्रेरक तत्वों को भी वातावरण में सम्मिलित किया जाता है जिससे बच्चे स्वयं आगे बढ़ कर अनुभव अर्जित करें। ये सिद्धांत स्वयं जीवन और प्रकृति ने निर्धारित किए हैं और इनकी सहायता से विकृत बच्चा आलस से हट कर कार्य की ओर प्रेरित होता है; डर की स्थिति से (जिसके कारण बच्चे का कुछ लोगों से लगाव बहुत बढ़ जाता है और वह उनसे अलग नहीं होना चाहता) निकल कर आनंदमयी स्वतंत्रता की ओर जाता है—जिससे वह जीवन पर विजय प्राप्त करे।

"निष्क्रियता से क्रिया की ओर" ही चिकित्सा का मार्ग है; जैसे सामान्य बच्चे के विकास

का मार्ग भी निष्क्रियता से क्रिया की ओर होता है। नई शिक्षा का यही आधार होना चाहिए। स्वयं प्रकृति इसकी ओर संकेत करती है और इसे स्थापित करती है।

परिपक्वता का अर्थ

यद्यपि मेरी इच्छा किसी लंबे सैद्धांतिक वाद-विवाद की नहीं है, पर आगे कुछ और कहने से पहले मैं 'परिपक्वता' शब्द के उपयोग के बारे में कुछ स्पष्टीकरण करना चाहूंगी। क्योंकि इस शब्द के विषय में मेरे सही तात्पर्य को जानने के बाद, आगे के अध्यायों को समझने में सहायता मिलेगी।

सबसे पहले 'परिपक्वता' शब्द का उपयोग आनुवंशिकी और भ्रूणविज्ञान में किया गया था। यह बीज-कोशिका की वह अवस्था है जब, गर्भाधान से पहले, वह एक अपरिपक्व कोशिका से विकसित होकर परिपक्व हो जाती है।

परंतु शिशु मनोविज्ञान में इसके अर्थ कहीं अधिक व्यापक होते हैं। यह एक प्रकार की प्रक्रिया है जो पूरे जीव के विकास में संतुलन स्थापित करती है और उसके विकास की दिशा को नियंत्रित करती है। मुख्यतः आर्नल्ड गेसेल ने इस अवधारणा को विकसित किया है, यद्यपि उसने कोई निश्चित परिभाषा प्रतिपादित नहीं की। परंतु यदि मैंने उसके अर्थ को सही समझा है तो उसका तात्पर्य है कि व्यक्ति का विकास कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है, जिनका पालन होना चाहिए; क्योंकि बच्चे की कुछ पैदाइशी प्रवृत्तियां होती हैं जो यह निर्धारित करती हैं कि वह कैसे और क्या सीखेगा और कुछ मात्रा में यह, कि वह कब सीखेगा।

दूसरे शब्दों में, गेसेल यह कहता है कि बच्चे में कुछ गतिविधियां ऐसी हैं जो शिक्षा द्वारा प्रभावित नहीं हो सकतीं।

जहां तक शारीरिक जीवन का संबंध है, यह सच है। वस्तुतः, जैसा मैंने ऊपर कहा कि जब तक बच्चे के कुछ अंग परिपक्व नहीं हो जाते, वह पांव से नहीं चल सकता। इसी प्रकार एक उम्र को प्राप्त हुए बिना, बच्चा बोलना नहीं सीख सकता (उसी तरह जैसे एक बार बोलना प्रारंभ करने के बाद उसे कोई रोक भी नहीं सकता)। सभी जानते हैं कि मैंने सदा इस विचार का अनुमोदन किया है कि बच्चे प्राकृतिक नियमों के अनुसार विकसित होते हैं। मैं इन नियमों को शिक्षा का आधार मानती हूं। परंतु गेसेल का कथन मुझे कुछ अधिक जैविक प्रतीत होता है जो मानसिक विकास में पूरा प्रासंगिक नहीं बैठता। उसके सिद्धांत के अनुसार, "बच्चे का मस्तिष्क, उसके शरीर की तरह, विकास की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप प्रस्फुटित होता है।" परंतु यह सही नहीं हो सकता। यदि हम किसी बच्चे का एक अलग स्थान में पालन करें, जहां कोई अन्य मानव न हों, और उसे शारीरिक पोषण के तत्वों के अतिरिक्त कुछ और न मिले, तो उसका शारीरिक विकास तो सामान्य होगा परंतु उसका मानसिक विकास रुक जाएगा। इसका एक उदाहरण डा. इटार्ड ने दिया है।

उन्होंने एक बच्चे को फिर से सभ्यता सिखाने का प्रयास किया, जिसका बचपन जंगल में बीता था।

जैसा मैं बहुधा कहती हूं, कि यह सच है कि हम प्रतिभाशाली व्यक्तियों का निर्माण नहीं कर सकते, पर हम प्रत्येक व्यक्ति की संभावित क्षमताओं को पूर्णरूप से विकसित होने का मौका दे सकते हैं। परंतु यदि हम 'शारीरिक परिपक्वता' की बात करते हैं तो हमें 'मानसिक परिपक्वता' की प्रक्रिया को भी स्वीकार करना पड़ेगा। जैसा हमने पूर्वगामी अध्यायों में बताने का प्रयास किया है, भ्रूण में शारीरिक और मानसिक विकास समानांतर चलते हैं।

किसी जीव के निर्माण की जैविक प्रक्रिया में हमें कहीं ऐसी इकाई नहीं दिखाई देती जो पूरी एक साथ विकसित होती हो, और न विकास एक ही गति से क्रमशः होता है। प्रत्येक अंग का, गतिशील केंद्रों के चारों ओर, अलग-अलग विकास होता है। इन केंद्रों पर सीमित समय के लिए गतिविधियां होती हैं, जो अंगों के निर्माण के बाद समाप्त हो जाती हैं। इन गतिशील केंद्रों के अतिरिक्त कुछ संवेदनशील काल भी होते हैं जो जानवरों के आचरण का मार्गदर्शन करने में, जब तक वह जानवर बाह्य संसार में रहने योग्य न हो जाए, महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसे डच जीव-वैज्ञानिक डी व्राइस ने प्रदर्शित किया है, और हम उसी का समानांतर प्रकरण बच्चे के मानसिक विकास में पाते हैं। इस तथ्य से हमें यह ज्ञात होता है कि मानव प्रकृति सदैव जीवन के नियमों का पालन करती है।

अतः "परिपक्वता स्वयमेव सीमित समय चक्र में जीन के कार्यात्मक प्रभावों के पूर्ण परिणाम" के अतिरिक्त कुछ और भी है। क्योंकि जीन के प्रभावों के अतिरिक्त, उस वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसमें बच्चे कार्य करते हैं। परिपक्वता की प्रक्रिया में वातावरण की प्रमुख भूमिका है।

मानसिक परिपक्वता, केवल वातावरण के अनुभव से ही आती है। और विकास के हर चरण में वातावरण का अनुभव अलग-अलग होता है, क्योंकि हॉर्मि (जैविक प्रेरणा) का स्वरूप बदल जाता है। कभी बच्चे में ऐसी हॉर्मि उत्पन्न होती है कि वह कुछ क्रियाकलापों को बार-बार दोहराने में गहरी रुचि लेता है जिसका कोई कारण नहीं दखाई देता। इसी दोहराने की क्रिया के कारण अचानक एक दूसरी क्रिया अति तीव्रता से प्रकट होती है। इस समस्त क्रिया को हम परिपक्वता की ओर गमन कह सकते हैं। बार-बार दोहराए गए क्रियाकलापों का, उनके द्वारा उत्पन्न क्रिया से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता और नई क्रिया के उत्पन्न होते ही उन क्रियाकलापों को त्याग दिया जाता है। इस बीच में बच्चे की रुचि किसी अन्य क्रियाकलाप में जाग्रत होती है जो एक दूसरी क्रिया को जन्म देती है। यदि प्रकृति की योजना के अनुसार, निर्धारित समय पर, बच्चे को इन अनुभवों को प्राप्त करने से रोका जाए, तो वह विशेष संवेदनशीलता, जो उसे उन कार्यों की ओर आकर्षित करती है, समाप्त हो जाएगी। उससे बच्चे के विकास पर, और अन्ततः उसकी परिपक्वता पर बुरा असर पड़ेगा।

यदि हम अभी आई मनोविज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक में परिपक्वता की परिभाषा देखें, तो उसके अनुसार "परिपक्वता में संरचना के ऐसे परिवर्तन होते हैं जो मुख्यतः वंशानुगत

हैं अर्थात, जिनका उद्गम निषेचित डिंब के क्रोमोजोम में होता है। परंतु कुछ हद तक ये परिवर्तन, जीव और उसके वातावरण के बीच पारस्परिक प्रभाव से भी उत्पन्न होते हैं।"

अपनी खोजों के आधार पर इसकी व्याख्या करने पर हम कह सकते हैं कि आदमी में एक जैविक शक्ति (हॉर्मि) पैदाइशी होती है जो उसके ग्रहणशील मस्तिष्क की संरचना में उपस्थित रहती है, जिसमें उसके अपने विशिष्टीकरण के तत्व होते हैं, जो मैंने नीहारिकाओं की परिकल्पना के अंतर्गत बताया था।

डी व्राइस का अनुसरण करते हुए, जिसे हमने *संवेदनशील काल* कहा है, उसके निर्देशन में, यह संरचना बचपन में परिवर्तित होती रहती है। अतः शारीरिक और मानसिक विकास पर अवशोषित मस्तिष्क, नीहारिकाओं और संवेदनशील कालों का प्रभाव पड़ता है। वे सब वंशानुगत तत्व मानव जाति के लक्षण हैं परंतु उनकी क्षमता और पूर्णता, केवल वातावरण में स्वच्छंद क्रियाकलाप के अनुभवों से ही प्राप्त हो सकती है।

अध्याय नौ

जीवन के प्रारंभिक दिन

यदि हमारा उद्देश्य मानव के मानसिक जीवन की सहायता करना है तो पहली बात तो यही समझनी होगी कि बच्चे के ग्रहणशील मस्तिष्क को अपना समस्त पोषण, चारों ओर के परिवेश से मिलता है। वह जो कुछ भी चारों ओर से ग्रहण करता है, उसी से अपना निर्माण करता है। अतः हमें जीवन के प्रारंभिक दिनों में, उसका वातावरण यथासंभव रोचक और आकर्षक बनाना चाहिए।

जैसा हमने देखा, बच्चे को विकास की क्रमिक अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन अवस्थाओं में, उसके वातावरण की महत्वपूर्ण, यद्यपि भिन्न-भिन्न भूमिका होती है। इसमें जन्म के तत्काल बाद की अवस्था में, वातावरण का महत्व सबसे अधिक होता है। इस तथ्य के प्रति बहुत कम लोग सचेत हैं, क्योंकि कुछ समय पहले तक तो उन्हें इसका आभास भी नहीं था कि जीवन के प्रथम दो वर्षों में बच्चों की कोई मानसिक आवश्यकता भी होती है। आज यह अवस्था इतनी महत्वपूर्ण मानी जाने लगी है कि इसकी अवहेलना करने से, सारे जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

वैज्ञानिकों का सारा ध्यान बच्चे के शारीरिक स्वास्थ्य पर रहता था। वर्तमान शताब्दी में, चिकित्सा और स्वास्थ्य विज्ञान के कारण, बच्चों की मृत्युदर में भारी कमी हो गई है। पर चूंकि विज्ञान का लक्ष्य बच्चों की मृत्युदर कम करना था, अतः निदान शारीरिक स्वास्थ्य संबंधी बातों तक ही सीमित रहा। मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में अभी तक अधिक शोध नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों को मार्गदर्शन के लिए विशेष कुछ उपलब्ध भी नहीं है। वे या तो प्राकृतिक इतिहास से कुछ ग्रहण कर सकते हैं या इस प्रचलित धारणा से कि बचपन का मुख्य उद्देश्य ऐसे व्यक्ति का निर्माण करना है जो अपने काल के सामाजिक जीवन के अनुकूल बन सके।

प्राकृतिक इतिहास क्या बताता है ? उसके अनुसार एक प्रथम अवस्था अलगाव की होती है जिसमें बच्चा और मां समाज से अलग रहते हैं तथा बच्चा, अपने को बाह्य संसार के अनुकूल बनाता है। यह अनुकूलन उन स्तनपायी जीवों में भी आवश्यक है जिनका पैदाइशी व्यवहार वंशानुगत होता है।

यदि हम यह याद रखें कि मनुष्य का कोई व्यवहार, जन्म के समय, पूर्व निर्धारित नहीं होता, और बच्चे में मानसिक जागृति नहीं वरन मानसिक रचना होती है, तो हमें तत्काल

समझ में आ जाएगा कि बच्चे के जीवन में वातावरण की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है। यद्यपि उसका महत्व इतना अधिक है, पर उसके संभावित खतरे भी उतने ही हैं। अतः हमें नवजात शिशु के चारों ओर की अवस्था का बहुत ध्यान रखना चाहिए जिससे उसमें प्रतिगमन की प्रवृत्ति विकसित न हो और वह इस नए संसार के प्रति आकर्षण अनुभव करे। इससे उसकी ग्रहणशीलता में बहुत सहायता मिलेगी, जिस पर उसका विकास और उसकी प्रगति निर्भर है।

जीवन के प्रथम वर्ष में विभिन्न अवस्थाएं होती हैं जिनमें से प्रत्येक में, विशेष देखरेख की जरूरत है। पहली अवस्था बहुत अल्पकालिक है—बच्चे के जन्म की घटना। इसमें विस्तृत रूप से न जाकर हम कुछ नियमों की ओर संकेत करते हैं। प्रथम कुछ दिनों में, बच्चे को मां के संसर्ग में ही रहना चाहिए। तापमान, रोशनी और शोर में, उसकी जन्म-पूर्व अवस्था से बहुत विषमता नहीं होनी चाहिए। जब वह मां के गर्भ में था, तो पूर्ण खामोशी, अंधेरा, और सम तापमान था। आधुनिक बाल-चिकित्सालयों में, मां और बच्चे को ऐसे कमरे में रखा जाता है जिसे धीरे-धीरे, बाहर के सामान्य तापमान के बराबर किया जा सकता है। उसकी दीवारें शीशे की होती हैं और शीशा नीले रंग का होता है जिसके कारण तेज रोशनी कमरे में नहीं आती।

बच्चे को उठाने और एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के भी निश्चित नियम हैं जो पुराने ढंग से बहुत भिन्न हैं। पहले, जन्म होते ही बच्चे को जमीन पर नहलाया जाता था जिससे उसे गहरा आघात पहुंचता था। फिर उसे, बिना उसकी भावनाओं का विचार किए, तत्काल कपड़े पहनाते थे, मानो वह कोई जड़ पदार्थ है। अब विज्ञान के अनुसार, उसे यथासंभव कम छूना चाहिए और कपड़े बिलकुल नहीं पहनाने चाहिए वरन उसे ऐसे कमरे में रखना चाहिए जहां हवा के सीधे झोंके न आएं और जो पर्याप्त तापमान का हो। बच्चे को इधर से उधर ले जाने का ढंग भी बदल गया है। उसे एक मुलायम गुदगुदी गद्दी में, जो पालने की तरह हो, ले जाना चाहिए। उसे बड़ी कोमलता से उठाना और लेटाना चाहिए मानो किसी जख्मी मरीज को उठा रहे हों। इसका कारण केवल स्वच्छता नहीं है। नर्स अपनी नाक पर जाली का कपड़ा बांधे रहती है, जिससे उसकी सांस के साथ, बच्चे के चारों ओर की हवा में कीटाणु न चले जाएं। मां और बच्चे के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है मानो वे एक ही शरीर के दो अंग हैं जिनमें परस्पर संचार कायम है। अतः प्राकृतिक विधि से, बच्चे को संसार के अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि मां और बच्चे में, चुंबकीय आकर्षण की तरह, एक गहरा लगाव होता है।

मां, विशेष आकर्षण प्रसारित करती है जिसका बच्चा अभ्यस्त रहता है और इससे बच्चे को, अनुकूलन के कठिन समय में सहायता मिलती है।

हम कह सकते हैं कि बच्चे ने केवल अपनी स्थिति बदली है। पहले वह मां के शरीर के अंदर था, अब बाहर है। शेष सब बातें पहले जैसी रहती हैं। दोनों के मध्य अभी भी संचार बना रहता है। आजकल मां-बच्चे के संबंधों को इसी दृष्टिकोण से समझा जाता है।

कुछ वर्ष पहले तक, अच्छे से अच्छे अस्पतालों में, बच्चे के पैदा होते ही, उसे मां से अलग कर दिया जाता था।

मैंने अभी तक जो वर्णन किया है, वह वैज्ञानिक रीति से शिशु-पालन में, नवीनतम माना जाता है। पर प्रकृति के अनुसार शैशव की समस्त अवधि के दौरान इन सब नियमों के हमेशा पालन करने की जरूरत नहीं है। थोड़े समय के बाद, मां और बच्चा, अपने अलग स्थान से वापस आकर सामाजिक जीवन में लौट आते हैं।

बच्चे की सामाजिक समस्याएं, वयस्क से भिन्न होती हैं। अभी तक, सामाजिक विषमताओं ने, बच्चे को अपने मां-बाप से विपरीत दिशा में प्रभावित किया है। वयस्कों को गरीबी से परेशानी होती है, पर बच्चे अमीरों के बीच में परेशान होते हैं। एक तो विविध प्रकार के कपड़ों की परेशानी, फिर सामाजिक रीति-रिवाज, और बच्चे को देखने आने वालों की भीड़। धनवान मां अक्सर अपने बच्चे को दूध पिलाने वाली दाई को सौंप देती है, या अपने छुटकारे की कोई अन्य व्यवस्था कर लेती है। इसके विपरीत, गरीब मां सहज मार्ग अपनाती है और बच्चे को अपने पास रखती है। कई छोटी-छोटी बातों में हम देखते हैं कि जिन चीजों का बड़ों की दुनिया में बहुत मूल्य है, उनका बच्चों पर उलटा प्रभाव पड़ता है।

इस अवस्था के बीते जाने पर, बच्चा अपने वातावरण को बिना हिचकिचाहट के, शांतिपूर्वक अपना लेता है। वह उस स्वतंत्रता के मार्ग पर चलना प्रारंभ कर देता है, जिसका हम वर्णन कर चुके हैं और अपने वातावरण को खुले दिल से अपनाता है। वह अपने चारों ओर की प्रथाओं को ग्रहण करता चलता है।

इस मार्ग पर उसकी पहली गतिविधि, अपनी इंद्रियों का उपयोग है। चूंकि अभी उसकी हड्डियों और स्नायुओं का निर्माण पूरा नहीं होता है, अतः वह निष्क्रिय लेटा रहता है। उसके हाथ-पांव अपना काम नहीं करते। उनमें गतिशीलता नहीं होती। केवल उसका मस्तिष्क सक्रिय होता है जो इंद्रियों द्वारा प्राप्त चित्रों को ग्रहण यानी जज्ब करता रहता है।

उसकी आंखों में चमक और उत्सुकता रहती है। हमें यह ध्यान रहे कि, जैसा विज्ञान ने प्रमाणित किया है, बच्चे की आंखें केवल रोशनी से ही प्रभावित नहीं होतीं। वे निष्क्रिय नहीं होतीं। यद्यपि वह नेत्रों से चित्र प्राप्त करता रहता है, पर वह स्वयं उत्सुकतापूर्वक चारों ओर से चित्रों को ग्रहण करता है।

यदि हम किसी जानवर की आंख काट कर देखें, तो हमें अपनी आंख की तरह का ही यंत्र मिलेगा, जो एक प्रकार का कैमरा है। परंतु जानवरों की प्रकृति के कारण, वे अपनी आंखों का अधिक सीमित उपयोग करते हैं। अन्य चीजों की अपेक्षा वे कुछ चीजों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। अतः वे पूरा वातावरण एक साथ नहीं देखते। उनके अंदर एक मार्गदर्शक होता है जो उनके कार्यों का संचालन करता है और उन्हें कुछ निश्चित सीमाओं में रखता है। वे इसी के आदेशानुसार अपनी आंख का प्रयोग करते हैं।

उनके अंदर यह मार्गदर्शक शुरू से होता है। उनकी इंद्रियां इसी प्रकार बनी होती हैं कि वे इसका अनुसरण करती हैं। बिल्ली की आंख (रात में शिकार करने वालों की तरह)

अंधेरे की अभ्यस्त होती है। परंतु बिल्ली स्थिर वस्तुओं की अपेक्षा, गतिशील वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित होती है। अंधेरे में जैसे ही कोई चीज हिलती है, बिल्ली शेष दृश्य पर बिलकुल ध्यान न देकर, तुरंत उस पर टूट पड़ती है। उसकी अपने वातावरण में कोई सामान्य रुचि नहीं होती केवल उसके कुछ पक्षों के प्रति उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसी तरह से, कुछ कीड़े एक विशेष रंग के फूल की ओर आकर्षित होते हैं, क्योंकि उन्हें अपना भोजन उसी रंग के फूलों में मिलता है। परंतु जो कीड़ा हाल ही में अपने कोष से निकलता है, उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति या मार्गदर्शक उसका संचालन करता है और उसकी आंख उसको उपयुक्त कार्य करने में सहायता करती है। यही स्वाभाविक प्रवृत्ति या मार्गदर्शक जीवधारियों के आचरण का नियंत्रक है। परंतु प्राणी अपनी इंद्रियों का यंत्रवत गुलाम नहीं है। वे उसका व्यवहार नियंत्रित नहीं करतीं। इंद्रियां उपस्थित रहती हैं, और अपने मालिक की सेवा भी करती हैं, परंतु कर्त्ता वही है जो उनके निर्देशन में कार्य करता है।

मानव बच्चे का विशेष ध्यान रखा गया है। उसकी इंद्रियों का भी मार्गदर्शन होता है, परंतु वे जानवरों की इंद्रियों की तरह सीमित नहीं होतीं। बिल्ली वातावरण में केवल गतिशील चीजों की ओर आकर्षित होती है। बच्चे में ऐसी कोई सीमा नहीं है। वह दृष्टिसीमा के अंतर्गत सब वस्तुओं का अवलोकन करता है और हम अपने अनुभव से जानते हैं, कि वह सबको समान रूप से ग्रहण करता है। वह आंख के यांत्रिक कैमरे के द्वारा ही अवशोषण नहीं करता, वरन उसके अंदर एक प्रकार की मनोरासायनिक (सायकोकेमिकल) प्रक्रिया होती है जिससे ये चित्र उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन जाते हैं। हम कह सकते हैं (वैज्ञानिक प्रमाण के अतिरिक्त) कि जिस व्यक्ति का जीवन पूर्णतया उसकी इच्छाओं द्वारा संचालित होता है और जो अपनी इंद्रियों का गुलाम होता है, उसमें अवश्य कोई आंतरिक दोष है। यद्यपि उसके अंदर का मार्गदर्शक अभी भी उपस्थित होगा, परंतु दुर्बल होने के कारण वह उसके आचरण पर प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः वह अपनी इंद्रियों का यंत्रवत शिकार हो जाता है।

इसीलिए यह कार्य प्रमुख महत्व का है कि हम प्रत्येक बच्चे के आंतरिक मार्गदर्शक की देखरेख करें और सचेत बनाए रखें।

हमने ऊपर जो जानवर के साथ तुलना की है, उससे हमें बच्चे की अवशोषक (ग्रहण या जज्ब करने की) शक्ति को समझने में सहायता मिलती है। कुछ कीड़े पत्तियों की शकल के होते हैं और कुछ डंठलों की शकल के। वे अपना जीवन पत्तियों और डंठलों पर ही व्यतीत करते हैं जिनसे उनका इतना पूर्ण साम्य होता है कि वे उन्हीं में घुलमिल जाते हैं । कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया बच्चे में भी होती है। वह अपने चारों ओर के जीवन को अवशोषित कर लेता है और उसी में घुलमिल जाता है, जैसे ये कीड़े उस वनस्पति में घुलमिल जाते हैं जिस पर वे रहते हैं। बच्चे के मस्तिष्क पर ये चित्र इतनी गहराई से अंकित होते हैं कि उसमें एक शारीरिक या मनोरासायनिक परिवर्तन होता है, जिसके अंत में मस्तिष्क और वातावरण में साम्य हो जाता है। बच्चे उन्हीं चीजों की तरह हो जाते हैं जिन्हें वे प्यार करते

हैं। हमें पता चलता है कि सभी प्रकार के जीवन में यह क्षमता होती है—अपने वातावरण को अवशोषित करके उसी के सदृश हो जाने की।

जिन कीड़ों का हमने उल्लेख किया है, उनमें तथा अन्य जानवरों में यह क्रिया शारीरिक है—मानव-बच्चे में यह क्रिया मानसिक है।

यह जीवधारियों की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। बच्चा संसार को हमारी दृष्टि से नहीं देखता। हम किसी वस्तु को देख कर कहेंगे, "अहा, कितनी सुंदर है !" फिर हमारा ध्यान दूसरी बातों में लग जाएगा और इस सुंदर वस्तु की एक अस्पष्ट याद रह जाएगी। परंतु बच्चों में जो बाह्य जगत के चित्र अंकित होते हैं, उन्हीं से वह अपने आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण करता है। ऐसा विशेषतया वह जीवन के प्रथम भाग में करता है। अपने शैशव काल में केवल बाल सुलभ क्षमताओं के द्वारा, बच्चा वैयक्तिक विशेषताएं अर्जित करता है जो उसकी आजीवन पहचान बन जाती हैं—उसकी भाषा, उसका धर्म, उसकी जाति आदि। अपने चारों ओर के संसार से अनुकूलन का उसका यह अपना तरीका है। इसके कारण वह सुखी होता है और उसका मस्तिष्क परिपक्व होता है।

केवल यही नहीं, बाद में जितने भी प्रकार के वातावरणों में वह जाता है, उन सबसे वह अनुकूलन स्थापित करता है। "अनुकूलन स्थापित करने" के क्या अर्थ हैं ? हम इससे यह समझते हैं कि बच्चा अपने को इस प्रकार रूपांतरित कर ले, कि वह अपने वातावरण के उपयुक्त बन सके और बाद में वही वातावरण, उस बच्चे का एक अंश बन जाए। अतः हमें यह सोचना चाहिए कि हम क्या करें, और कैसा वातावरण बनाएं, जो बच्चे के लिए सहायक हो।

यदि हम किसी तीन वर्ष के बच्चे की बात कर रहे हों तो वह शायद हमें स्वयं ही यह बता देगा। हमें यह देखना चाहिए कि उसके चारों ओर फूल और सुंदर वस्तुएं हों। हमें अनुमान लगा कर उसे ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित करना चाहिए जो उसके विकास की अवस्था के अनुकूल हों। हम आसानी से यह पता लगा सकते हैं कि कौन-सी प्रेरक गतिविधियां उसे उपलब्ध कराई जाएं जिससे वह अपनी विकासशील क्षमताओं का उपयोग कर सके। परंतु यदि बात नवजात शिशु के अनुकूलन की है, तो हम उसके लिए कैसा वातावरण तैयार करें ?

अभी तक इसका कोई उत्तर नहीं मिल पाया है। वास्तव में बच्चे का स्वाभाविक वातावरण वही है जो उसके चारों ओर है। भाषा सीखने के लिए उसे उन लोगों के साथ रहना पड़ेगा जो उस भाषा को बोलते हों, अन्यथा वह बोलना नहीं सीखेगा। यदि उसे विशेष मानसिक योग्यताएं अर्जित करनी हैं तो उसे उन लोगों के साथ रहना पड़ेगा जो उन योग्यताओं का निरंतर प्रयोग करते हों। अपने समुदाय के ढंग, आदतें, और रीति-रिवाज तभी प्राप्त होंगे, जब वह उन लोगों के साथ रहेगा जिनको ये सब आते हैं।

नर्सरी

वास्तव में नर्सरी उन सब विचारों और कार्यों का विरोध करती है जो पिछले कुछ वर्षों में स्थापित हुए हैं। उन्होंने शारीरिक सफाई को एक मात्र आधार मान कर यह निष्कर्ष निकाला है कि बच्चे को अलग रखना चाहिए। अतः बच्चों के लिए एक विशेष कमरा अलग बनाया जाता है जिसे *नर्सरी* कहते हैं। जब यह भी स्वच्छता का पूरा आदर्श नहीं निभा पाया, तो उसे अस्पताल जैसा बनाने का प्रयास किया गया। बच्चे को अकेले इस कमरे में यथासंभव सोने के लिए रख दिया जाता है, मानो वह कोई मरीज हो।

हमें यह बात समझनी चाहिए कि यद्यपि इससे शारीरिक स्वास्थ्य में प्रगति होती है, परंतु इससे मानसिक जीवन को खतरा है। यदि बच्चा नर्सरी में अलग रखा जाए और उसकी एक मात्र साथी नर्स हो, यदि मां के प्रेम की अभिव्यक्ति उस तक न पहुंचे, तो उसका सामान्य विकास नहीं हो सकता। उसके अंदर एक असंतोष की भावना, एक मानसिक खालीपन उत्पन्न होगा जो उसके लिए हानिकारक होगा। अपनी मां के साथ रहने के बजाए, जिससे उसका विशेष आत्मीय संबंध होता है, वह सदा अपनी नर्स के साथ रहेगा जो उससे बहुत कम बोलती है। बहुधा वह अपनी "बच्चा-गाड़ी" में बंद रहता है और चारों ओर की गतिविधियां नहीं देख सकता।

जितने अधिक धनी परिवार में उसका जन्म होगा, उतनी ही उसकी परिस्थितियां प्रतिकूल होती जाएंगी। सौभाग्य से, युद्ध के बाद से, इस प्रथा का प्रचलन कम हो गया है। गरीबी और नई सामाजिक विचारधाराओं के कारण बच्चों को अपनी मां की प्रेममयी और लाभकारी संगति फिर से प्राप्त हो गई है।

नया स्वास्थ्य विज्ञान

"बच्चों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए"—यह वास्तव में सामाजिक महत्व का विषय है। आधुनिक शिशु अध्ययन और अवलोकन से हमें यह अनुभव हुआ है कि जैसे ही बच्चा बाहर जाने के योग्य हो, हमें उसे अपने साथ बाहर ले जाना चाहिए और उसे यथासंभव चारों ओर देखने का मौका देना चाहिए। अतः अब फिर से बच्चों की गाड़ियां ऊंची बनने लगी हैं। नर्सरी का नक्शा भी बदल दिया गया है। यद्यपि उसमें स्वच्छता का स्तर उतना ही रखा जाता है, पर उसकी दीवालों को अनेक चित्रों से सजाया जाता है। बच्चे को थोड़े से ढलाव वाले पलंग पर लिटाया जाता है जिससे उसे चारों ओर का दृश्य दिखाई दे—यह नहीं कि वह केवल छत देखता रहे।

भाषा की समस्या अधिक कठिन है, विशेषतया जब नौकरानियां या दाइयां रखी जाती हैं, जो बच्चे से भिन्न सामाजिक वर्ग की होती हैं। एक और प्रश्न यह है कि जब मां-बाप अपने मित्रों से बातें कर रहे हों, तो क्या बच्चों को वहां उपस्थित रहना चाहिए ? यद्यपि

इस पर कई आपत्तियां की जा सकती हैं, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि यदि हम बच्चे की सहायता करना चाहते हैं, तो हमें उसे अपने साथ रखना चाहिए, जिससे वह देखे कि हम क्या कर रहे हैं और सुने कि हम क्या बोल रहे हैं। यद्यपि वह सचेत रूप से नहीं समझ सकता कि क्या हो रहा है, परंतु उसके अवचेतन में इसका चित्र अंकित रहेगा। वह उसके अंदर अवशोषित हो जाएगा और बच्चे के विकास में सहायता करेगा। जब बच्चे को घर के बाहर ले जाते हैं, तो वह कहां जाना पसंद करेगा ? इसे कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता, पर हमें बच्चों की ओर ध्यान से देखना चाहिए। होशियार माताएं और दाइयां यदि बच्चे की रुचि किसी विशेष चीज में देखती हैं तो वे उसे निकट से वह चीज, जितनी देर वह चाहे, देखने देती हैं। वे उसे गोद में उस ऊंचाई तक उठा लेती हैं जहां पर उसकी दृष्टि जमी हो, और बच्चे का चेहरा उस चीज में दिलचस्पी और प्रेम से दमक उठता है। हम कैसे पता लगाएं कि बच्चे की दिलचस्पी किस चीज में है ? हमें यह सब उसी पर छोड़ देना चाहिए। ये सब हमारी पुरानी विचारधारा के विपरीत है, और यह बात सब वयस्कों को मालूम होनी चाहिए। हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि बच्चा जो कुछ अपने वातावरण में देखता है, उसे अपने अंदर अंकित करता है। अतः वातावरण से उसका पूरा संपर्क कराना चाहिए। यदि बच्चा इस संपर्क को स्थापित करने में सफल नहीं होता, तो इससे गंभीर सामाजिक समस्याएं उत्पन्न होंगी।

हम जानते हैं कि आज की कितनी सामाजिक समस्याएं इसी कारण उत्पन्न होती हैं, क्योंकि व्यक्ति, नैतिक तथा अन्य क्षेत्रों में अपने को समाज के अनुकूल नहीं बना पाता। यह एक मूल समस्या है और इससे हमें इस बात का आभास हो जाएगा कि शिशु विज्ञान प्रत्येक सभ्य समाज का सबसे स्थायी और गहरी चिंता का विषय होना चाहिए।

हम यह पूछ सकते हैं कि जो सत्य इतना स्वयं सिद्ध है, उसकी अब तक क्यों इतनी अवहेलना हो रही थी ? ऐसे लोग, जो किसी भी प्रकार की नवीनता से आशंकित होते हैं, यही कहेंगे कि हमारे पूर्वज भी तो इस ज्ञान के बिना रहते थे। हमसे कहा जाएगा—"मानव जाति बहुत प्राचीन है। हजारों लोग इसमें आए और चले गए। हम भी इन सिद्धांतों की सहायता के बिना बड़े हुए, हमारे बच्चे भी ऐसे ही बड़े होंगे। हमारे जमाने में भी बच्चे बोलना सीखते थे। उनकी कुछ आदतें तो इतनी दृढ़ हो जाती थीं कि वे पूर्वाग्रह बन जाती थीं।"

आइए, हम कुछ देर के लिए संसार के उन लोगों की बात करें, जिनकी संस्कृतियां हमसे भिन्न हैं। बच्चों के पालने के विषय में ये हमसे कहीं अधिक जानकार हैं—हम, जो पश्चिम के अति आधुनिक विचार वाले हैं। संसार में और किसी स्थान में बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता, जो उनकी स्वाभाविक आवश्यकताओं के इतना विपरीत हो। प्रायः सभी देशों में, मां के साथ, बच्चा हर जगह जाता है। मां और बच्चा सदा साथ-साथ रहते हैं। बाहर जब दोनों घूमते हैं, तो मां बोलती है और बच्चा सुनता है। यदि मां सब्जी खरीदते समय, बेचने वाले से मोलभाव करती है, तो बच्चा सब सुनता रहता है। मां का

दूध पीने की उम्र तक बच्चा हर समय उसके साथ रहता है। इसीलिए दोनों में इतना घनिष्ठ संबंध रहता है। मां बच्चे को घर में छोड़ कर नहीं जा सकती, क्योंकि वह दूध के लिए उस पर आश्रित रहता है। आहार की इस आवश्यकता के साथ-साथ दोनों का परस्पर प्रेम और दुलार बढ़ता है। इस तरह, बच्चे की पोषण की आवश्यकता, और मां-बेटे को बांधने वाले प्यार की आवश्यकता—दोनों ही का समाधान हो जाता है और वह स्वाभाविक रीति से वातावरण को ग्रहण करता चलता है। मां और बच्चा एक ही बने रहते हैं।

उस जगह को छोड़ कर, जहां सभ्यता ने इस परंपरा को विनष्ट कर दिया है, कोई मां अपने बच्चे को दूसरे को नहीं सौंपती है। बच्चा मां के जीवन में सहभागी होता है और जो कुछ भी वह बोलती है, सदा सुनता रहता है। बहुधा कहा जाता है कि मां बहुत बातूनी होती है, परंतु इससे बच्चे के विकास और अनुकूलन में सहायता मिलती है। यदि बच्चा केवल वही बात सुने जो प्रत्यक्ष रूप में उससे ही की जाती है, तो उसकी प्रगति बहुत कम होगी। वह बड़ों की सारी बातें सुनता है और उनके हाव-भाव देखता है जो बातचीत के अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार वह थोड़ा-थोड़ा करके वाक्यों की संरचना भी समझने लगता है। यह उन शब्दों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जो उसकी मां उससे अक्षर-अक्षर करके धीरे-धीरे बोलती है। यह जीवंत भाषा है जो हाव-भाव और गतिविधियों से अलंकृत होती है।

प्रत्येक मानव समुदाय, राष्ट्र और जाति में अपनी विशेषताएं हैं, जैसे वे अपने बच्चों को भिन्न-भिन्न ढंग से लेकर चलते हैं। इसका अध्ययन मानव जाति विज्ञान (एथनोलॉजी) का अत्यंत रोचक विषय है। संसार के अधिकांश में माताएं बच्चे को एक छोटे से बिस्तर में लपेट कर या एक बड़े थैले में लेकर चलती हैं। वे उसे अपने हाथों में लेकर नहीं चलतीं। कुछ देशों में, बच्चे को रस्सी के फंदों से एक लकड़ी के तख्ते पर बांध देते हैं और मां, काम पर जाते समय, उस तख्ते को अपने कंधों पर उठा लेती है। कुछ, बच्चे को गले के सहारे टांग लेती हैं, कुछ अपनी पीठ पर बांध लेती हैं और कुछ उसे छोटी टोकरी में रख देती हैं। बच्चे को अपने साथ ले जाने का, हर देश की माताओं ने, कोई न कोई रास्ता ढूंढ़ लिया है। जहां पर बच्चे को इस ढंग से पीठ पर उठाया जाता है कि बच्चे का मुंह, मां की पीठ की ओर होता है, तो बच्चे की सांस में रुकावट को रोकने के लिए कुछ विशेष सावधानी बरती जाती है। जापान में बच्चे को पीठ पर इतना ऊंचा बांधते हैं कि उसकी गर्दन, मां के कंधे के ऊपर होती है। इसीलिए जापान जाने वाले प्रथम यात्रियों ने जापान को "दो सिर वाली जाति" कहा था। भारत में बच्चे को उसके कूल्हे का सहारा देकर गोदी में उठाते हैं और रेड इंडियंस उसे एक पालने जैसी चीज में डाल कर अपनी पीठ पर बांधते हैं जिसमें दोनों की पीठ से पीठ मिली रहती है और बच्चे को मां के पीछे का दृश्य दिखाई देता है। इन सभी माताओं के मन में यह विचार कभी आता ही नहीं कि बच्चे को छोड़कर कहीं जाया जा सकता है। यह इस हद तक सच है कि एक बार मिशनरी लोगों को अत्यंत आश्चर्य हुआ जब अफ्रीका की एक जाति में, राज्याभिषेक कराने के लिए रानी अपने बच्चे

को भी साथ लेकर आई।

मां द्वारा बच्चे को अपना दूध पिलाने की अवधि भी सब जातियों में अलग-अलग होती है। कहीं डेढ़ साल तक मां दूध पिलाती है, कहीं दो, कहीं पर तीन वर्ष तक भी पिलाती है। इसका संबंध बच्चे के पोषण से नहीं होता, क्योंकि इस समय तक वह दूसरी चीजें भी खाने लगता है। परंतु इस लंबे काल तक दूध पिलाने से, मां को बच्चे के साथ रहना पड़ता है। इससे मां के अवचेतन मस्तिष्क को यह संतोष मिलता है कि वह अपने बच्चे को पूर्ण सामाजिक जीवन का सहयोग दे रही है जिससे उसके मस्तिष्क की रचना हो सके। मां चाहे बच्चे से बात न करे पर उसके साथ से ही, बच्चे का संसार से संपर्क स्थापित हो जाता है। वह सड़क पर, बाजार में, लोगों को देखता है और उनकी बातें सुनता है। उसकी आंखों के सामने से गाड़ियां, जानवर तथा अन्य चीजें गुजरती हैं जो उसके दिमाग में अंकित हो जाती हैं, यद्यपि वह उनका नाम नहीं जानता। आप ध्यान दें कि जब उसकी मां, फलवाले से कोई मोलभाव करती है तो बच्चे की आंखों में कैसी चमक आ जाती है। आप फौरन देखेंगे कि मां के शब्द और इशारे, उसके अंदर कैसे-कैसे भाव जाग्रत करते हैं।

रोने वाला बच्चा

हम यह भी देखते हैं कि जो बच्चा अपनी मां के साथ हमेशा रहता है, जब तक वह बीमार न हो, या उसे कोई चोट न लगी हो, वह कभी नहीं रोता। यदि आप किसी देश के सामाजिक जीवन का वृत्तचित्र देखें, तो आपको कोई बच्चा, जो अपनी मां के साथ है, रोता हुआ नहीं दिखाई देगा।

परंतु पश्चिमी देशों में बच्चों का रोना एक समस्या है। हम कितने ही मां-बाप की यह शिकायत सुनते हैं कि उनका बच्चा सदा रोता है। वे इस पर विचार-विमर्श करते हैं कि बच्चे को कैसे चुप कराएं और उसे कैसे खुश रखें। आधुनिक मनोविज्ञान का यह उत्तर है;—बच्चा इसीलिए रोता है और परेशान होता है और चिल्लाता है, क्योंकि उसे मानसिक असंतोष है। यही सच है। बच्चा ऊब जाता है। उसे एक सीमित स्थान में बंद करके, हम उसके मस्तिष्क को भूखा रखते हैं। उसे अपनी क्षमताओं का उपयोग करने के लिए कोई मौका नहीं मिलता। इसका यही इलाज है कि उसे अकेला न रखा जाए और सामाजिक जीवन में सहभागी बनाया जाए। यही उपचार कई देशों ने स्वाभाविक और अवचेतन रूप से अपनाया है। हमें इसे अच्छी तरह सचेत होकर समझ कर और जान-बूझ कर अपनाना चाहिए।

अध्याय दस

भाषा पर कुछ विचार

अब हम बच्चे में भाषा के विकास की ओर ध्यान दें। इस पर कुछ विचार आवश्यक है अन्यथा हम सामाजिक जीवन से उसका संबंध नहीं समझ सकेंगे। भाषा के कारण ही समुदायों और राष्ट्रों का निर्माण होता है, और भाषा के कारण ही मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न है। सभ्यता का विकास भी भाषा के कारण ही हुआ है।

मानव जीवन पूर्णतया स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित नहीं है, जैसे कि जानवर होते हैं। एक मानव शिशु आगे जाकर संसार में क्या करेगा, इसे कोई पहले से नहीं बता सकता। परंतु यह स्पष्ट है कि अन्य लोगों से पारस्परिक आदान-प्रदान के बिना वह कुछ विशेष नहीं कर सकता। केवल सोचने की क्षमता ही पर्याप्त नहीं है। चाहे व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान हो, वह केवल अपनी बुद्धि के सहारे अन्य मनुष्यों से विचार-विमर्श और समझौते नहीं कर सकता, जो किसी भी उपलब्धि के लिए आवश्यक है। भाषा *सामूहिक विचारों* का उपकरण है।

पृथ्वी पर मनुष्य के आने से पहले भाषा का अस्तित्व नहीं था। और भाषा है क्या? केवल थोड़ी सी हवा, थोड़ी सी आवाज, आपस में मिल कर भाषा बन जाती है।

भाषा की आवाजें स्वयं में अर्थहीन हैं। सामने रखा हुआ लोटा, और 'लोटा' शब्द में कोई तर्कयुक्त संबंध नहीं है। इस आवाज का अर्थ इसीलिए है, क्योंकि मनुष्यों ने इसे एक विशेष अर्थ देना स्वीकार कर लिया है। यही बात सब शब्दों के लिए कही जा सकती है। ये किसी मानव समाज के सदस्यों के बीच समझौते की अभिव्यक्ति है और जो इस समझौते से परिचित हैं, वे ही इसे समझ सकते हैं। दूसरे समुदाय, भिन्न आवाजों से इन्हीं विचारों को व्यक्त करते हैं, जिसके लिए उनमें सहमति होती है।

अतः भाषा एक प्रकार की दीवाल है जो मानव समुदाय को चारों ओर से घेरती है, और उसे अन्य समुदायों से पृथक करती है। इसीलिए शायद मानव मस्तिष्क में "शब्द" का सदा से कुछ रहस्यमय मूल्य रहा है। यह मनुष्यों को राष्ट्रीयता से भी अधिक जोड़ती है। शब्द, आदमियों के बीच के बंधन हैं। मनुष्य जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह उसकी मानसिक आवश्यकताओं द्वारा विकसित होती है। हम कह सकते हैं कि भाषा, मानव विचारों के साथ विकसित होती हैं।

एक विचित्र बात ध्यान देने की यह है कि कितनी कम प्रकार की आवाजों से कितने

ढेर सारे शब्द बन जाते हैं। ये आवाजें इतनी प्रकार से संकलित हो सकती हैं, कि असंख्य शब्द बनाए जा सकते हैं। कोई आवाज पहले आती है, तो कोई बाद में; कुछ का स्वर उच्चारण किया जाता है, कुछ का नहीं; कुछ में बोलते समय होंठ बंद रखते हैं, कुछ में होंठ खुले रहते हैं। परंतु इससे भी अचरज की बात याददाश्त की क्षमता है जो इतनी सारी आवाजों के संकलन और उनके अर्थ याद रखती है। शब्दों को जोड़कर, वाक्यों की रचना करके, विचारों को अभिव्यक्त करना भी एक समस्या है। इन वाक्यों में शब्दों को एक विशेष नियम से सजाना पड़ता है। उन्हें बिना व्यवस्था के कमरे में कुर्सी मेज की तरह एकत्रत नहीं किया जा सकता। बोलने वाले की बात का अभिप्राय समझने के लिए, सुनने वाले को भी कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। किसी वस्तु के प्रति अपने विचार व्यक्त करने के लिए बोलने वाले को पहले उस वस्तु का नाम लेना चाहिए और फिर उसके निकट विशेषण का प्रयोग करना चाहिए। वाक्य में, कर्त्ता, क्रिया और कर्म, सबके अपने-अपने नियत स्थान हैं। केवल सही शब्दों का प्रयोग ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें उचित क्रम में भी होना चाहिए। इसका हम आसानी से परीक्षण कर सकते हैं। एक कागज के टुकड़े पर एक स्पष्ट वाक्य लिख कर, उसके सब शब्दों को अलग-अलग काट लो। अब उन शब्दों को आपस में मिलाने से कोई अर्थ नहीं निकलेगा। उन्हीं शब्दों का क्रम बदल जाने से वे अर्थहीन हो जाते हैं अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि शब्दों के क्रम पर भी सबकी सहमति होनी चाहिए।

वास्तव में भाषा उच्च श्रेणी की बुद्धि की अभिव्यक्ति है। इतिहास हमें बताता है कि कभी-कभी भाषाएं इतनी जटिल हो जाती हैं, कि उनका प्रयोग करने वाली सभ्यताओं के विनष्ट होने पर, उनका भी प्रचलन समाप्त हो जाता है। चूंकि उन्हें याद रखना इतना कठिन होता है, अतः वे विलुप्त हो जाती हैं। शुरू में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा प्रकृति की देन है। परंतु ध्यान से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भाषा प्रकृति से अलग और परे है। वह सामूहिक बुद्धि की रचना है जो प्रकृति पर अध्यारोपित कर दी गई है। एक असीमित जाल की तरह वह चारों दिशाओं में फैल जाती है, जिसके द्वारा सब कुछ अभिव्यक्त किया जा सकता है। संस्कृत और लैटिन ऐसी भाषाएं हैं, जिनका वर्षों तक अध्ययन करने के आद भी उन पर पूर्ण दक्षता प्राप्त नहीं हो पाती। यह एक रहस्य है जिसकी थाह पाना असंभव है। अपने किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को आपस में सहमत होना पड़ेगा, और इसके लिए उन्हें एक भाषा की जरूरत पड़ेगी। वाणी असली चीज है, परंतु मानव के उपकरणों में इसकी महत्ता सबसे कम है।

हमने इस समस्या पर काफी सोच-विचार किया है कि मनुष्य भाषा को कैसे प्राप्त करता है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि बच्चा ही भाषा का "अवशोषण" करता है। इस अवशोषण की वास्तविकता बहुत गूढ़ और उलझाने वाली है, जिस पर अभी तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। सामान्यतः यही कहा जाता है, "चूंकि बच्चे ऐसे लोगों के साथ रहते हैं जो आपस में बोलते हैं, अतः स्वाभाविक है कि बच्चे स्वयं भी बोलना सीख लेते हैं।" यदि हम अधिकांश भाषाओं की अनेक जटिलताओं पर विचार करें, तो यह प्रक्रिया

इतनी सरल नहीं लगेगी। परंतु हजारों वर्षों से लोग यही मानते आ रहे हैं और इस दिशा में जरा भी प्रगति नहीं हुई है।

इस समस्या के अध्ययन से एक बात और सामने आती है। चाहे कोई भाषा हमें कितनी ही कठिन क्यों न लगे, वह जिस देश में जब उत्पन्न हुई थी, उस समय वहां के अनपढ़ निवासी भी उसे ही बोलते थे। उदाहरणतः लैटिन भाषा उन्हें भी बहुत कठिन लगती है, जो उसी की व्युत्पन्न एक आधुनिक भाषा आज भी बोलते हैं। किसी समय यही भाषा रोम के गुलाम भी बोला करते थे, यद्यपि उस समय भी वह आज की ही तरह जटिल थी। रोम के अनपढ़ मजदूर ही नहीं, राजघराने के तीन वर्षीय बच्चे भी उसे ही बोलते थे।

भारत में भी, बहुत वर्ष पहले, किसान या वनवासी सहज रूप से संस्कृत में ही अपने को व्यक्त करते थे।

इन प्रश्नों से जो जिज्ञासा जाग्रत हुई, उसी के फलस्वरूप भाषा के विकास का ध्यानपूर्वक अध्ययन हुआ, जैसा कि इसे प्रत्यक्षतः बच्चों में देखा जा सकता है। मैं बच्चे में भाषा के स्वाभाविक विकास की बात कर रही हूं, भाषा सिखाने की नहीं, क्योंकि मां अपने बच्चे को भाषा सिखाती नहीं है। वह बच्चे में सहज रूप से विकसित हो जाती है। बच्चे में भाषा के विकसित होने के निश्चित नियम हैं जो सब बच्चों के लिए समान हैं। बच्चे के जीवन की विभिन्न अवस्थाएं प्रदर्शित करती हैं कि प्रत्येक अवस्था में भाषा का एक निश्चित स्तर तक विकास होता है जो संसार के सब बच्चों के लिए समान हैं, चाहे उनकी भाषा सरल हो या जटिल। आज भी कुछ पुरातन जातियां हैं जो बहुत ही सरल भाषा बोलती हैं, उनके बच्चों में भी उसी स्तर तक भाषा का विकास होता है जितना कठिन भाषा बोलने वाले बच्चे में होता है। सब बच्चे पहली अवस्था में केवल अक्षर बोलते हैं, उसके बाद वे पूरा शब्द बोलते हैं, और अंत में वे पूरा वाक्य बोल लेते हैं, जिसमें वे पूर्ण रूप से नियमों और व्याकरण का पालन करते हैं।

पुल्लिंग और स्त्रीलिंग, एकवचन और बहुवचन, काल, कारक, उपसर्ग, प्रत्यय, इन सबका उपयोग बच्चा अपनी भाषा में करता है। भाषा जटिल हो सकती है, उसमें कई अपवाद हो सकते हैं। फिर भी बच्चा उसे पूर्ण इकाई की तरह, उसी आयु में ग्रहण कर लेता है, जिस आयु में अफ्रीका का बच्चा अपनी बहुत कम शब्दों वाली, सरल भाषा को ग्रहण करता है।

यदि हम विभिन्न उच्चारणों के उत्पन्न होने पर ध्यान दें, तो हमें पता चलेगा कि उनका प्रारंभ कुछ नियमों के अनुसार होता है। शब्दों में जितनी आवाजें आती हैं, वे कुछ अंगों के विशिष्ट प्रयोग के फलस्वरूप आती हैं। कभी नाक और गले का स्वर-मेल होता है, कभी जीभ और गाल की मांसपेशियां सहकार्य करती हैं। इस यांत्रिक विधि की संरचना में शरीर के विविध अंग भाग लेते हैं जो अपनी मातृभाषा के लिए सर्वोत्तम कार्य करते हैं, क्योंकि बच्चा उसे बचपन में सीखता है। विदेश में, हम वयस्क, वहां की भाषा की सब आवाजें पहचान तक नहीं सकते, उन्हें मौखिक रूप से उच्चरित करना तो दूर की बात है। अंगों

के यांत्रिक सहकार्य का प्रयोग हम अपनी ही भाषा में कर सकते हैं। केवल बच्चा ही अपनी खुद की यांत्रिक विधि की रचना में समर्थ है और इस प्रकार जितनी भाषाएं वह अपने चारों ओर सुनता है, उन्हें वह पूर्णता के साथ ग्रहण कर लेता है।

यह सचेत कार्य का परिणाम नहीं है। यह मस्तिष्क में अचेतन रूप से होता है। इसका प्रारंभ अचेतन की घोर गहराइयों में होता है और वहां से तैयार उपलब्धि के रूप में यह प्रकट होता है। हम वयस्क केवल सचेत रूप से भाषा को सीखना जानते हैं, और ध्यान पूर्वक इस कार्य के लिए प्रयास करते हैं। लेकिन हमें एक और पक्ष पर भी विचार करना चाहिए। यह है अंगों के यंत्रवत कार्य करने की स्वाभाविक विधियां या ऐसी यांत्रिक विधियां जो प्रकृति पर अध्यारोपित कर दी गई हैं। ये सचेत कार्य नहीं करतीं और ये यंत्रवत कार्य अंदर ही विकसित होते हैं जो हमें बाहर नहीं दिखाई देते। इनका एकमात्र प्रमाण उनका बाह्य प्रदर्शन है जो सभी मानव जाति में स्पष्ट दिखाई देता है।

ये समस्त दृश्य आश्चर्यजनक हैं परंतु इसके विस्तृत विवरण और भी आश्चर्यजनक हैं। एक तो यह, कि सभी लोगों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी उच्चारण की साम्यता बनी रहती है। दूसरा यह कि जटिल भाषाएं भी उतनी ही सहजता से ग्रहण कर ली जाती हैं जितनी सरल भाषाएं। किसी बच्चे को अपनी मातृभाषा सीखने में कठिनाई नहीं होती। उसके अंदर का यंत्र इसे पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण कर लेता है—भाषा चाहे जो भी हो।

भाषा को बच्चा कैसे ग्रहण करता है, इसे समझाने के लिए मुझे एक अनुरूप उदाहरण ध्यान में आता है। यद्यपि यह साम्यता बहुत पूर्ण तो नहीं है पर इससे हमें बच्चे के मस्तिष्क की थोड़ी सी झलक मिल जाती है।

मान लीजिए, हमें किसी चीज का चित्र चाहिए। या तो हम पेंसिल और रंगों से उसे स्वयं बनाएं या कैमरे से उसका चित्र उतार लें। कैमरे में सारा चित्र तत्काल एक प्लेट पर उतर आता है, चाहे उसमें एक व्यक्ति हो या दस। वह एक क्षण में हो जाता है। यदि हजार व्यक्ति हों, तब भी कोई परेशानी नहीं होती। चाहे किताब का मुख पृष्ठ हो, या अंदर छोटे अक्षरों में विदेशी भाषा में छपा पृष्ठ हो, मेहनत उतनी ही होती है। रसायनों की प्रतिक्रिया, सभी पदार्थों के साथ उसी रूप में होती है—चाहे सरल हो या जटिल। परंतु यदि हम हाथ से किसी मानव का चित्र बनाएं, तो उसमें समय लगता है और जितने अधिक मानव होंगे, समय भी उतना ही अधिक लगेगा। यदि मुख पृष्ठ की प्रतिलिपि बनाने में इतना समय लगता है, तो अंदर के छोटे अक्षरों के पृष्ठ में कितना लगेगा ?

कैमरे से जो तस्वीर उतरती है, वह प्लेट पर पूर्ण अंधेरे में अंकित होती है। उसका प्रिंट भी अंधेरे में ही तैयार किया जाता है और उसके बाद वह सबको प्रकाश में दिखाया जाता है। पर एक बार अंकित होने के बाद उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

बच्चे द्वारा भाषा सीखने की मानसिक प्रक्रिया भी कुछ ऐसे ही होती है। उसका प्रारंभ घोर अचेतन में होता है। वहीं उसका विकास होता है। तैयार होने के बाद वह अपरिवर्तनीय हो जाती है। उसके बाद वह सामने आती है। निस्संदेह ऐसा कोई संयंत्र है जो यह सब

कराता है।

एक बार जब हम इसे स्वीकार कर लें तो हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि यह प्रक्रिया वस्तुतः है क्या ? आजकल इस समस्या पर बहुत तकनीकी अनुसंधान हो रहा है। परंतु इसका एक पक्ष हम स्वयं देख सकते हैं जिसमें केवल दृश्य घटनाओं को ध्यान से देख कर अध्ययन किया जाता है। जो आंख से दिखाई पड़ रहा है, उसमें तो संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे अध्ययन बड़ी बारीकी से करने चाहिए। आजकल बच्चे के जन्म से, उसके दो वर्ष के होने तक, ऐसे अध्ययन अति सावधानी से किए जा रहे हैं। प्रत्येक दिन की घटना को नोट कर लिया जाता है। उन अवधियों को भी अंकित कर लिया जाता है जिनमें कोई नया विकास न हुआ हो। इन विवरणों से कुछ तथ्य उभर कर आते हैं। मस्तिष्क के अंदर चाहे बहुत काम हो रहा हो, परंतु उसके बाह्य संकेत बहुत कम होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चे द्वारा आंतरिक कार्य के अनुपात में, उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता बहुत कम है। यह भी पता चलता है कि उसका प्रत्यक्ष विकास क्रमिक गति से नहीं होता, वरन छलांग लगा कर होता है। जैसे अक्षर बोलने की क्षमता एक निश्चित समय में प्रकट होती है। उसके बाद महीनों तक बच्चा अक्षर ही बोलता रहता है। बाहर से ऐसा लगता है कि उसकी कोई प्रगति नहीं हो रही है। उसके बाद अचानक एक दिन वह पूरा शब्द बोलता है। फिर बहुत दिनों तक बच्चा एक या दो शब्द ही बोलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रगति बहुत धीमी है। परंतु उसकी अन्य गतिविधियों से पता चलता है उसके आंतरिक जीवन में नियमित और आश्चर्यजनक विस्तार हो रहा है।

क्या हमारे अनुभव भी ऐसे ही नहीं हैं ? हम प्राचीन जातियों का इतिहास पढ़ते हैं जो सदियों तक बहुत निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती रहीं। लगता था कि वे आगे प्रगति करने में असमर्थ हैं। परंतु यह उनका बाह्य रूप था जिसे इतिहासकार देख सकते हैं। वास्तविकता यह है कि उनमें निरंतर आंतरिक प्रगति होती रहती है। फिर अचानक कुछ नई खोजों से परिवर्तन की गति में तीव्रता आती है। उसके बाद फिर से धीमी गति के विकास की अवस्था आती है और फिर एक बार परिवर्तन की सशक्त लहर आती है।

यही बात बचपन में भाषा के साथ होती है। इसका विकास निरंतर स्थिर गति से नहीं होता। शब्द एक के बाद एक नहीं सीखे जाते। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, यहां भी विस्फोटक प्रक्रिया होती है, जिसमें शिक्षकों की कोई भूमिका नहीं होती। यह विस्फोट स्वयं ही होता है, जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। प्रत्येक बच्चा एक विशेष आयु में, अनेक शब्द एक साथ, सही उच्चारण में बोलने लगता है। तीन महीने के अंदर ही वह बच्चा जो प्रायः गूंगा था, सब प्रकार की संज्ञाओं, प्रत्यय, उपसर्ग और क्रियाओं का सहजता से उपयोग करने लगता है। सभी बच्चों में दो वर्ष की आयु के समाप्त होते-होते यह स्थिति आ जाती है।

अतः बच्चों के दृष्टांत को देख कर हमें आशावान होना चाहिए और विकास की प्रतीक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। इतिहास के निष्क्रिय काल हमें बताते हैं कि अंततः प्रगति

की आशा है। शायद मानव जितना बुद्धिहीन लगता है उतना है नहीं। हो सकता है कि उसके आंतरिक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे हों जो भविष्य में विस्फोट के साथ प्रकट होंगे।

बच्चे की अभिव्यक्ति की क्षमता में ये विस्फोटक घटनाएं दो वर्ष की आयु के बाद भी काफी समय तक घटती हैं। वह सरल और जटिल वाक्यों का प्रयोग करने लगता है, क्रिया के सब काल और कारक सीख लेता है, और इस तरह वह अपनी जाति और सामाजिक वर्ग की विशेष मानसिकता को अभिव्यक्त करने की भाषा सीख लेता है। यह सारा ज्ञान अचेतन में तैयार होता है और फिर चेतन को हस्तांतरित होता है और फिर बच्चा अपनी इस नई क्षमता को प्राप्त करके निरंतर, बिना रुके, बोलता रहता है।

बच्चे की ढाई वर्ष की आयु, उसके मानसिक निर्माण की सीमा रेखा है। इस आयु के बाद भाषा के संगठन की एक नई अवस्था शुरू होती है जो बिना विस्फोटों के सहज रूप में क्रमशः विकसित होती है। यह दूसरी अवस्था पांचवें या छठे वर्ष तक चलती है और इस काल में बच्चा कई नए शब्द सीखता है और वाक्य रचना में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेता है। यदि बच्चे की परिस्थिति ऐसी है कि वह बहुत कम शब्द सुनता है, या केवल स्थानीय भाषा ही सुनता है, तो वह उसको ही बोलना सीखेगा। परंतु यदि वह सुसंस्कृत लोगों के बीच में रहता है, जिनकी शब्दावली, बहुत व्यापक है, तो वह सहजता से उनको अपना लेगा। अतः परिस्थिति का बहुत महत्व है। फिर भी इस अवस्था में बच्चे की भाषा समृद्ध होती है, चाहे उसका वातावरण कैसा ही हो।

बेलजियम के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि ढाई वर्ष का बच्चा करीब दो या तीन सौ शब्द जानता है। यह सब वह बिना शिक्षक के सीख लेता है। यह सब सहजता से अर्जित किया जाता है। जब वह इतना सब अपने आप सीख लेता है, तब हम उसे स्कूल भेजते हैं और उसे अक्षर-ज्ञान कराने का दंभ भरते हैं।

हमें इसका ध्यान रखना चाहिए कि विकास का मार्ग सदा दोहरा होता है। अचेतन क्रियाकलाप से वाणी तैयार होती है। उसके बाद चेतन प्रक्रिया धीरे-धीरे जाग्रत होती है, और अचेतन से, उसके द्वारा तैयार की गई वाणी प्राप्त करती है।

अंतिम नतीजा क्या होता है ? बच्चा *मानव* बन जाता है। छह वर्ष का बच्चा, जो सही बोल सकता है और जिसे अपनी मातृभाषा के सब नियम आते हैं, उस अचेतन क्रिया का वर्णन नहीं कर सकता जहां से उसने यह सब प्राप्त किया है। फिर भी वह, मानव ही, वाणी का स्वयं रचयिता है। यह कार्य वह पूर्ण रूप से अपने आप करता है। यदि उसमें यह क्षमता न होती, और वह सहजता से अपनी भाषा पर अधिकार न प्राप्त कर पाता, तो संसार में आदमी कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाता। तब सभ्यता नाम की कोई चीज नहीं होती।

हमें इसी परिप्रेक्ष्य में बच्चे को देखना चाहिए। यही उसकी महत्ता है। उसी से सब कुछ संभव होता है। उसी कार्य पर सभ्यता की नींव होती है। इसीलिए हमें बच्चे की सहायता करनी चाहिए जिससे उसे बिना सहारे के अकेले ही न चलना पड़े।

अध्याय ग्यारह

बच्चों में भाषा का प्रारंभ

अब मैं आपको बताऊंगी कि भाषा का तंत्र कैसे कार्य करता है। यह तो सर्वविदित है कि केंद्रीय स्नायुतंत्र की सहायता से जीव अपने को बाह्य संसार के अनुकूल बनाता है। इसमें विविध इंद्रियां, स्नायु और स्नायुकेंद्र, गतिशीलता से संबंधित मांसपेशीय अंग सभी की भूमिका होती है। परंतु भाषा के तंत्र में नितांत शारीरिक तत्वों के अतिरिक्त कुछ और भी अंतर्निहित है। पिछली शताब्दी के अंत में यह प्रदर्शित किया गया था, कि भाषा का संबंध मस्तिष्क के स्नायु केंद्रों से है। इनमें मुख्य दो केंद्र हैं। एक तो वाणी सुनने का, और दूसरा वाणी उत्पादन का, अर्थात वे क्रियाकलाप जो शब्दों को ध्वनि प्रदान करें। इनमें से एक केंद्र तो संवेदन केंद्र है, और दूसरा चालक केंद्र है।

भाषा तंत्र के उपकरणों में काम करने वाले दृश्य अंगों में भी यही विभाजन दिखाई देता है। कान के अवयव शब्दों की ध्वनि ग्रहण करते हैं और मुंह, गला, नाक आदि इस ध्वनि को उत्पादित करते हैं। ये दोनों केंद्र, अपने शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षों सहित, अलग-अलग विकसित होते हैं। सुनने के अवयव, किसी विधि से, मानसिक जीवन के उस रहस्यमय केंद्र से जुड़े होते हैं जहां पर बच्चे की भाषा उसके अचेतन मस्तिष्क में विकसित होती रहती है। जहां तक शब्दों को बोलने की क्रिया है, उनकी ध्वनि उत्पन्न करने के लिए अवयवों की आश्चर्यजनक और नाजुक गतिविधियां होती हैं।

यह तो स्पष्ट है कि ध्वनि उत्पादन की प्रक्रिया अधिक धीमी गति से आगे बढ़ती है और सुनने की प्रक्रिया के बाद पूर्ण विकसित होती है। आप पूछेंगे क्यों ? क्योंकि बच्चा जो आवाज सुनता है, उन्हें पुनः उत्पन्न करने को उत्प्रेरित होता है और इसके कारण उसके अंगों में गतिशीलता आती है।

यह तर्कसंगत भी है, क्योंकि यदि आदमी के पास पूर्व स्थापित भाषा नहीं होती (और उसे स्वयं भाषा रचनी होती) तो वह पहले दूसरे लोगों की आवाज सुनता और तभी उन्हें पुनः उत्पन्न करता। अतः शब्दों की पुनरावृत्ति करने के लिए पहले उनकी ध्वनि मस्तिष्क में अंकित होनी चाहिए। उन्हीं ध्वनियों पर, जो उसने सुनी हैं और उसके मस्तिष्क ने याद रखी हैं, उसके अंगों की क्रिया निर्भर करेगी। इतनी बात तो आसानी से समझ में आती है। परंतु हमें यह याद रखना चाहिए कि वाणी का उत्पादन एक प्राकृतिक तंत्र द्वारा होता है, यह तार्किक विचार से उत्पन्न नहीं होती। वास्तव में यहां प्रकृति ही तर्कसंगत होती है।

प्रकृति का अध्ययन करते समय हम पहले सब तथ्यों पर ध्यान देते हैं और जब हमें वे समझ में आ जाते हैं, तो हम कहते हैं कि वे कितने तर्कसंगत हैं। इसीलिए हमें यह विचार आता है : "वाणी से संबंधित इन सब घटनाओं के पीछे कोई तर्कसंगत शक्ति अवश्य होगी जो इनका संचालन कर रही है।" ऐसे बुद्धिमान संचालन की रचना का प्रत्यक्ष प्रभाव मानसिक घटनाओं में अधिक लक्षित होता है, शारीरिक में उतना नहीं। हालांकि ऐसी दशा में भी वह लक्षित तो होता ही है : जब हम फूलों का ध्यान करते हैं तो हमारे सम्मुख उनके रूप-रंग उभर आते हैं। एक बात साफ है--बच्चा जब पैदा होता है तो न तो सुन सकता है और न बोल सकता है। फिर इन योग्यताओं का अस्तित्व कहां रहता है ? ये सब क्षमताएं उसके अंदर प्रकट होने के लिए तैयार रहती हैं।

बच्चे में ये दोनों ही केंद्र होते हैं। परंतु न तो उसके पास पहले से वाणी रहती है और न किसी विशेष भाषा का कोई वंशानुगत प्रभाव रहता है। लेकिन उसमें यह क्षमता रहती है कि किसी भाषा को सुन कर, उसी प्रकार की ध्वनि निकालने के लिए क्रिया करे। उसके पास वह तंत्र है जिसके उपयोग से प्रकृति भाषा का पूर्ण रूप से विकास करती है।

यदि हम इसकी गहराई में जाएं तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन दो स्नायु केंद्रों के अतिरिक्त, एक विशेष संवेदनशीलता और कार्य करने की तत्परता भी होनी चाहिए जो केंद्र से जुड़ी हों। सुनने की अनुभूति के बाद ही बच्चे के क्रियाकलाप प्रारंभ होंगे। यह सब इतने आश्चर्यजनक ढंग से सुव्यवस्थित है कि बच्चे के जन्म होते ही उसके द्वारा वाणी तैयार करने का कार्य प्रारंभ हो जाता है।

इन सारी जटिल तैयारियों में अवयवों का भी प्रमुख स्थान है। उनके तंत्र भी उतने ही आश्चर्यजनक हैं जितने मानसिक क्षेत्र के हैं। कान (जो भाषा को सुनने वाला अवयव है) का निर्माण गर्भाशय में होता है। वह इतना नाजुक और जटिल उपकरण है कि लगता है कि किसी प्रतिभाशाली संगीतज्ञ का बनाया हुआ यंत्र हो। कान का मध्य भाग वीणा की याद दिलाता है जिसके तार, अपनी लंबाई के अनुसार, विविध स्वरों को सुनने से आंदोलित होते हैं। हमारे कान की वीणा में 64 तार हैं जो स्वरों के अनुक्रम से सजे हुए हैं। चूंकि कान में जगह बहुत कम है, अतः ये तार सर्पिल, या पेंचदार रीति से सजे हुए हैं जैसा कि हम शंख में देखते हैं। इतनी सीमित जगह में प्रकृति ने बड़ी चतुराई से स्वरों के अभिग्रहण के लिए सभी आवश्यक प्रावधान किए हैं। ये तार कैसे आंदोलित होते हैं ? यदि उनको कोई नहीं छेड़े, तो वे वर्षों तक मौन बने रहेंगे, जैसे—उपयोग में न लाया गया पियानो। परंतु कान की वीणा के सामने एक प्रतिध्वनि करने वाली झिल्ली लगी रहती है जैसे तबले पर खिंचा हुआ चमड़ा रहता है। जब भी कोई आवाज इस कान के परदे पर टकराती है, अंदर के तार गूंजने लगते हैं और हमें वाणी सुनाई देती है।

विश्व की सभी आवाजों को कान नहीं सुन सकता, क्योंकि उसके पास पर्याप्त तार नहीं होते। परंतु जितने भी तार हैं, वे काफी जटिल ध्वनियों को ग्रहण कर सकते हैं और पूरी भाषा अपनी समस्त नजाकत और सूक्ष्मता के साथ संचारित हो सकती है। कान का

यंत्र, जन्म पूर्व अवस्था में निर्मित होता है। यदि बच्चा सातवें महीने में पैदा हो, तो कान का निर्माण उस समय तक पूरा हो जाता है और बच्चा सुनने के लिए तैयार रहता है। यह यंत्र अपने पास आने वाली आवाजों को कैसे स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क में भेजता है जहां उन्हें अभिग्रहण करने के लिए विशेष केंद्र स्थापित हैं, यह भी प्रकृति का एक रहस्य है।

जन्म के बाद वाणी की रचना कैसे होती है ? मनोवैज्ञानिकों ने नवजात शिशु का विशेष अध्ययन किया है और उनके अनुसार श्रवण इंद्रिय का विकास सबसे धीमी गति से होता है। प्रारंभ में यह इतनी निष्क्रिय होती है कि बहुतों का यही कहना है कि बच्चे जन्म के समय बहरे होते हैं। किसी भी प्रकार की ध्वनि के प्रति उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती जब तक उसके साथ कोई शारीरिक उत्पीड़न न हो। मुझे लगता है कि इसका भी कोई रहस्यमय तात्पर्य है। मेरे विचार से बच्चा संवेदनशून्य नहीं होता वरन वह ध्वनि ग्रहण करता है और भाषा के केंद्रों में शब्दों का संग्रहण करता है। मेरा तर्क है कि इन केंद्रों की रचना विशेष रूप से भाषा के शब्दों के अभिग्रहण के लिए होती है। ऐसा हो सकता है कि सुनने का यह सशक्त तंत्र केवल एक प्रकार की ध्वनियों, अर्थात मानव-वाणी के प्रति ही संवेदनशील हो। परिणामतः बच्चा जब शब्द सुनता है तो उसका जटिल तंत्र अपना काम शुरू कर देता है जिसके कारण वह उन्हीं आवाजों को दुबारा उत्पन्न करने के लिए क्रियाएं करता है। यदि संवेदनशीलता में यह विशिष्टीकरण नहीं होता, यदि केंद्र हर प्रकार की आवाज को ग्रहण कर लेते, तो बच्चा आश्चर्यजनक आवाजें निकालना शुरू कर देता। अपने रहने के स्थान पर पाई जाने वाली सब आवाजें वह निकालता, जिसमें मानव-वाणी के अतिरिक्त अन्य आवाजें भी होतीं। चूंकि प्रकृति ने इन केंद्रों को भाषा के उद्देश्य से रचा है और पृथक कर दिया है, इसी कारण बच्चे के लिए यह संभव हो सका है कि वह बोलना सीख सके। कुछ बच्चों को भेड़िए जंगल में उठा ले गए जहां से बाद में वे चमत्कारी ढंग से छूट कर वापस मानव सभ्यता में आ गए। यद्यपि वे जंगल में रहे, जहां जानवरों और चिड़ियों का शोर था तथा अन्य कई प्रकार की आवाजें थीं जैसे पानी का कलकल कर बहना या पत्तियों का हवा में सरसराना, फिर भी ये पूर्णतया मूक रहे। वे किसी प्रकार की आवाज नहीं निकालते थे क्योंकि उन्होंने आदमी की आवाज सुनी ही नहीं थी और आदमी की आवाज ही उनकी वाणी के तंत्र को सक्रिय बना सकती है।

मैं इस पर जोर इसलिए देती हूं, क्योंकि मैं आपको बताना चाहती हूं कि भाषा के लिए एक विशेष तंत्र शरीर में होता है। बच्चे को तैयार भाषा प्राप्त नहीं होती, बल्कि यह तंत्र प्राप्त होता है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी भाषा का निर्माण करता है और यही मानव जाति की विशेषता है। अतः बच्चे को जो यंत्र उपलब्ध होता है, उससे वह शब्दों का निर्माण करता है। जन्म के तुरंत बाद के रहस्यमय काल में बच्चा, जिसका एक मानसिक अस्तित्व है और जिसके पास परिष्कृत संवेदनशीलता है, निष्क्रिय रहता है मानो उसका मानस सो रहा हो। पर अचानक ही वह जाग्रत होता है और तब उसे सुखद वाणी सुनाई देती है। उसके सब तंतु कंपायमान होने लगते हैं। बच्चा शायद यह सोचता हो कि अन्य कोई ध्वनि

उसके कानों में पड़ी ही नहीं। पर वास्तविकता यह है कि उसके मानस ने अन्य किसी ध्वनि के प्रति संवेदनशीलता नहीं दिखाई। केवल मानव-वाणी में ही उसे प्रेरित करने की क्षमता है।

यदि हम उन प्रेरक शक्तियों की याद करें जो जीवन की रचना करती हैं और उसे बनाए रखती हैं, तो हमें यह समझ में आएगा कि बच्चे में इस मानव-वाणी से जिस भाषा की रचना होती है वह चिरस्थायी रहेगी और नई पीढ़ी इस भाषा की निरंतरता को बनाए रखेगी। उस समय बच्चे के नेमे (Mneme) में जो भी निर्मित होता है, वह सदा सर्वदा अमिट रहता है।

यही बात लययुक्त संगीत और नृत्य के लिए भी सच है। प्रत्येक मानव संगीत प्रेमी होता है। सभी अपने संगीत का निर्माण करते हैं जैसे वे अपनी भाषा का निर्माण करते हैं। प्रत्येक समुदाय अपने संगीत के प्रति संवेदनशील होता है और अपने शरीर की क्रियाओं से तथा शब्दों से उसका साथ देता है। मानव-वाणी संगीत है और शब्द उसके स्वर हैं जिनका स्वयं अपने में अलग से कोई महत्व नहीं है परंतु प्रत्येक समुदाय उन्हें अपना विशेष अर्थ प्रदान करता है। भारत में सैकड़ों भाषाएं हैं जो समुदायों को अलग करती हैं, पर संगीत सबको जोड़ता है। यह बच्चे द्वारा बचपन की याद को बनाए रखने की क्षमता का एक और प्रमाण है। हम जरा विचार करें कि इसका क्या अर्थ है। किसी भी जानवर में नाचने-गाने का प्रचलन नहीं है, परंतु संसार में सब जगह मानव जाति नाचना-गाना जानती है, और उनकी रचना करती है। ये ध्वनियां उसके अवचेतन में अंकित हो जाती हैं। मानव के अंदर क्या ह्ले रहा है, उसे हम नहीं देख सकते परंतु उसकी बाह्य घटनाओं का हम अनुमान लगा सकते हैं। बच्चे के अवचेतन में सबसे पहले भाषा की ध्वनियां अंकित होती हैं और यही मातृभाषा का आधार हैं। इन्हें हम वर्णमाला कह सकते हैं। उसके बाद अक्षर और फिर शब्द अंकित होते हैं परंतु ये शब्द बिना अर्थ समझे उपयोग में आते हैं, जैसे बच्चा अपनी प्राथमिक पुस्तक जोर से पढ़ते समय उसके शब्दों के अर्थ नहीं समझता। कितनी चतुराई से सारा कार्य होता है। बच्चे के अंदर एक छोटा सा शिक्षक है, जिसके कार्य करने का तरीका प्राचीन गुरु की तरह है जो बच्चों से पहले वर्णमाला, फिर अक्षर और फिर शब्दों का सस्वर पाठ करवाता था। फर्क यही था कि प्राचीन गुरु यह कार्य गलत समय करवाता था, क्योंकि उस समय तक बच्चे को अपनी भाषा का पूरा ज्ञान हो चुका होता है। आंतरिक शिक्षक सही समय अपना कार्य करता है। बच्चा पहले ध्वनि ग्रहण करता है, और फिर अक्षर। इस तरह वह एक क्रमिक प्रक्रिया का अनुसरण करता है जो उतनी ही तर्कसंगत है जितनी तर्कसंगत स्वयं भाषा है। इसके बाद शब्द आते हैं और अंत में व्याकरण का क्षेत्र आता है। सबसे पहले चीजों के नाम सीखे जाते हैं—संज्ञा। आप ध्यान दें कि भाषा सीखने की जो पद्धति हमने सोच-विचार कर विकसित की है, प्रकृति भी उसी पद्धति का पालन करती है। उसी के प्रशिक्षण में बच्चा पहले सब चीजों के नाम सीखता है, जो हम वयस्कों को, भाषा सीखने में सबसे खराब लगता है। परंतु बच्चा इसमें बहुत रुचि दिखाता है और यह

कार्य विकास की दूसरी अवस्था में भी चलता रहता है—अर्थात तीन से पांच वर्ष की आयु तक। व्यवस्थित ढंग से वह संज्ञा, विशेषण, समुच्चयबोधक शब्द, संज्ञा के रूप, प्रत्यय, उपसर्ग, तथा सब अपवाद सीख लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्कूल में शिक्षा ग्रहण कर रहा है जिसके अंत में एक परीक्षा भी होती है। उसमें बच्चा व्यवहार में प्रयोग करके यह प्रदर्शित करता है कि वह समस्त शब्द-भेदों को जानता है। तभी हमें इसका आभास होता है कि उसके अंदर कितना अच्छा शिक्षक कार्य कर रहा था, और वह कितना मेहनती और होशियार विद्यार्थी था जिसने इतना सब सीख लिया। परंतु किसी के पास इस चमत्कारी कार्य की प्रशंसा के लिए समय नहीं है। जब बच्चा स्कूल जाने लगता है, तब हम उसकी शिक्षा में रुचि लेते हैं और उसकी प्रगति में गौरव अनुभव करते हैं। यदि हम बड़े लोगों को सचमुच में बच्चे से प्यार है, तो हमारी निगाह उसकी उपलब्धियों पर जानी चाहिए, न कि उसके दोषों पर।

बच्चा सच में एक चमत्कारी जीव है और उसके शिक्षक को इस बात की अनुभूति अच्छी तरह होनी चाहिए। उसने दो वर्ष में सब कुछ सीख लिया। इन दो वर्षों में धीरे-धीरे उसके अंदर एक चेतना जाग्रत होती है, जिसके विस्तार की गति बढ़ती जाती है और अंत में यह उस पर समस्त रूप से छा जाती है। चार महीने में (कुछ के अनुसार इससे भी पहले, और मैं इससे सहमत हूं) बच्चा इस बात से अवगत हो जाता है कि यह रहस्यमय संगीत जो उसे अपने चारों ओर सुनाई देता है और जो उसे इतना प्रभावित करता है, वह मानव के मुख से निकल रहा है। मानव का मुंह और होंठ, अपनी क्रियाओं से इसे उत्पादित कर रहे हैं। शायद ही कोई इस पर ध्यान देता है कि बच्चा, बोलने वाले व्यक्ति के होंठों को कितने मनोयोग से देख रहा है। वह बड़े ध्यान से उनका अवलोकन करके, उनका अनुकरण करने का प्रयास करता है।

फिर उसकी चेतना इस कार्य में क्रियात्मक भाग लेना शुरू कर देती है। सारी क्रियाएं तो अवचेतन में तैयार हो चुकी हैं। परंतु वाणी के उत्पादन के लिए सूक्ष्मतम मांसपेशियों के तंतुओं में पूरा एवं सही सामंजस्य अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है। पर इस समय तक उसकी चेतना जाग्रत हो चुकती है और वह कई सजीव और समझदार प्रयोग करता है।

दो महीने तक बोलने वाले के मुंह को ध्यानपूर्वक देखने के बाद, बच्चा अक्षरों की ध्वनि निकालने लगता है। उस समय तक वह छह महीने का हो चुकता है। इसके पहले वह शब्द की कोई ध्वनि नहीं निकाल सकता था। फिर एक सवेरे आप अचानक सुनते हैं कि वह "पा—पा" "मा—मा" की आवाज निकाल रहा है। उसने 'पापा' और 'मामा' शब्दों को उत्पादित कर लिया है। उसके बाद कुछ समय तक वह केवल ये ही दो अक्षर बोलता रहता है और हम कहते हैं कि यह बच्चा केवल इतना ही कर सकता है। परंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वह बहुत प्रयास करने के बाद इस स्तर तक पहुंचा है। यह खोज उसकी स्वयं की सफलता है और उसे अपनी शक्ति का आभास होता है। अब वह

एक लघु मानव बन गया है और यंत्र नहीं रहा। अब वह ऐसा व्यक्ति है जो अपने यंत्र का उपयोग कर सकता है।

अब उसका प्रथम वर्ष समाप्त होने को है। परंतु इसके पहले, दस महीने की आयु में, बच्चे को एक और बात पता चलती है। वह यह समझने लगता है कि दूसरे व्यक्ति के मुंह से यह जो संगीत निकल रहा है, उसका भी कोई उद्देश्य है। यह केवल संगीत मात्र नहीं है। जब हम उससे प्यार की बातें करते हैं तो बच्चा यह अनुभव करता है कि यह शब्द उसको संबोधित किए जा रहे हैं और वह उनका अर्थ भी समझने लगता है। अतः प्रथम वर्ष के समाप्त होने तक दो बातें होती हैं। अचेतन में वह समझने लगा है और चेतन में उसने वाणी की रचना कर ली है, यद्यपि वह अभी तुलना कर अर्थहीन आवाजें निकालता है।

एक वर्ष का होने पर बच्चा पहला *साभिप्राय* शब्द बोलता है। वह पहले की तरह अब भी तुतलाता है, परंतु अब उसकी भाषा में कोई उद्देश्य होता है और यह उद्देश्य उसकी सचेत बुद्धि का प्रमाण है। उसके अंदर क्या हुआ है ? गहरे अध्ययनों से पता चलता है कि उसके अंदर बहुत कुछ हो गया है जिसे अभिव्यक्त करने की उसे अभी योग्यता नहीं है। उसे इस बात का और अधिक आभास हो गया है कि भाषा उसे चारों ओर की बातें बताती है और उसके अंदर यह इच्छा और भी बढ़ जाती है कि वह इस भाषा पर अधिकार पा ले और इसी समय उसके अंदर एक संघर्ष होता है। यह संघर्ष चेतना और यंत्र के मध्य होता है। यह मनुष्य के अंदर पहला संघर्ष है—उसके अंगों के मध्य संघर्ष। मैं अपने अनुभवों से आपको उदाहरण देकर बताऊंगी कि क्या होता है। मेरे अंदर बहुत से विचार हैं और जब मैं विदेश जाती हूं तो मैं चाहती हूं कि ये विचार उसी देश की भाषा में मेरे श्रोताओं तक पहुंचें जिससे उन्हें ठीक से समझ में आ जाए। मैं जानती हूं कि मेरे श्रोतागण बुद्धिमान हैं और मैं उनके साथ विचारों का आदान-प्रदान करना चाहती हूं, परंतु चूंकि मेरे पास अभिव्यक्त करने के साधन नहीं हैं, मैं ऐसा नहीं कर पाती।

जिस समय बच्चे के मस्तिष्क में बहुत से विचार रहते हैं जिन्हें वह दूसरों के सामने अभिव्यक्त करना चाहता है, परंतु भाषा की कमी के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता, उस समय बच्चे को अपनी पहली निराशा का अनुभव होता है। अचेतन में, वह बिना सहायता के, सीखने के लिए मेहनत करता है और इसी मेहनत से उसे आश्चर्यजनक सफलता मिलती है।

जो व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहा है, उसे एक शिक्षक की बहुत आवश्यकता होती है जो उसके सामने शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करे। परिवार इसे क्यों नहीं करता ? हमारी आदत है कि हम कुछ नहीं करते हैं। हम स्वयं भी बच्चे की तरह तुतला कर उससे बोलने लगते हैं। यदि उसके अंदर एक शिक्षक नहीं होता, तो वह कभी बोलना सीखता ही नहीं। यह अंदर का शिक्षक ही उसे प्रेरित करता है कि वह वयस्कों की आपस की बातचीत सुने, चाहे वे उसके बारे में कुछ नहीं बोल रहे हों, और न सोच रहे हों।

वही उसे अपनी भाषा को सही ढंग से बोलने की प्रेरणा देता है, जबकि हम ऐसा प्रयास नहीं करते।

ऐसी व्यवस्था की जा सकती है (जैसा कि हम अपने स्कूलों में करते हैं) कि एक वर्ष के बच्चों के लिए ऐसे समझदार व्यक्ति ढूंढे जाएं जो उनसे समझदारी से बात करें। एक और दो वर्ष के बीच में बच्चे को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनका हमें न तो पर्याप्त अनुभव है, और न ही हम यह समझ पाते हैं कि बच्चे को उत्तम भाषा सीखने का मौका देना कितना जरूरी है। हमें यह समझना चाहिए कि बच्चा व्याकरण का ज्ञान स्वयं प्राप्त करता है, परंतु यह कोई कारण नहीं है कि हम उससे सही व्याकरण संगत भाषा न बोलें, या उसके वाक्यों की रचना में उसकी सहायता न करें।

जन्म से दो वर्ष तक के बच्चों के लिए "घर में सहायकों" की जो नई संस्था* बनी है, उनके सहायकों को बच्चे में भाषा के विकास का पूरा ज्ञान होना चाहिए। बच्चे की सहायता करने में हम प्रकृति के सहयोगी बन जाते हैं। प्रकृति ही उस बच्चे की रचना कर रही है और हम देखेंगे कि अध्ययन का सारा कार्यक्रम तो पूर्व नियोजित है।

एक बार फिर मैं अपने दृष्टांत की बात करती हूं। जब मैं अपनी टूटी-फूटी विदेशी भाषा में कोई महत्वपूर्ण बात कहना चाहती हूं पर मुझे उपयुक्त शब्द नहीं मिलते, तो मैं क्या करूं ? मुझे गुस्सा आएगा और शायद मैं चिल्लाऊं। यही बात एक या दो वर्ष के बच्चे के साथ होती है। जब वह एक शब्द में हमसे कुछ कहने की कोशिश करता है और हम उसे समझ नहीं पाते तो वह बहुत क्रोधित हो जाता है और मानो गुस्से का दौरा पड़ जाता है। हमें उसका कारण समझ में नहीं आता। हम बहुधा कहते हैं—"देखा, मानव प्रकृति तो जन्मजात ही विकृत होती है।"

परंतु इस छोटे बच्चे के प्रति हमारी यह गलतफहमी है। वह अपनी स्वतंत्रता की ओर संघर्ष कर रहा है। चूंकि उसके पास अभिव्यक्त करने की भाषा नहीं है, इसीलिए वह अपनी खिसियाहट का प्रदर्शन कर रहा है। उसमें भाषा के निर्माण की क्षमता है और उसे गुस्सा इसीलिए आ रहा है कि उसे सही शब्द नहीं मिल रहे हैं। फिर भी, न तो गलतफहमी और न निराशा, उसे प्रयास करने से रोक सकती है और धीरे-धीरे वह प्रचलित शब्दों से मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग करने लगता है।

करीब डेढ़ वर्ष का होने पर बच्चे को एक और बात पता चलती है—कि प्रत्येक वस्तु का एक नाम होता है। अतः हम देखते हैं कि उसने जितने शब्द सुने, उनमें से उसने संज्ञाओं को पहचान लिया, विशेषतः व्यक्तिवाचक संज्ञा को। यह कितनी आश्चर्यजनक प्रगति है। यह तो उसे मालूम था कि उसके चारों ओर संसार में कई चीजें हैं। अब उसे पता चला कि इनमें से प्रत्येक चीज के लिए एक विशेष शब्द है। यह सच है कि केवल संज्ञा से पूरी बात नहीं कही जा सकती। शुरू में वह एक शब्द से पूरा विचार अभिव्यक्त करता है।

---

* रोम की मांटेसरी सोसायटी इन 'सहायकों' के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है। ये सहायक इस उम्र के बच्चों की देखभाल में विशेषज्ञता प्राप्त किए होते हैं।

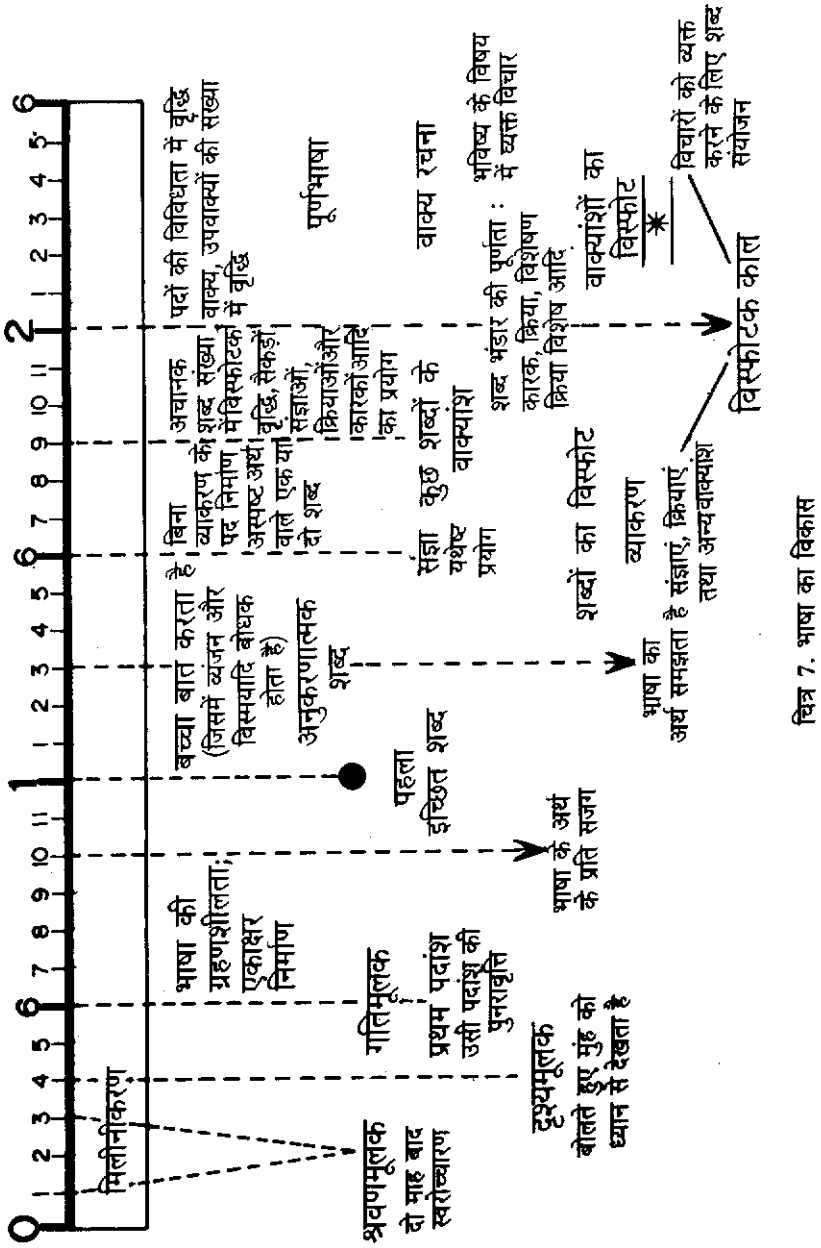

चित्र 7. भाषा का विकास

मनोवैज्ञानिकों ने इन शब्दों पर बहुत ध्यान दिया है, जिन्हें बच्चा वाक्यों के स्थान पर प्रयुक्त करता है। इन्हें "एक शब्द का वाक्य" कहते हैं। जैसे, पानी पाने के लिए बच्चा कहेगा, "मम्मम" इसके अर्थ हैं कि "मैं पानी पीऊंगा"। यदि मोटर में घूमने जाना है तो बच्चा कहेगा "पोंपो"—अर्थात—"मैं मोटर में बैठूंगा।"

इस संक्षिप्त भाषा की एक विशेषता यह है कि इसमें स्वयं शब्द बदल जाते हैं। अधिकतर संक्षिप्त रूप में कोई दूसरी ध्वनि भी जुड़ जाती है या कोई नया शब्द बन जाता है। जैसे कुत्ते के लिए "भों-भों" शब्द का प्रयोग होता है। इसे हम बच्चे की भाषा कहते हैं। इस पर अधिक अध्ययन की आवश्यकता है और बच्चों के लिए कार्य करने वालों ने इस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।

इस आयु में बच्चा मात्र भाषा का ही निर्माण नहीं करता है। अन्य चीजों के अतिरिक्त वह अपने अंदर व्यवस्था की भावना का निर्माण भी करता है। यह कोई सतही या अस्थायी भावना नहीं है जैसा कि प्रायः समझा जाता है। यह उसकी वास्तविक आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है। जब बच्चा अपनी मानसिकता की रचना करने में व्यस्त रहता है तब उसके अंदर बहुधा यह प्रबल इच्छा होती है कि वह अपनी अस्तव्यस्त स्थिति में कुछ व्यवस्था स्थापित करे।

उसकी असहाय स्थिति से उसे मानसिक व्यथा पहुंच सकती है। यदि हम उसकी भाषा समझ सकें तो हम उसे इस व्यथा से बचा सकते हैं और उसे शांत कर सकते हैं।

इस समय मुझे एक घटना याद आ रही है जो इस विषय पर प्रकाश डालती है। यह* स्पेन के एक बच्चे के बारे में है। वहां की भाषा में 'एब्रीगो' का अर्थ ओवरकोट होता है। और 'एसपाल्डा' का अर्थ कंधा होता है। यह बच्चा एब्रीगो के स्थान पर 'गो' बोलता था और एसपाल्डा के स्थान पर 'पाल्डा' बोलता था। एक बार उसकी मां ने ओवरकोट उतार कर अपने हाथ पर टांग लिया। बच्चा 'गो' कह-कह कर रो रहा था। किसी को उसकी बात समझ में नहीं आ रही थी और वह चिल्ला-चिल्ला कर रोता जा रहा था। अंत में मैंने उसकी मां से कहा कि तुम ओवरकोट फिर से पहन लो। जैसे ही उसने ओवरकोट पहना, बच्चा चुप हो गया और कहने लगा "गो पाल्डा" अर्थात "ओवरकोट कंधे पर पहनना चाहिए।" इस दृष्टांत में हम देखते हैं कि बच्चे को व्यवस्था स्थापित करने का कितना ध्यान रहता है और अव्यवस्था से उसे कितनी चिढ़ होती है। इसीलिए मैं एक बार फिर डेढ़ साल के बच्चों के लिए विशेष *स्कूलों* की महत्ता पर जोर देना चाहूंगी। मेरा विश्वास है कि समाज द्वारा, विशेष कर माताओं द्वारा इन बच्चों को अलग नहीं रखना चाहिए वरन उन्हें बड़े लोगों के साथ अधिक से अधिक समय बिताने देना चाहिए और सही उच्चारण के साथ उन्हें भाषा सुनने का अवसर मिलना चाहिए।

---

* इस जैसी घटनाएं मेरी पुस्तक *द सीक्रेट ऑफ चाइल्डहूड* में मिलेंगी।

अध्याय बारह

बच्चे के विकास में रुकावटों का प्रभाव

मैं यहां पर आपको यह बताना चाहूंगी कि बच्चे के मस्तिष्क में कुछ गहरी संवेदनशीलताएं होती हैं, क्योंकि इसी से आपको बच्चे में छिपी हुई प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से पता चलेगा। हम बच्चे का एक प्रकार से मनोविश्लेषण करेंगे। मैंने चित्र 8 में बच्चे में भाषा के विकास को दिखाने के लिए कुछ प्रतीकात्मक चिह्नों का प्रयोग किया है। विचारों को स्पष्ट करने में इनसे हमें सहायता मिलेगी।

काले त्रिकोण संज्ञा का संकेत करते हैं; काले गोले क्रिया का। अन्य शब्द-भेद चित्र 8 की कुंजी में दिखाए गए हैं। अगर एक विशेष आयु में बच्चा करीब दो सौ या तीन सौ शब्दों का प्रयोग करता है, तो मैं जिस प्रणाली का प्रयोग कर रही हूं उसके द्वारा इसका चित्रण किया गया है। और एक नजर डालने पर पता चल जाता है कि बच्चे में भाषा का विकास कैसे होता है। बच्चा चाहे अंग्रेजी बोले, या तमिल, या गुजराती या इतावली या स्पेनी; शब्द-भेदों के यही प्रतीक चिह्न होंगे।

हमारे चित्र में सबसे बाईं ओर कुछ अस्पष्ट धब्बे हैं जो बोलने की दिशा में बच्चे के प्रथम प्रयासों की ओर संकेत करते हैं—विस्मय बोधक ध्वनियां। उसके बाद एक अवस्था आती है जब दो ध्वनियों के मिलने से एक अक्षर की आवाज बनती है; फिर तीन ध्वनियों के मिलने से एक शब्द बनता है। उसके बाद कुछ समय पश्चात, चित्र के दाईं ओर हमें शब्दों के कई समूह दिखाई देते हैं। इनमें कुछ संज्ञाएं हैं जिनका बच्चा बहुधा प्रयोग करता है। इसके पश्चात दो शब्दों को मिला कर वाक्यांश बनते हैं जिसके व्यापक अर्थ होते हैं, क्योंकि प्रत्येक शब्द, अनेक शब्दों का स्थान लेता है। इसके तत्काल बाद शब्दों का एक विस्फोट होता है और अनेक नए शब्द उपयोग में आने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने जो अनुमान लगाया है, वही संख्या मैंने इस चित्र में प्रयुक्त की है।

इसके कुछ ही पहले, हम चित्र में देखते हैं, कि शब्दों के समूह हैं जिनमें अधिकतर संज्ञा हैं और अन्य शब्द-भेद उनके बीच में अव्यवस्थित रूप से बिखरे हुए हैं। दो वर्ष के तत्काल बाद एक दूसरी अवस्था दिखाई गई है जिसमें शब्द व्यवस्थित रूप से संगठित हैं। यह वाक्यों का विस्फोट है। अतः पहला विस्फोट शब्दों का है, दूसरा विचारों का है।

परंतु इन विस्फोटों के पहले किसी प्रकार की तैयारी अवश्य हुई होगी। वह चाहे गुप्त और छिपी हुई हो, परंतु यह तो निश्चित है कि तैयारी होती अवश्य है। क्योंकि हम देखते

हैं कि बच्चा अपने विचार व्यक्त करने का कितना प्रयास करता है। बड़ा आदमी ठीक से समझ नहीं पाता कि बच्चा क्या कहना चाहता है। इसीलिए इस आयु में बच्चा अक्सर गुस्से में चिल्लाता है। इसका हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं। बच्चे के जीवन में इस समय खिसियाहट अवश्य आती है। जब वह अपने प्रयासों में असफल होता है, तो वह गुस्से से भर जाता है। यह सभी जानते हैं कि गूंगे-बहरे बच्चे बहुत झगड़ालू होते हैं। पर वे इसीलिए ऐसे होते हैं, क्योंकि वे अपने को व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं। उनके अंदर विचार तो बहुत सारे हैं जो बाहर आना चाहते हैं पर साधन नहीं हैं। स्वस्थ बच्चा तो किसी तरह अपने विचार व्यक्त करने में सफल हो जाता है, परंतु उसे भी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

बच्चे के लिए यह बहुत कठिन अवस्था है। उसकी प्रगति में जितनी रुकावटें आती हैं, वे या तो वातावरण के कारण या बच्चे की सीमित क्षमता के कारण होती हैं। इस समय उसे एक बार फिर अपने को अनुकूल बनाने में कठिनाई होती है। पहली बार ऐसी कठिनाई उसे तब हुई थी, जब जन्म के तत्काल बाद, उसे अपने सारे काम स्वयं करने पड़े थे। जन्म के पहले उसके सारे काम मां करती थी। हमने देखा कि जन्म के आघात से बच्चे में कैसे प्रतिगमन की प्रवृत्ति प्रारंभ हो जाती है। यदि इस समय उसे पर्याप्त देखरेख न मिले, और उसे ठीक से समझने का प्रयत्न न किया जाए, तो बच्चे का काफी नुकसान हो सकता है। हमने यह भी देखा था कि कुछ बच्चों में, अन्य की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है, या कुछ बच्चों की परिस्थितियां, अन्य से बेहतर होती हैं, और ये बच्चे ही सीधे स्वतंत्रता की ओर बढ़ते हैं जो सामान्य विकास का आधार है। शब्दों के विस्फोट होने के पहले, बच्चे की अवस्था में भी यही सब तत्व होते हैं। बच्चे में भाषा के विकास का मार्ग दुर्गम है। इस मार्ग द्वारा वह स्वतंत्रता प्राप्त करता है जिसे वाणी ने संभव बनाया है। इस मार्ग में भी प्रतिगमन का खतरा बना रहता है।

इस रचनात्मक काल की एक और विशेषता है जो पाठकों को याद होगी। बच्चा वातावरण से जो चित्र प्राप्त करता है और उनसे जो भावनाएं उत्प्रेरित होती हैं, वे दोनों उसके मस्तिष्क में स्थायी रूप से अंकित हो जाती हैं। यह कुछ चीजों के लिए तो बहुत उपयोगी है जैसे उच्चारण और व्याकरण, परंतु बच्चे इस अवस्था में जो भी सीखते हैं, वह जीवन भर नहीं भुला पाते। अतः वे रुकावटों के बुरे प्रभावों को भी नहीं भुला पाते। रचनात्मक काल की प्रत्येक अवस्था का यह द्विपक्षीय रूप है। कोई संघर्ष, कोई भय, किसी प्रकार की असफलता, इन सबका बहुत बुरा परिणाम होता है। जैसे प्रगति के सकारात्मक प्रभाव अंकित हो जाते हैं, वैसे ही रुकावटों के नकारात्मक प्रभाव भी अंकित हो जाते हैं। फोटो उतारते समय यदि प्लेट में प्रकाश का कोई हल्का सा रिसाव हो जाता है तो वह उसकी हर प्रतिलिपि में दिखाई देता है। अतः इस काल में चरित्र का विकास तो होता ही है, जो सामान्यतः होना चाहिए, परंतु कुछ विकृतियां भी उत्पन्न हो सकती हैं, जो आगे जाकर काफी बढ़ जाती हैं।

निर्माण के इस काल में चलना और बोलना, दोनों ही क्षमताएं स्थापित होती हैं। यह

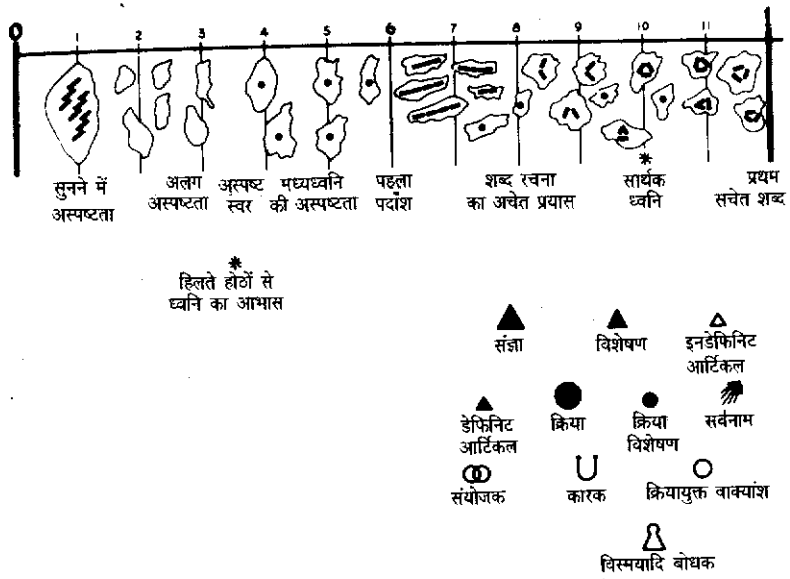

व्याकरण के चिह्न

चित्र 8. भाषा के विकास की अवस्थाएं (अस्पष्ट ध्वनि समूहों से व्याकरणिक स्पष्ट अभिव्यक्ति तक)

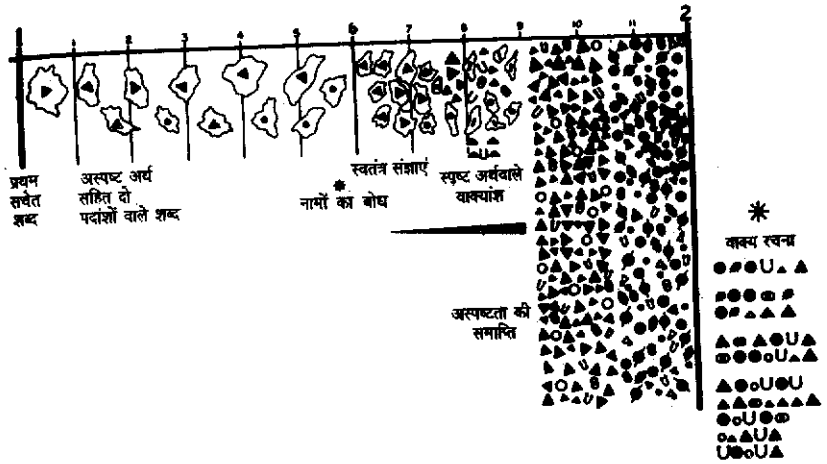

काल ढाई वर्ष की अवस्था के बाद भी चलता रहता है, पर उसकी तीव्रता कम हो जाती है। जिस तरह ये क्षमताएं विकसित होती हैं, उसी तरह इस काल में उत्पन्न दोष और कठिनाइयां भी विकसित होती हैं। मनोविश्लेषकों के अनुसार, वास्तव में वयस्क जीवन के अधिकांश दोषों का आरंभ इसी काल में होता है।

सामान्य विकास में जो कठिनाइयां आती हैं, उन्हें "दमन" कहा जाता है। यह शब्द सामान्य मनोविज्ञान में प्रयुक्त होता है परंतु विशेष रूप से मनोविश्लेषण से संबंधित है। सभी ने "दमन" के बारे में सुना है। इसकी जड़ें बचपन तक जाती हैं। यद्यपि इसके उदाहरण मानव क्रियाकलाप के हर क्षेत्र में मिलते हैं, पर भाषा के क्षेत्र में इसके अनेक उदाहरण हैं। जब शब्दों का विस्फोट होता है, तो इस शब्द समूह की अभिव्यक्ति के लिए मार्ग चाहिए। इसी तरह इसके बाद की अवस्था में वाक्यों का विस्फोट होता है, जब बच्चा अपने विचारों को सही वाक्यों में संगठित करता है। आजकल शिक्षाशास्त्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बहुत महत्व देता है। इसका संबंध वाणी तंत्र की तत्काल जरूरतों से ही नहीं है, वरन व्यक्ति के भावी जीवन से भी है। कई बार ऐसा होता है कि सही आयु में, सामान्य विस्फोट नहीं होता है। जैसे तीन या साढ़े तीन साल का बच्चा, अपनी आयु के उपयुक्त बहुत कम शब्दों का प्रयोग करता हो, या वह बिलकुल ही मूक हो, यद्यपि उसकी वाणी के सब अवयव सही हों। इसे, "मानसिक गूंगापन" कहते हैं, क्योंकि इसके कारण पूर्णतया मानसिक हैं। यह मनोरोगात्मक स्थिति है।

मनोविश्लेषण (जो आधुनिक चिकित्सा की एक शाखा है) ने जिन अन्य प्रकार के मानसिक रोगों का अध्ययन किया है, वे इसी समय आरंभ होते हैं। यह गूंगापन अचानक ही समाप्त हो सकता है मानो कोई चमत्कार हो गया हो। अकस्मात ही बच्चा अच्छी तरह और धैर्य के साथ बोलना आरंभ कर देता है। उसका व्याकरण भी ठीक होता है। स्पष्ट है कि उसके अंदर ही अंदर सब तैयारी हो गई थी पर किसी रुकावट के कारण वह अभिव्यक्त नहीं हो सकी।

हमारे स्कूल में तीन और चार वर्ष के कुछ बच्चे ऐसे हैं जिन्हें किसी ने बोलते हुए नहीं सुना। वे तुतला कर भी कभी नहीं बोलते, जैसे दो वर्ष का बच्चा बोलता है। परंतु स्कूल में उन्हें जो आजादी मिली, और वातावरण से उन्हें जो प्रेरणा मिली तो उन्होंने अचानक ही ऐसे बोलना शुरू कर दिया मानो सदा से बोलते आ रहे हों। यह कैसे हुआ ? उन्हें कभी कोई गंभीर चोट पहुंची होगी, या किसी प्रकार की लगातार रुकावट उनको भाषा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से रोक रही होगी।

बहुत से बड़ी आयु के लोग भी ऐसे हैं जिन्हें बोलने में कठिनाई होती है। उन्हें बोलने के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ता है, मानो वे सोच रहे हों कि क्या कहें। इस पसोपेश के कई रूप हो सकते हैं।

(अ) बोलने की हिम्मत ही न हो।
(ब) शब्दों के निर्माण में परेशानी हो।

(स) वाक्यों के प्रयोग में कठिनाई हो।
(द) उनके बोलने की गति धीमी हो, और वे अटक-अटक कर बोलते हों तथा बीच में आ...अम...आदि करते हों।

ये सब कठिनाइयां आंतरिक दोष हैं जो ठीक नहीं हो सकतीं। ये स्थायी हीन भावना के रूप हैं और इन्हें आजन्म भुगतना होगा।

मानसिक कारणों से कुछ और तरह की रुकावटें भी होती हैं जिनसे स्पष्ट उच्चारण में बाधा पड़ती है—व्यक्ति हकलाता है या उसके उच्चारण में दोष होता है। ये सब कमजोरियां उस काल में प्रारंभ होती है, जब भाषा की रचना होती है। अतः यह स्पष्ट है, कि यद्यपि हर अवस्था में कुछ ग्रहण किया जाता है, पर उसके साथ ही किसी प्रकार का प्रतिगमन भी हो सकता है।

पहली अवस्था : शब्दों की रचना के लिए तंत्र स्थापित होते हैं।

इससे संबद्ध प्रतिगमन—खराब उच्चारण और हकलाना।

दूसरी अवस्था : वाक्य रचना का तंत्र स्थापित होता है (विचार अभिव्यक्त होते हैं)।

इससे संबद्ध प्रतिगमन—वाक्य रचना में हिचकिचाहट।

प्रतिगमन के इन स्वरूपों का संबंध बच्चे की संवेदनशीलता से है। जैसे वह रचना करने के लिए तथा अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न करता है, उसी तरह वह विरोध के प्रति भी संवेदनशील होता है। उसकी रचनात्मक क्षमता की विफलता के कारण उसमें दोष स्थापित हो जाते हैं जो शेष जीवन भर बने रहते हैं। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि बच्चे की संवेदनशीलता इतनी अधिक होती है कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

अक्सर हम ही बच्चे के विकास में रुकावटें डालते हैं और इनसे उत्पन्न दोषों के लिए, जो सारे जीवन बने रहते हैं, हम जिम्मेदार हैं। हमें अपना व्यवहार सदा यथासंभव कोमल रखना चाहिए, उग्र नहीं। हमें शायद इसका आभास न हो कि हम कितने कठोर और उग्र हो जाते हैं। हमें अपने ऊपर निगरानी रखनी चाहिए। शिक्षा की सच्ची तैयारी तो यही है कि हम स्वयं अपने को ध्यान से देखें। जो शिक्षक बच्चों के जीवन में सहायक की भूमिका निभाएगा, उसका प्रशिक्षण केवल कुछ विचारों को जान लेना मात्र नहीं है। उसके तो चरित्र का प्रशिक्षण होना चाहिए; उसमें उपयुक्त आध्यात्मिकता का निर्माण होना चाहिए।

बच्चों की संवेदनशीलता कई प्रकार की होती हैं, पर मानसिक आघात के प्रति सब बच्चे समान रूप से संवेदनशील होते हैं। उनको चोट पहुंचाना कितना सरल होता है। उन्हें बड़ों का निष्ठुर और रूखा व्यवहार भी फौरन समझ में आ जाता है। "बेटे, तुम्हारी मां ने क्या कहा था ?" वे आपके कहने के ढंग से इसका निहित तात्पर्य समझ जाएंगे। जो मां-बाप अपने बच्चे को आया के पास छोड़ते हैं, उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना

चाहिए कि आया कितनी रूखी और रोबीली आवाज में बच्चे से बोलती है। इसी कारण उच्च वर्ग के लोगों में मानसिक बीमारियां होती हैं। यद्यपि उनमें शारीरिक साहस बहुत होता है, पर वे बोलने में शरमाते हैं, और रुक-रुक कर या हकला कर बातें करते हैं।

बच्चे के प्रति मुझसे भी अक्सर कठोरता का व्यवहार हो जाता है। इसका एक उदाहरण मैंने अपनी दूसरी पुस्तक* में दिया है। एक बच्चे ने अपने जूते पलंग के ऊपर रख दिए जिस पर एक सुंदर रेशमी पलंगपोश बिछा था। मैंने जरा झटके से उस जूते को वहां से हटाया और पलंगपोश को अपने हाथ से झाड़ा, जिससे बच्चे को यह पता चले कि जूते वहां नहीं रखने चाहिए। उसके बाद दो-तीन महीने तक, जब कभी भी वह बच्चा कोई जूते देखता था, तो उन्हें उठा कर कहीं और रख देता था और फिर कोई चादर या गद्दी ढूंढता था जिससे वह इसे झाड़े। उस बच्चे को सिखाने के मेरे उतावलेपन का परिणाम यह नहीं हुआ कि बच्चे में विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई। उसने यह नहीं कहा, "ऐसा व्यवहार मत करो। मैं अपने जूते जहां मेरी मरजी होगी, वहीं रखूंगा।" परंतु मेरे गलत तरीके के प्रयोग से उसके व्यवहार में दोष उत्पन्न हो गया। बहुधा ऐसा होता है कि बच्चे में तीव्र प्रतिक्रिया नहीं होती। ऐसी प्रतिक्रिया हो तो वह बेहतर होगा क्योंकि गुस्सा होने पर बच्चा अपनी रक्षा करना सीखता है और उसका विकास सामान्य हो जाता है। परंतु यदि प्रतिक्रिया के रूप में उसका व्यवहार दूषित हो जाता है, तो उसका प्रभाव सारे जीवन पर पड़ता है। बड़े लोग इस बात को नहीं समझते और जब तक बच्चा गुस्सा न हो, वे सोचते हैं कि चिंता की कोई बात नहीं है।

बड़ों में एक और प्रकार का मानसिक रोग होता है—अकारण भय और मांसपेशियों में खिंचाव। इनका कारण भी बचपन में ढूंढा जा सकता है, जब इन्हें किसी उग्रता के कारण मानसिक चोट पहुंची हो। कुछ के अनुसार, इनका कारण बचपन में जानवरों के साथ कोई बुरा अनुभव हो सकता है जैसे बिल्ली या मुर्गी के बच्चे के साथ। कुछ अन्य, इसे बच्चे के कमरे में बंद होने के डर से जोड़ते हैं। कितना ही समझाने और तर्क करने से भी यह डर दूर नहीं होता। ऐसे डरों को चिकित्सा शास्त्र में फोबिया कहते हैं। इस प्रकार के कुछ डर आम तौर पर पाए जाते हैं, जैसे बंद कमरे का डर या बंद जगह का डर। इसे 'क्लास्ट्रो फोबिया' कहते हैं।

इसके कई उदाहरण डाक्टरों के अनुभवों से मिल सकते हैं। मैंने इनका उल्लेख इसीलिए किया है जिससे हमें इस बात का पता चले कि इस आयु में बच्चे की मानसिकता कैसी होती है। मैं इस बात पर जोर देना चाहती हूं कि बच्चे के प्रति हमारे व्यवहार के परिणाम तत्काल ही नहीं, उनके वयस्क होने पर भी बने रहेंगे।

बच्चे का मानस समझने के लिए यह जरूरी है कि हम अवलोकन और खोज का रास्ता अपनाएं। हमें कुछ-कुछ वही करना होगा जो मनोविश्लेषक वयस्क के अचेतन मस्तिष्क में पहुंच कर करते हैं। यह कोई सरल काम नहीं है। बच्चों की भाषा के बारे में हमारा ज्ञान

---

* *द सीक्रेट ऑफ चाइल्डहूड*

पर्याप्त नहीं है। बच्चा अपने शब्दों के जो अर्थ लगा रहा है, वह शायद हम नहीं समझ पाएं। कभी-कभी हमें बच्चे के पूरे जीवन के बारे में जानने की जरूरत होती है, कम से कम उसके तत्काल पूर्व जीवन को तो अवश्य ही जानना चाहिए। तभी हम उसकी कठिनाइयों को हल कर सकेंगे। कितनी बार हमारी इच्छा होती है कि काश कोई हमारे लिए उनकी भाषा की व्याख्या करे।

मैंने स्वयं इस क्षेत्र में काफी काम किया है और कोशिश की है कि मैं बच्चों की भाषा की व्याख्या कर सकूं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि बच्चों को यह बात समझ में आ जाती है कि मैं उनकी भाषा को समझने में उनकी सहायता कर सकती हूं, और वे स्वयं मेरे पास मुझे ढूंढते हुए आ जाते हैं।

जो बच्चों को केवल पुचकारते और लाड़ दिखाते हैं, उनके प्रति बच्चों के प्रेम में इतना उत्साह नहीं होता। बच्चे को उसी व्यक्ति से आशा रहती है जो उसकी भाषा समझ सके। वही उनके दरवाजे संसार के लिए खोलता है। अपने सहायक से बच्चा जितना अंतरंग हो जाता है, उतना लाड़ दिखाने वाले से नहीं होता। सांत्वना देने की अपेक्षा सहायता करना अधिक लाभदायक है।

मैं जिस घर में रहती थी, वहां मेरी आदत बहुत सवेरे उठने की थी। एक दिन उतने सवेरे एक छोटा बच्चा, जो शायद डेढ़ साल से कम का होगा, मेरे कमरे में आया। मैंने सोचा कि वह शायद भूखा होगा और इससे पूछा कि वह कुछ खाना चाहता है ? उसने उत्तर दिया, "कीड़े"। मैंने आश्चर्य से कहा "कीड़े ? कीड़े ?" जब उसने देखा कि मेरी समझ में उसकी बात नहीं आ रही है, तो मेरी सहायता के लिए उसने एक शब्द और जोड़ा "अंडा"। मैंने अपने मन में सोचा कि यह इतने सवेरे कुछ पीना चाहता है क्या ? यह आखिर कहना क्या चाह रहा है ? उसने फिर कहा, "नीना, अंडे, कीड़े" अब मुझे पूरी बात समझ में आ गई। यहां मैं इस बात को फिर से दोहराऊंगी कि बच्चे के पूरे जीवन के बारे में जानना कितना जरूरी है। एक दिन पहले, उसकी बहन नीना कागज पर अंडे की शकल बना कर उसमें रंग भर रही थी। इस बच्चे की इच्छा थी कि वह भी रंग भरे, पर नीना ने उसे गुस्से में आकर भगा दिया। उसने नीना का विरोध नहीं किया, और बड़े धैर्य और लगन के साथ मौके का इंतजार करता रहा। मैंने उसे क्रेयान का रंग दे दिया और उसका चेहरा खुशी से दमक उठा। उससे अंडे के आकार की रेखा नहीं खींची गई, तो मैंने उसके लिए अंडे का चित्र बना दिया। फिर उसने अपनी टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों से उसमें रंग भरना शुरू कर दिया। उसकी बहन सीधी रेखाओं में रंग भरती थी, और इसने कीड़े की तरह लहरदार रेखाओं में रंग भरा। इस बच्चे ने इंतजार किया कि जब सब सो जाएं और उसकी भाषा को समझने वाला व्यक्ति जागता रहे, तब वह पूरा आश्वस्त होकर उसके पास जाए, क्योंकि वह उसकी सहायता अवश्य करेगी।

इस काल में, बच्चों के व्यवहार में क्रोध और उग्रता नहीं, वरन धैर्य होता है। वे उचित समय के लिए इंतजार करते हैं। जब बच्चा अपने को व्यक्त नहीं कर पाता और उसकी

इच्छा में आंतरिक बाधाएं पड़ती हैं, तब वह अपना क्रोध और अपनी प्रचंडता दिखलाता है। उपरोक्त उदाहरण यह भी दिखलाता है कि ये छोटे बच्चे बड़े बच्चों की तरह व्यवहार करने की कोशिश करते हैं। यदि तीन वर्ष का बच्चा कोई कार्य करता है तो डेढ़ वर्ष का बच्चा भी उसे करना चाहता है। उसे कठिनाई हो सकती है पर वह कोशिश अवश्य करता है।

हमारे यहां एक तीन वर्ष की लड़की नाचना सीख रही थी। एक छोटा लड़का उसकी नकल करना चाहता था। शिक्षिका तो पहले ही तीन वर्ष की लड़की को नाच सिखाने से मना कर रही थी। उसका कहना था कि इतनी छोटी लड़की, इतना कठिन बैले नृत्य कैसे सीख सकती है। पर हमने उससे प्रार्थना की कि वह इसकी चिंता न करे कि बच्ची कितना सीख पाती है। वह तो बस कोशिश करती रहे ! वह भी शायद यह समझ गई थी कि हमारा उद्देश्य बच्चे के विकास में सहायता करना है, अतः वह सिखाने को तैयार हो गई। जैसे ही उसने सिखाना शुरू किया, यह डेढ़ साल का बच्चा दौड़ता हुआ आया और बोला "मुझे भी।"

इस पर शिक्षिका ने निश्चयपूर्वक कहा कि इतने छोटे बच्चे को सिखाना असंभव है और उसकी गरिमा के विरुद्ध है कि वह बैले जैसा उत्कृष्ट नृत्य इतने छोटे-से बच्चे को सिखाए। पर हमने किसी तरह उसे तैयार कर लिया कि वह अपना अहं भूल कर हमारी इस "सनक" को मान जाए। अतः उसने संगीत प्रारंभ किया। पर बच्चा तत्काल गुस्से से भर गया और अपनी जगह से हिलने को तैयार ही नहीं हुआ। शिक्षिका ने कहा कि वह तो पहले ही कह रही थी कि यह बच्चा नृत्य सीखने योग्य नहीं है। परंतु बच्चे का ध्यान नाच पर नहीं था। उसके गुस्से का कारण शिक्षिका का "हैट" था जो सोफे पर पड़ा था। वह "टीचर" या "हैट" तो नहीं बोल रहा था, पर गुस्से में चिल्ला-चिल्ला कर बस दो शब्द लगातार दोहरा रहा था, वे थे "हाल" और "खूंटी"। वह यह कहना चाहता था कि यहां पर "हैट" नहीं रखना चाहिए। इसे हॉल में खूंटी पर टांगना चाहिए। नाच में उसकी सारी रुचि खत्म हो गई। अभी तो उसे यही लग रहा था कि वह इस व्यवस्था को ठीक करे। जैसे ही हैट को खूंटी पर टांग दिया गया, उसका गुस्सा शांत हो गया और वह नाचने को तैयार हो गया। यह स्पष्ट है कि बच्चे के लिए व्यवस्था की आवश्यकता आधारभूत है और संसार की सभी सामाजिक मांगों से अधिक महत्वपूर्ण है।

बच्चों के शब्द और उनकी संवेदनशीलता के अध्ययन से हम उनकी मानसिकता को इतनी गहराई से समझ सकते हैं जितना शायद मनोवैज्ञानिक भी नहीं समझ पाते होंगे।

पहले उदाहरण से एक बात तो हमें यह पता चली कि बच्चे में धैर्य होता है और दूसरे उदाहरण से दूसरी बात यह कि व्यवस्था के लिए उसके मन में बहुत तीव्र भावना होती है। हम देखते हैं कि चित्र 7 में जो तथ्य दिए हुए हैं, उनके अतिरिक्त भी बच्चे के मस्तिष्क में बहुत कुछ होता है, जिनका हमें ज्ञान नहीं है।

इस आयु के बच्चे की मानसिकता के बारे में जो भी नई बात हमें पता चले, उसे

अवश्य प्रकाशित करवाना चाहिए क्योंकि उससे बच्चों को उनकी परिस्थिति के अनुकूल बनने में हम सहायता दे सकेंगे। चाहे उसके लिए कितनी ही परेशानी उठानी पड़े, पर यदि कोई चीज मानव जीवन की सहायता करती है, तो उसका बहुत महत्व है। शैशव काल में बच्चे की सहायता करने का कार्य बहुत महान कार्य है। यह कार्य एक ऐसे भावी विज्ञान का प्रारंभ और विकास करेगा, जिस पर एक दिन बच्चों का मानसिक विकास और चरित्र निर्माण आधारित होगा। तब तक के लिए यह हमारा उत्तरदायित्व है कि हम बच्चे के व्यक्तित्व को विकृत होने से रोकें जिससे निम्न कोटि के वयस्कों का निर्माण न हो। इस उद्देश्य के लिए हमें इन बातों को याद रखना चाहिए :

1. जीवन के प्रथम दो वर्षों का प्रभाव, समस्त जीवन पर पड़ता है।
2. बच्चे की अनेक मानसिक क्षमताएं होती हैं, जिन पर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है।
3. वह बहुत संवेदनशील होता है और इसलिए बचपन में उसके साथ किसी भी प्रकार की उग्रता से उसकी तत्काल प्रतिक्रिया होती है और इसके फलस्वरूप जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं, वे स्थायी रहते हैं।

अध्याय तेरह

सामान्य विकास में क्रिया का महत्व

अब समय आ गया है कि शिक्षा सिद्धांत में हम क्रिया को एक नए दृष्टिकोण से देखें। हम विशेषकर बचपन में इसके स्वरूप को ठीक से नहीं समझते हैं, और इससे संबंधित कई भ्रांतियों के कारण हम इसे उतना महत्व नहीं देते जितना इसे मिलना चाहिए। स्कूली जीवन में बुद्धि को प्राथमिकता दी जाती है और इसीलिए क्रिया की सदा अवहेलना की गई है। यदि स्कूलों में इसे कुछ मात्रा में स्वीकार किया भी गया है तो वह कसरत, शारीरिक शिक्षा, या खेलकूद के रूप में किया गया है। परंतु विकासशील मस्तिष्क से इसके निकट संबंध को हम पूरा महत्व नहीं देते।

हम स्नायु-तंत्र (नर्वस सिस्टम) पर कुछ विचार करेंगे जो कि अत्यंत जटिल है। इसमें सबसे मुख्य अवयव मस्तिष्क (या केंद्र) है। फिर विविध इंद्रियां हैं, जो चारों ओर की जानकारी मस्तिष्क में भेजती हैं। तीसरी मांसपेशियां हैं। और फिर स्नायु हैं, जो टेलीफोन के तारों की तरह मस्तिष्क से मांसपेशियों तक ऊर्जा का संचार करते हैं। यही ऊर्जा मांसपेशियों के कार्यों का नियंत्रण करती है। अतः इस संगठन के तीन मुख्य अंग हैं—मस्तिष्क, इंद्रियां और मांसपेशियां। इन सभी नाज़ुक तंत्रों के एक साथ कार्य करने से क्रिया संपन्न होती है। वास्तव में क्रिया द्वारा ही व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त करता है। बड़े से बड़ा दार्शनिक अपनी वाणी या लेखों के द्वारा अपने विचारों का संचार करता है और इसके लिए उसकी मांसपेशियों को क्रिया करनी पड़ती हैं। उसके विचारों का क्या मूल्य होगा यदि उनकी अभिव्यक्ति न हो और अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब वह अपनी मांसपेशियों का उपयोग करे।

यदि हम जानवरों का अवलोकन करें, तो पहली बात हमें यही दिखाई देती है कि वे क्रियाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त करते हैं। अतः यह तर्कसंगत है कि मनुष्य भी इस पक्ष की अवहेलना न करे।

शरीर वैज्ञानिक (फिज़ियोलॉजिस्ट) के अनुसार मांसपेशियां, केंद्रीय स्नायु-तंत्र का एक भाग हैं और यह तंत्र एक पूर्ण इकाई की तरह कार्य करता है, जिसके द्वारा आदमी अपने वातावरण से संबंध स्थापित करता है। वास्तव में मस्तिष्क, इंद्रियां और मांसपेशियां, सब मिलाकर एक ऐसा उपकरण बनाते हैं जिसे बहुधा "संबंध स्थापित करने की प्रणाली" कहते हैं—अर्थात उसके कारण मानव का संसार से संबंध स्थापित होता है, जिसमें जड़ और चेतन सभी आ जाते हैं। इसकी सहायता के बिना, आदमी का अपने वातावरण से, या अन्य मानवों

से कोई संपर्क संभव नहीं है।

इसकी तुलना में, मनुष्य के शरीर की अन्य सब व्यवस्थाएं स्वार्थी कही जा सकती हैं, क्योंकि वे केवल मनुष्य की सेवा करती हैं। वे उसे जीवित रखती हैं। उन्हें निष्क्रिय जीवन के तंत्र भी कहा जा सकता है। इन तंत्रों की सहायता से मनुष्य केवल जीवित रहता हैं और बढ़ता है, परंतु स्नायु-तंत्र के कारण वह संसार के संपर्क में आता है।

निष्क्रिय-तंत्र के कारण मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है परंतु स्नायु-तंत्र का काम दूसरा है। इसी के द्वारा हमें बाह्य अनुभव और विचार प्राप्त होते हैं। यह हमारी समस्त प्रेरणा का स्रोत है। अतः इसे अन्य तंत्रों के स्तर पर नहीं रखा जा सकता। यदि हम अपना उद्देश्य केवल अपनी उन्नति करना समझें, केवल अपना आध्यात्मिक विकास करना समझें, तो यह हमारा अहंकार होगा। यह एक बहुत बड़ी भूल होगी, शायद आदमी की सबसे बड़ी भूल। जानवरों के आचरण का उद्देश्य भी केवल उनके शरीर और उनकी क्रियाओं को सुंदर बनाना नहीं है वरन इससे बहुत अधिक है। इसी तरह आदमी का जीवन भी उद्देश्यपूर्ण है। केवल यह पर्याप्त नहीं है कि हम आध्यात्मिक श्रेष्ठता और आंतरिक सौंदर्य के लिए प्रयत्न करें। यह स्वाभाविक है कि आदमी शारीरिक और मानसिक श्रेष्ठता के लिए सतत प्रयास करे और उसे यह प्रयास सदा करना भी चाहिए। परंतु यदि उसकी इच्छा इतने ही पर समाप्त हो जाती है तो उसका जीवन निरर्थक और बेकार है। उसने अपने मस्तिष्क और मांसपेशियों का क्या उपयोग किया ? संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसकी विश्व विधान में कोई भूमिका न हो। यदि हमारे पास आध्यात्मिक संपत्ति है, सौंदर्य बोध है, और सद्विवेक है, तो ये सब प्रतिभाएं हमें अपने उपयोग के लिए नहीं मिली हैं, वरन इनका उपयोग सबके हित के लिए होना चाहिए जिससे वे विश्व विधान में अपनी आध्यात्मिक भूमिका निभा सकें।

आध्यात्मिक क्षमताएं एक प्रकार की संपत्ति हैं। यह आवश्यक है कि उनका संचरण होता रहे जिससे सब उनका लाभ उठा सकें। उनकी अभिव्यक्ति, उनका उपयोग, आवश्यक है जिससे मानव संबंधों का चक्र पूरा हो सके। यदि आध्यात्मिकता को हम केवल अपने लिए प्राप्त करना चाहते हैं, तो चाहे हम उसे कितना ही प्राप्त कर लें, उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि हमारा उद्देश्य केवल यही है अर्थात स्वयं अपने ही लिए आध्यात्मिकता प्राप्त करना; तो हम बड़ी मात्रा में जीवन और उसके प्रयोजन की अवहेलना करते हैं। यदि हम पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और यह सोचते हैं कि "इस जन्म में अच्छे कार्य करने से मुझे अगले जन्म में लाभ होगा", तो मेरे विचार से यह भी स्वार्थ ही है। इसमें हम आध्यात्मिकता को निष्क्रियता के निम्नतर स्तर पर ले आते हैं। यदि हम सदा अपने ही बारे में सोचें, यहां तक कि पारलौकिक जीवन में भी अपने ही बारे में सोचें तो हम सदा सर्वदा स्वार्थी बने रहेंगे। हमारा दृष्टिकोण केवल दैनिक जीवन में नहीं वरन शिक्षा में भी, भिन्न होना चाहिए। प्रकृति ने हमें अनेक क्षमताएं प्रदान की हैं। हमें चाहिए कि इन्हें विकसित करें; केवल विकसित ही नहीं, इनको प्रयोग भी करना चाहिए।

एक उदाहरण से शायद आपको यह स्पष्ट हो जाएगा। हम जानते हैं कि अच्छे स्वास्थ्य

के लिए दिल, फेफड़े और उदर, सबको मिल कर कार्य करना चाहिए। यही नियम स्नायु तंत्र के लिए क्यों न लागू हो ? यदि हमारे पास मस्तिष्क, इंद्रियां और मांसपेशियां हैं, तो उन्हें सहयोग से कार्य करना चाहिए। तंत्र को अपने सब अवयवों पर समान नियंत्रण रखना चाहिए, किसी भी अंग की अवहेलना नहीं हो। मान लीजिए कि हम अपने मस्तिष्क की शक्ति में वृद्धि करना चाहते हैं, परंतु इसमें सफलता पाने के लिए तंत्र के दूसरे भागों को भी सम्मिलित करना होगा। किसी कार्यकलाप में पूर्णता प्राप्त करने के लिए, अंतिम अवस्था में क्रिया की आवश्यकता होगी, तभी चक्र पूरा होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उच्चतर आध्यात्मिकता को क्रिया द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। क्रिया को इसी दृष्टि से जांचना, समझना होगा। यह स्नायु-तंत्र के कुल क्रियाकलाप का एक अंश है और इसकी अवहेलना नहीं हो सकती। स्नायु-तंत्र (संबंध का तंत्र) एक इकाई है, यद्यपि इसके तीन भाग हैं। चूंकि यह एक इकाई है अतः यह पूर्णता तभी प्राप्त कर सकती है जब यह एक इकाई के रूप में ही कार्य करे।

आज हमारी सबसे बड़ी गलती यही है कि हम क्रिया को एक अलग अस्तित्व देते हैं और उसे उच्चतर गतिविधियों से पृथक मानते हैं। हम सोचते हैं कि मांसपेशियों का उपयोग स्वास्थ्य के लिए ही होता है। हम अपने को चुस्त रखने के लिए कसरत करते हैं जिससे हमारी श्वसन क्रिया, हमारी पाचन क्रिया और हमारी निद्रा बेहतर हो। यही गलती स्कूल भी दोहराते हैं। शरीर शास्त्र (फिजियोलॉजी) के लिए यह ऐसा ही है मानो कोई राजकुमार किसी गड़ेरिया का सेवक बना दिया जाए। राजकुमार अर्थात मांसपेशियां, एक निष्क्रिय जीवन के लिए कार्य कर रही हैं।

ऐसी गलती से अवश्य ही हानि होगी। विचारों की दुनिया और क्रिया की दुनिया के बीच में दरार आ जाती है। चूंकि बच्चे का शरीर भी होता है और मस्तिष्क भी, अतः हम सोचते हैं कि उसके पाठ्यक्रम में खेलकूद भी होने चाहिए, जिससे उसे प्रकृति से जो भी उपलब्धियां प्राप्त हैं, उनकी अवहेलना न हो। परंतु सदा शरीर और मस्तिष्क पर अलग-अलग विचार करने से हम उनकी एकता को खंडित कर देते हैं। इससे क्रिया विचारों के साथ नहीं जुड़ पाती। परंतु क्रिया का वास्तविक उद्देश्य केवल भूख बढ़ाना या फेफड़ों को मजबूत करना नहीं है। उसका उद्देश्य जीवन के लक्ष्य को पूरा करना है—अर्थात प्रकृति में विश्वव्यापी और आध्यात्मिक व्यवस्था बनाए रखना है।

मनुष्य की क्रियाओं को उचित स्थान मिले, इसके लिए यह जरूरी है कि उनका केंद्र से, अर्थात मस्तिष्क से, समन्वय हो। विचार और क्रिया एक ही घटना के दो पहलू हैं और क्रिया के द्वारा ही उच्चतर जीवन अपने को अभिव्यक्त करता है। यदि ऐसा नहीं है, तो इसके अर्थ हैं कि मानव शरीर केवल मांसपेशियों का संकलन है जिसका कोई मस्तिष्क नहीं है। ऐसे में, निष्क्रिय अंगों में विकास हो सकता है, परंतु मस्तिष्क और मांसपेशियों में संचार नहीं हो पाता। निर्णय लेने की शक्ति को, मांसपेशियों पर वह नियंत्रण प्राप्त नहीं होता, मात्र जिसके द्वारा ही वह अपने को अभिव्यक्त करती है। इससे स्वतंत्रता भी प्राप्त नहीं होती,

और प्रकृति ने जो विवेकपूर्ण व्यवस्था की है, वह भी टूट जाती है।

जब मानसिक विकास की चर्चा होती है, तो कुछ लोग पूछते हैं, "इसमें क्रिया की बात कहां से आ गई ? हम तो मस्तिष्क की बात कर रहे हैं।" हम जब भी किसी बौद्धिक क्रियाकलाप की कल्पना करते हैं तो हमारे सामने ऐसे व्यक्तियों का चित्र आता है जो बिना हिले-डुले स्थिर बैठे हों। लेकिन यह बहुत जरूरी है कि मानसिक विकास का संबंध क्रिया से हो और वह क्रिया पर निर्भर करे। शैक्षिक सिद्धांत और व्यवहार को इसकी जानकारी अवश्य होनी चाहिए।

अभी तक सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने क्रिया तथा मांसपेशी तंत्र को सांस लेने के, या परिसंचरण के, या शारीरिक शक्ति के निर्माण के सहायक के रूप में देखा है। परंतु हमारी नई अवधारणा के अनुसार क्रिया का स्वयं मानसिक विकास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, बशर्ते कि जो क्रिया हो रही है, *उसका संबंध उस समय की मानसिक गतिविधि से हो।* इससे मानसिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की उन्नति होती है जिसके बिना अधिकतम विकास और अधिकतम स्वास्थ्य (मानसिक) संभव नहीं है।

इसके अनेक प्रमाण प्रकृति में मिलते हैं, और यदि हम बच्चों के विकास का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो वहां निस्संदेह यही बात है। बच्चे को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके मस्तिष्क का विकास उसकी क्रियाओं द्वारा होता है। उदाहरणतः वाणी के विकास में, जैसे-जैसे उसकी समझने की क्षमता बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसकी मांसपेशियों का, जो शब्दों और आवाजों का निर्माण करती हैं, उपयोग भी अधिक होता है। समस्त संसार में बच्चों का अवलोकन करने से इस बात की पुष्टि होती है कि बच्चा अपनी क्रियाओं के उपयोग से ही अपनी समझ में विस्तार करता है। क्रिया से मस्तिष्क का विकास होता है और इस विकास की अभिव्यक्ति और अधिक क्रियाकलाप से होती है। हम एक चक्र की बात कर रहे हैं, क्योंकि मस्तिष्क और क्रिया, एक ही तत्व के दो अंग हैं। इंद्रियां भी इसमें भाग लेती हैं और जिस बच्चे को अपनी इंद्रियों के उपयोग का कम अवसर मिलता है, उसका मानसिक विकास भी कम होता है।

जिन मांसपेशियों का संचालन मस्तिष्क करता है उन्हें स्वैच्छिक मांसपेशियां कहते हैं, अर्थात वे इच्छा-शक्ति के अधीन हैं, और इच्छा-शक्ति मस्तिष्क की उच्चतम अभिव्यक्तियों में से एक है। यदि स्वैच्छिक मांसपेशियों का संचालन इच्छा-शक्ति के द्वारा होता है; तो उन्हें भी मस्तिष्क का ही एक अवयव मानना चाहिए।

मांसपेशियां शरीर का मांस होती हैं, और अधिकांश शरीर उन्हीं से बनता है। हड्डियों का ढांचा तो केवल उन्हें थामे रहता है। इस कारण, उसे भी उसी तंत्र का भाग समझा जाए। आदमी और जानवर का जो बाह्य रूप हम देखते हैं, वह इन्हीं हड्डियों और मांसपेशियों से बना है। स्वैच्छिक मांसपेशियों से जो आकार बनते हैं, वह हमें आंख से स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनकी संख्या का आकलन कठिन है, और उनमें भिन्नता भी बहुत है। कुछ बहुत विशाल हैं, कुछ नाजुक हैं, कुछ बहुत छोटी और कुछ लंबी धारियों की तरह हैं। सबका

कार्य भिन्न है। यदि एक मांसपेशी एक दिशा में खींचती है तो अवश्य ही एक दूसरी मांसपेशी दूसरी दिशा में खींचती है। दोनों विरोधी मांसपेशियों का बल जितना सशक्त और सुस्पष्ट होता है, क्रिया उतनी ही कुशल होती है। यदि हम एक नई क्रिया को बार-बार दोहराएं जिससे वह दक्षता प्राप्त कर लें, तो इस कसरत का उद्देश्य, दो विरोधी मांसपेशियों में आश्चर्यजनक संतुलन स्थापित करना होगा। इसके परिणामस्वरूप विरोधी बलों में संतुलन होगा।

हमें इन विरोधी बलों के अस्तित्व का एहसास नहीं होता। परंतु उन्हीं के कारण हमारी स्वैच्छिक क्रियाओं पर नियंत्रण रहता है। जानवरों में यह आंतरिक संतुलन उन्हें प्रकृति से प्राप्त होता है। शेर की छलांग और गिलहरी की उछलकूद, इन्हीं विरोधी बलों के उत्तम संतुलन से संभव होती है। ये हमें घड़ी जैसे एक जटिल यंत्र की याद दिलाते हैं, जिसमें उसके चक्र विरोधी दिशा में इतनी दक्षता और सूक्ष्मता से घूमते हैं कि बिलकुल सही समय का पता चलता है।

इस प्रकार हर क्रिया का एक नाजुक और सूक्ष्म यंत्र होता है। परंतु मानव में ऐसा कोई यंत्र जन्म से नहीं होता। उसका निर्माण और विकास बच्चे के क्रियाकलापों द्वारा होता है। अन्य जानवरों की अपेक्षा, मनुष्य में इतनी अधिक मांसपेशियां होती हैं कि वह हर प्रकार की क्रियाएं सीख सकता है। इन क्रियाओं को सीखने में वह अपनी मांसपेशियों को अधिक शक्तिशाली नहीं बनाता है, वरन उनमें समन्वय स्थापित करता है। यह दोनों भिन्न बातें हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जब बच्चा पैदा होता है तो उसकी मांसपेशियों में कोई समन्वय नहीं होता। उसे अपनी सब क्रियाओं का निर्माण और विकास स्वयं करना होता है और इसके लिए उसे मस्तिष्क से प्रेरणा मिलती है। दूसरे शब्दों में, बच्चे में समन्वय स्थापित करने की अंतर्निहित क्षमता होती है और उसके बाद अभ्यास से वह उसमें दक्षता प्राप्त करता है। इस समस्त क्रिया में स्पष्टतः बच्चे की प्रमुख क्रियात्मक भूमिका है।

सबसे अद्‌भुत बात यह है कि जानवरों की तरह, मनुष्य की क्रियाएं सीमित और पूर्वनिर्धारित नहीं होतीं। उसमें निर्णय की क्षमता है कि वह किन क्रियाओं को सीखेगा। कुछ जानवरों में पेड़ पर चढ़ने की, या भागने की, या तैरने की विशेष क्षमता होती है। परंतु आदमी को ऐसी कोई जन्मजात क्षमता प्राप्त नहीं है। उसके पास तो एक ही क्षमता है, और वह है, इन सबको सीखने और इन्हें जानवरों से भी बेहतर ढंग से सीखने की क्षमता।

पर यह बहुमुखी प्रतिभा उसके कार्यकलापों पर निर्भर है। उसे इनके लिए बड़ा प्रयास और अभ्यास करना पड़ता है जिससे सब मांसपेशियां एक होकर कार्य करें। चूंकि सभी में स्नायुओं द्वारा संचार स्थापित है, अतः उन्हें अचेतन से पता चल जाता है कि क्या करने से संतुलन स्थापित होगा। इसकी पहल इच्छा-शक्ति करती है।

वास्तव में मांसपेशियों की पूर्ण क्षमता को शायद ही कोई अर्जित कर पाता हो। मनुष्य उस व्यक्ति की तरह है जिसे विरासत में अपार धन मिला हो। परंतु वह उस धन के एक अंश का ही उपयोग कर सकता है। यह निश्चय उसे करना है कि वह किस भाग का, कब

उपयोग करे। एक व्यक्ति का धंधा व्यायाम कराना हो सकता है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे कुछ विशेष प्रकार की मांसपेशियां विरासत में मिली हैं। व्यावसायिक नर्तक के पास नाचने के लिए कोई विशेष मांसपेशियां नहीं होतीं। ये दोनों अपनी इच्छा से उनका विकास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो कार्य करना चाहता है, उसी के अनुसार मांसपेशियों को चुन कर कार्यारंभ कर सकता है। उसका सुझाव मस्तिष्क ही करेगा। कुछ भी पूर्व निर्धारित नहीं है, परंतु सब कुछ संभव है। केवल उसकी इच्छा-शक्ति का सहयोग चाहिए।

मानव प्रकृति ऐसी नहीं है कि सभी मानव अपना विकास एक ही मार्ग से करें, जैसा एक जाति के जानवर करते हैं। यदि कई मानव एक ही कला के क्षेत्र में जाते हैं, तब भी हर एक के ढंग में कुछ भिन्नता होती है। हम लेखन क्षेत्र में इसे देखते हैं। यद्यपि हम सभी लिख सकते हैं, परंतु प्रत्येक की लिखाई भिन्न होती है। प्रत्येक मनुष्य के काम करने का अपना ढंग होता है।

व्यक्ति के कार्य का रूप उसकी क्रियाओं से पता चलता है। उसका कार्य उसके मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है। वहीं उसका मानसिक जीवन है। मस्तिष्क ही उसके आंतरिक व्यक्तित्व का केंद्र है और मस्तिष्क के निर्देशन में ही समस्त क्रियाएं होती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी समस्त मांसपेशियों का विकास नहीं करता, या केवल उन्हीं मांसपेशियों का विकास करता है जिन्हें वह शारीरिक काम के लिए उपयोग करता है, तो उसका मस्तिष्क भी उसी निम्न स्तर पर रहेगा जहां पर उसकी क्रियाएं रह गई हैं। अतः मनुष्य जिस प्रकार का काम करता है, या करना पंसद करता है, वैसा ही उसका मानसिक जीवन बन जाता है। जो व्यक्ति बिलकुल काम नहीं करता, उसके मानसिक जीवन को बहुत खतरा है, क्योंकि यद्यपि यह सच है कि हम अपनी समस्त मांसपेशियों का पूरा उपयोग नहीं कर सकते, परंतु एक सीमा से कम उपयोग करने में भी बड़ी हानि होती है। इससे व्यक्ति का पूरा जीवन कमजोर हो जाता है। इसीलिए स्कूलों के पाठ्यक्रम में कसरत और खेलकूद अनिवार्य कर दिए गए हैं। इनके कारण शरीर की बहुत सी मांसपेशियों का उपयोग हो जाता है।

अन्य स्कूलों की तरह, हमें भी अपने स्कूलों में शिक्षा योजना के अनुसार मानसिक और शारीरिक गतिविधियां बारी-बारी से रखनी पड़ती हैं परंतु हमारे बच्चों के मानसिक जीवन से प्रदर्शित होता है कि उनकी सभी मांसपेशियां निरंतर उपयोग में आ रही हैं। इसका संबंध किसी विशेष हुनर के सीखने से नहीं है। हमारी शिक्षा प्रणाली अन्य आधुनिक शिक्षा प्रणालियों से नितांत भिन्न है, जहां पर बच्चों को लिखना इसलिए सिखाया जाता है कि वे क्लर्क बनें या उन्हें कुदाल आदि से काम करना इसलिए सिखाते हैं कि वे अच्छे श्रमिक बनें। हमारे अनुसार इस तरह का व्यावसायिक प्रशिक्षक, शिक्षा में क्रिया के सच्चे उद्देश्यों को पूरा नहीं करता। हमारी अवधारणा इससे भिन्न है। इससे बच्चा अपनी उन क्रियाओ में समन्वय स्थापित करता है जो उसके मानसिक जीवन में आवश्यक भूमिका निभाती हैं, जिससे उसके मानसिक जीवन का व्यावहारिक और कार्यशील पक्ष समृद्ध हो।

यदि मस्तिष्क और क्रियाओं में समन्वय न हो, तो मस्तिष्क का विकास केवल अपने

ही लिए होगा, मानो वह अपने कार्य के परिणामों से अलग कर दिया गया हो। जिन क्रियाओं का संचालन मस्तिष्क से नहीं होता, वे अव्यवस्थित होती हैं और नुकसान पहुंचाती हैं। परंतु जिस व्यक्ति का संबंध अपने वातावरण तथा अन्य लोगों से है, उसके लिए क्रिया बहुत जरूरी है और इसी दृष्टि से उसका विकास होना चाहिए।

इसका उद्देश्य, बाह्य जगत के संदर्भ में मानव और उसके जीवन की सहायता करना है।

आजकल सभी सिद्धांतों और विचारों में आत्मसुधार और आत्मानुभूति पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। यदि हम क्रिया का वास्तविक उद्देश्य समझ लें, तो ये आत्मकेंद्रित विचार अवश्य समाप्त हो जाएंगे। हमें अपनी अवधारणा को व्यापक बनाना होगा और उसमें उन सभी अंतर्निहित क्षमताओं को सम्मिलित करना होगा, जिनका विकास संभव है। संक्षेप में, हमें, "क्रिया के दर्शन" को दृढ़तापूर्वक अपनाना होगा।

क्रिया ही जड़ और चेतन के मध्य भिन्नता स्थापित करती है। परंतु चेतन की क्रिया निरुद्देश्य नहीं होती। वे अपने लक्ष्य की ओर गमन करते हैं और उनका जीवन प्रकृति के नियमों का पालन करता है। हम कल्पना करें कि यदि सब पौधों में सब क्रियाएं बंद हो जाएं, तो फूल और फल नहीं लगेंगे। हवा में जहरीली गैसें बढ़ जाएंगी। यदि संसार में समस्त क्रियाएं बंद हो जाएं, तो चिड़ियां पेड़ों पर ही रह जाएंगी और सब मच्छर जमीन पर गिर जाएंगे, जानवर शिकार की तलाश में नहीं घूमेंगे। मछलियां पानी में तैरना बंद कर देंगी। फिर हमारा यह संसार कैसा भयानक स्थान हो जाएगा।

गतिहीनता असंभव है। समस्त क्रियाएं बंद हो जाने से सारा संसार अव्यवस्थित हो जाएगा। यदि सब जीवधारी अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य न करें और दिशाहीन क्रिया करें, तब भी संसार में अव्यवस्था बढ़ेगी। अतः क्रिया का एक पक्ष सामाजिक भी है। क्रिया केवल स्वास्थ्य के लिए ही जरूरी नहीं है। यदि मानवता, क्रिया करने की अपनी समस्त क्षमता को कसरत करने में ही गंवा दे, तो मानवता की समस्त ऊर्जा समाप्त हो जाएगी, और प्राप्ति कुछ नहीं होगी। समाज का सारा अस्तित्व ऐसी क्रिया पर आधारित है जो किसी रचनात्मक उद्देश्य के लिए की जाए। समाज के अंदर व्यक्ति के कार्यकलापों का लक्ष्य व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही होता है। आदमी और जानवर में आचरण की बात करते समय हमारे मन में ऐसी ही उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं का विचार आता है। यह आचरण उनके सारे कार्यों का आधार है। ये कार्य केवल व्यक्तिगत जरूरतों की पूर्तिमात्र नहीं हैं—जैसे सफाई या घर का काम। इन कामों से कोई ऐसा दूर उद्देश्य पूरा होता है जो सबके लिए लाभकारी है। यदि ऐसा न होता, तो आदमी का कार्य केवल कसरत मात्र रह जाता। विभिन्न क्रियाओं में नृत्य एक व्यक्तिगत क्रिया है। परंतु बिना दर्शकों के नृत्य भी निरर्थक है अर्थात उसका कोई सामाजिक या उत्कृष्ट लक्ष्य नहीं है।

यदि हम ब्रह्मांड की इस योजना को समझ लें कि प्रत्येक जीवधारी की क्रिया का लक्ष्य पूर्व निर्धारित है और उसका प्रभाव तत्काल उपस्थित उद्देश्य से भी बहुत दूर तक पड़ता है, तो हम बच्चे के कार्यों को बेहतर समझ सकेंगे और उसका उचित मार्गदर्शन कर सकेंगे।

अध्याय चौदह

बुद्धि और हाथ का प्रयोग

क्रिया के यांत्रिक विकास का अध्ययन बहुत रोचक है—केवल इसलिए नहीं कि वह बहुत जटिल है, पर इसलिए कि उसकी हर अवस्था, जिससे वह गुजरता है, स्पष्ट दिखाई देती है।

चित्र 9 में मैंने क्रिया के विकास को दो आड़ी रेखाओं से चित्रित किया है। उन रेखाओं के ऊपर कई छोटी रेखाएं बनी हुई हैं। मोटी रेखाएं छह महीने का अंतराल दर्शाती हैं और उनके ऊपर जो अधिक मोटे चिह्न हैं, वे वार्षिक अंतराल दर्शाते हैं। नीचे की रेखा हाथों का विकास और ऊपर की रेखा संतुलन और पांव से चलने का विकास दर्शाती हैं। अतः चित्र चारों अंगों अर्थात दोनों हाथों और दोनों पांवों का विकास दो-दो के जोड़ों में बताता है।

निम्नतर जानवरों में ये चारों अंग एक साथ विकसित होते हैं और साथ-साथ कार्य करते हैं। परंतु मनुष्य में हाथों के जोड़े और पांवों के जोड़े के विकास की गति अलग-अलग हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि उन दोनों के कार्यों का प्रयोजन अलग-अलग है। संक्षेप में, हाथ और पांव के कार्यों में भिन्नता है। पांव से चलने और संतुलन बनाए रखने की क्षमता सभी आदमियों में इतने नियमित रूप से विकसित होती है कि हम उसे एक जैविक घटना कह सकते हैं। हम विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि जन्म लेने के बाद, आदमी अवश्य एक दिन पांव से चलेगा। सभी मानव अपने पांव का समान रूप से उपयोग करते हैं। परंतु यह कोई पहले से नहीं बता सकता कि उक्त मानव अपने हाथों का किस प्रकार उपयोग करेगा। कौन जानता है कि आज के बच्चों में कौन से विशेष हुनर का विकास होगा ? पुरानी पीढ़ी के बच्चों में भिन्न-भिन्न हुनरों का विकास होता था। अतः हमारे चित्र की दोनों रेखाएं, हाथ और पांव की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं दर्शाती हैं।

पांव की क्रिया का निस्संदेह एक जैविक आधार है और वह मस्तिष्क के आंतरिक विकास से भी जुड़ी हुई है। आदमी ही एक ऐसा स्तनपायी जीव है जो (दो) पांवों से चलता है। शेष सब चार पांव से चलते हैं। जब आदमी एक बार दो पांव पर संतुलन प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी यह कठिन मुद्रा दो पांव पर ही कायम रख सकता है। परंतु यह संतुलन प्राप्त करना कोई सरल काम नहीं है। वास्तव में यह एक दक्षता है, जिसके लिए लंबे अभ्यास की जरूरत होती है। इसके लिए आदमी को अपना पूरा पांव जमीन पर टेकना

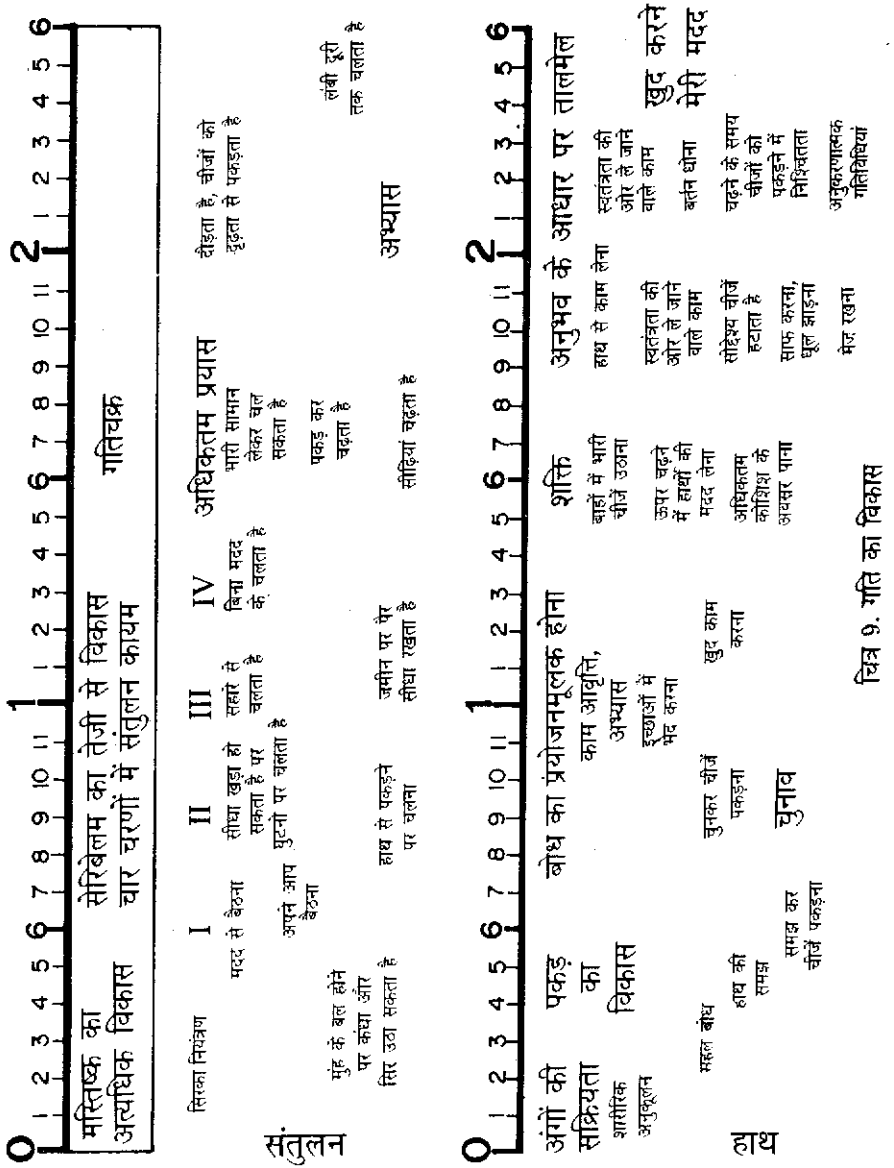

चित्र 9. गति का विकास

होता है जबकि अधिकांश अन्य जानवर अपने पंजे के बल चलते हैं। वैसे भी, जब चारों पांव उपयोग में लाए जाते हैं तो भार धारण करने के कई आधार होते हैं। अतः आदमी के पांवों का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—कायिक (फिजियोलॉजिकल), जैविक, (बायोलॉजिकल) और संरचनात्मक (एनाटॉमिकल)। ये सभी बहुत रोचक हैं।

परंतु हाथों का कोई जैविक आधार नहीं है। उनकी क्रिया पूर्व निर्धारित नहीं है। फिर उनके विकास का निर्देशन कौन करता है ? चूंकि उनके विकास का आधार जैविक या कायिक नहीं है, तो यह निर्देशन मस्तिष्क का ही होगा। हाथ का सीधा संपर्क मनुष्य की आत्मा से है—केवल उसकी व्यक्तिगत आत्मा से नहीं, वरन जीने के उन विभिन्न ढंगों से है जो आदमी ने पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों में, विभिन्न कालों में अपनाए हैं। आदमी के हाथ उसके विचारों को अभिव्यक्त करते हैं और इस पृथ्वी पर जबसे मानव का आविर्भाव हुआ है, उसकी हस्तकला के निशान इतिहास के पन्नों में अंकित हैं। प्रत्येक सभ्यता ने अपने विशिष्ट शिल्प-तथ्यों के निशान छोड़े हैं। भारत में किसी समय शिल्पकला इतनी उत्कृष्ट थी कि आज भी उसकी अनुकृति संभव नहीं है। मिस्र में भी ऐसे ही आश्चर्यजनक नमूने मिलते हैं। निम्नतर सभ्यताओं के भी अवशेष हैं परंतु ये उतने उत्कृष्ट नहीं हैं।

अतः हस्तकला का विकास, मानसिक विकास के साथ-साथ होता है। निस्संदेह कार्य जितना नाजुक होगा, उसको करने के लिए उतने ही बुद्धिमान मस्तिष्क का निर्देशन चाहिए। मध्यकालीन यूरोप में महान मानसिक जागृति हुई थी। उस समय के नए विचारों को अभिव्यक्त करने वाली पुस्तकों और हस्तलिपियों में बड़े सुंदर चित्र बने हुए हैं। आध्यात्मिक जीवन में भी, जो सांसारिक जीवन से अलग माना जाता था, अपने ढंग का वैभव था। यह हम धर्मस्थलों की अपूर्व इमारतों में देखते हैं, जहां साधारण आदमी पूजा के लिए जाता था। जहां आध्यात्मिक जीवन होता है, वहां मंदिरों का निर्माण सदा होता है।

सुनते हैं कि असीसी के संत फ्रांसिस, जो मानव आत्माओं में सबसे सरल और पवित्र थे, कहा करते थे—

> "इन ऊंची पहाड़ियों को देखो। यही हमारे मंदिर की दीवालें हैं और हमारे हृदय की आकांक्षा है।"

एक दिन इन्हीं संत और उनके धर्म भाइयों को चर्च बनाने के लिए बुलवाया गया। चूंकि संत और उनके सहधर्मी, दोनों ही गरीब थे, अतः वे पहाड़ियों से अनगढ़ पत्थरों को अपने कंधों पर ढोकर चर्च बनाने के लिए लाए। सचाई यह है कि स्वतंत्र विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार के कार्य करने की आवश्यकता होती है, और इसके लिए हाथ जरूरी हैं। हमें चारों ओर मानव की हस्तकला के चिह्न दिखाई देते हैं। इनके द्वारा, हमें उस समय के विचारों और भावनाओं का पता चलता है।

यदि हम इतने सुदूर प्राचीन काल की याद करें, जिस समय की हड्डियां भी आज नहीं मिलतीं; तो वह क्या चीज है जो हमें उस काल के बारे में तथा उस समय के निवासियों

के बारे में जानने में सहायक होती है ? यह उस समय की कला है। इन प्रागैतिहासिक कालों की शारीरिक बल पर आधारित पुरातन सभ्यता के चिह्न आज भी मिलते हैं। पत्थरों की बड़ी चट्टानों से स्मारक और शिल्पतथ्य बनाए गए हैं, और हम आश्चर्य करते हैं कि इन्हें कैसे बनाया गया होगा। दूसरे स्थानों की और उत्कृष्ट कला से पता चलता है कि यहां सभ्यता का चिह्न और ऊंचा रहा होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जैसी आदमी की बुद्धि होती है, जैसा उसका आध्यात्मिक जीवन और भावनाएं होती हैं, वैसा ही उसका हस्तशिल्प होता है और उसके अवशेषों से हम उस समय के मानव के बारे में जान सकते हैं। परंतु इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त भी, हम देखते हैं कि मनुष्य अपने हाथों से अपना परिवेश कितना बदल देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो बुद्धि का काम ही यह है कि वह हाथों का निर्देशन करें। यदि मनुष्य वाणी से अपने विचारों का संचार करता, यदि वह शब्दों से अपने विवेक को अभिव्यक्त करता, तो पुरानी पीढ़ियों के आज कोई चिह्न बाकी नहीं रहते। हाथों के कारण ही सभ्यताएं विकसित हुई हैं। हाथ हमारे मस्तिष्क का उपकरण है।

इसीलिए हाथों का संबंध मानसिक जीवन से है। क्या हस्तरेखा शास्त्र (पामिस्ट्री) की पुरातन कला के अनुसार, जातियों का इतिहास हाथों पर नहीं छपा रहता है ? क्या वे हाथों को एक आध्यात्मिक अवयव नहीं मानते हैं ? अतः बच्चे के मानसिक विकास के अध्ययन को उसके हाथों की गतिविधियों से जुड़ा रहना चाहिए क्योंकि हाथों को मस्तिष्क से प्रेरणा मिलती है। दोनों का बहुत निकट संबंध है।

हम इसे यों समझ सकते हैं। एक स्तर तक बच्चे की बुद्धि का विकास हाथों की सहायता के बिना हो सकता है। परंतु यदि हाथों की सहायता प्राप्त हो, तो बुद्धि का विकास बेहतर होगा और चरित्र अधिक सुदृढ़ होगा। अतः यहां भी, हम जिसे पूर्णतया मानसिक क्षेत्र समझते हैं, तथ्य यह है कि, यदि बच्चे को अपने परिवेश में क्रियाओं के उपयोग का अवसर न मिले, तो उसका चरित्र अल्पविकसित रह जाता है। मेरा अनुभव यह है कि यदि कुछ विशेष कारणों से बच्चा अपने हाथों का प्रयोग न कर सका हो, तो उसका चरित्र अति अल्पविकसित अवस्था में रह जाता है। वह आज्ञापालन नहीं कर सकता, उसमें पहल की हिम्मत नहीं होती, और वह आलसी तथा दुखी प्रतीत होता है। परंतु जो बच्चे अपने हाथ से काम करते हैं, उनका विकास शीघ्र होता है और चरित्र भी सबल होता है।

हमें मिस्र के इतिहास का वह काल याद आता है जब कला, स्थापत्य कला, और धर्म—सभी क्षेत्रों में निपुण हस्त कौशल व्याप्त था। उस समय के मकबरों पर जो शिलालेख मिले हैं, उनसे पता चलता है किसी भी व्यक्ति की, उस समय सबसे बड़ी प्रशंसा यही थी कि वह अच्छे चरित्र का व्यक्ति है। अतः उन लोगों में चरित्र का विकास बहुत महत्वपूर्ण माना जाता होगा। ये वे लोग थे, जिनका हस्तकौशल बहुत भव्य और समृद्ध था। इससे हमे यह पता चलता है कि समस्त इतिहास में, हाथों की क्रियाओं के साथ चरित्र और सभ्यता का अटूट संबंध रहा है, और हाथों का व्यक्तित्व से संबंध रहा है।

यदि हम इसके साथ यह भी देखें कि इन सब लोगों के चलने का ढंग कैसा था तो

हमें यही पता चलेगा कि वे दो पैर से, सीधे, अपना संतुलन बनाए हुए चलते थे। शायद उनके दौड़ने का और नाचने का ढंग हमसे कुछ भिन्न हो, परंतु वे एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए अपने पैरों का उपयोग करते थे।

अतः क्रिया के विकास के दो पक्ष हैं। एक ओर तो वह प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ है और दूसरी ओर कुछ मात्रा में, वह आंतरिक जीवन से जुड़ा हुआ है, यद्यपि ये दोनों ही पक्ष मांसपेशियों के उपयोग पर निर्भर हैं। बच्चे का अध्ययन करते समय हमें उसके विकास के दोनों पक्ष देखने होंगे, हाथों का विकास और पैरों से चलना तथा संतुलन बनाए रखना। चित्र 9 में हम देखते हैं कि डेढ़ साल के बाद ही इन दोनों विभिन्न विकासों में कुछ संबंध स्थापित होता है। यह तब होता है जब बच्चा अपने हाथों में भारी चीजें लेकर, पैरों से चलना चाहता है और उसे अपने को संभालना पड़ता है। आदमी के पांव उसके वाहन हैं जो प्रकृति ने उसे प्रदान किए हैं। वे उसे उन स्थानों पर ले जाते हैं जहां वह काम करता है। परंतु यह काम वह अपने हाथों से करता है। वह बहुत दूर तक चल सकता है और ऐसे ही चल कर उसने समस्त पृथ्वी पर दखल कर लिया है। इस पृथ्वी पर कितने मानव आए और चले गए पर वे जितनी भी यादें छोड़ गए हैं वे सब उनके हाथों द्वारा किए गए कार्य हैं।

भाषा के अध्ययन में हमने देखा था कि वाणी का संबंध दृष्टि से है, क्योंकि हमें यह देखना जरूरी होता है कि हम अपना पांव कहां रख रहे हैं, और अपने हाथ से क्या कर रहे हैं। सुनने और देखने की इंद्रियां, बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए सबसे जरूरी हैं। उसके मानसिक जीवन में सबसे पहले, चारों ओर अवलोकन की क्षमता जाग्रत होती है। यह स्पष्ट है कि जिस संसार में उसे क्रियाकलाप करने हैं उसका उसे ज्ञान हो। अपना पहला क्रियाकलाप आरंभ करने के पहले वह अवलोकन करता है। फिर अपने ज्ञान के आधार पर आगे की क्रियाएं करता है, जिससे उसे और अनुभूति प्राप्त करने की क्षमता मिलती है। अपनी स्थिति को समझना और उसके अनुसार क्रिया करना, दोनों ही उस समय के मानसिक विकास पर अवलंबित हैं। इसीलिए नवजात शिशु प्रारंभ में निश्चल लेटा रहता है। बाद में जब वह क्रिया प्रारंभ करता है तो वह अपने मस्तिष्क के निर्देशन का अनुसरण करता है।

बच्चे की क्रिया का प्रथम संकेत उसके द्वारा किसी चीज को पकड़ना है। जब तक उसने पकड़ना प्रारंभ नहीं किया था, उसका ध्यान अपने हाथ की ओर नहीं गया था। पहले उसे अपने हाथ का बोध अचेतन में था, अब चेतन में हो जाता है। यदि हम बच्चे को गौर से देखें तो हमें पता चलेगा कि पहले उसका ध्यान हाथों पर जाता है। पांवों पर नहीं। जब एक बार उसका ध्यान अपने हाथों पर चला जाता है, तो कस कर पकड़ने की क्रिया में द्रुत गति से विस्तार होता है अतः पहले जो स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी, वह अब साभिप्राय क्रिया हो जाती है। दस महीने का होने पर, संसार के अवलोकन से, बच्चे की संसार में रुचि जाग्रत हो जाती है और वह उस पर अधिकार पाना चाहता है। इस इच्छा के फलस्वरूप अब उसकी साभिप्राय पकड़ने की क्रिया सरल नहीं रह जाती। अब वह सचमुच अपने हाथों

का प्रयोग करना चाहता है जिसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः चीजों को एक जगह से दूसरी जगह खिसकाने में होती है। अपने परिवेश का ज्ञान होने से, तथा उस पर अधिकार की इच्छा से, अब बच्चा क्रिया प्रारंभ करता है। एक वर्ष समाप्त होते-होते, बच्चा कई प्रकार के कार्य करने लगता है—जैसे अलमारियों का खोलना और बंद करना, डिब्बों के ढक्कन खोलना और बंद करना, अलमारी की दराजें बाहर निकालना और अंदर ढकेलना, बोतलों के कार्क खोलना और वापस लगाना, टोकरी की चीजें बाहर निकालना और उन्हें फिर उसमें वापस डालना आदि। इन कार्यों को बार-बार करने से, अपने हाथों पर उसका नियंत्रण बढ़ता जाता है।

इस बीच में उसके पांवों के साथ क्या हो रहा है ? इनकी क्रिया के लिए न तो उसे बुद्धि की आवश्यकता है और न सचेत प्रयत्न की। यहां तो केवल शारीरिक विकास होता है। सेरेवेलम* का आकार द्रुत गति से बढ़ता है और यही वह विशेष अवयव है जो संतुलन स्थापित करने वाली मांसपेशियों पर नियंत्रण रखता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक घंटी मस्तिष्क में लगी है, जिसके बजते ही निष्क्रिय शरीर खड़ा हो जाता है और अपना संतुलन स्थापित करता है। इसमें परिवेश की कोई भूमिका नहीं है। इसके आदेश मस्तिष्क से आते हैं। बच्चा कुछ अपने प्रयास से, और कुछ दूसरों की सहायता से पहले बैठना शुरू करता है और फिर लड़खड़ा कर खड़ा हो जाता है।

आजकल मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बच्चे को सीधा खड़ा होने के लिए चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था में वह बैठता है, दूसरी में वह घुटनों के बल खिसकता है। यदि इस अवस्था में उसको अंगुली का सहारा देकर खड़ा करें, तो वह अपने पांव को स्वयं थोड़ा आगे बढ़ा देगा, पर उसका पंजा ही जमीन पर पड़ेगा। जब वह अकेला, बिना सहारे के सीधा खड़ा होने लगता है, तब उसका पूरा पैर जमीन पर टिकता है। इस अवस्था में, सीधा खड़े होने की मुद्रा प्राप्त करने के बाद, वह किसी को पकड़ कर, जैसे मां की साड़ी पकड़ कर, पांव से चल सकता है और चौथी अवस्था में वह स्वयं पांव से चलना शुरू कर देता है।

यह सब आंतरिक परिपक्वता प्राप्त करने के बाद होता है। इसके बाद बच्चा मानो कहता है, "अब मैं अपने पांव से चल सकता हूं। अतः अब मैं चलता हूं, नमस्ते।"

विकास का दर्शन

अब बच्चा स्वतंत्रता की एक और अवस्था तक पहुंच गया है, क्योंकि स्वतंत्रता का सार, अपने आप कुछ कर सकने की क्षमता है। स्वतंत्रता की इन क्रमिक अवस्थाओं के पीछे दार्शनिक अवधारणा इस प्रकार है—मनुष्य प्रयास करने से अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करता है।

* मस्तिष्क के एक भाग का नाम है।

बिना दूसरों की सहायता के कोई कार्य करना ही स्वंतत्रता है। यदि बच्चे को स्वतंत्रता प्राप्त है तो वह द्रुत गति से प्रगति करेगा; यदि स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है तो उसकी प्रगति धीमी गति से होगी। इन विचारों को समझने के बाद हम देखेंगे कि बच्चे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। इस विषय में ये विचार हमारा उचित पथ निर्देशन करेंगे। यद्यपि हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि उसके सब कार्यों में हम उसकी सहायता करें, परंतु इस दर्शन से हमें यह समझ में आता है कि नितांत आवश्यक सहायता के अतिरिक्त, हमें बच्चे को कोई सहारा नहीं देना चाहिए। यदि बच्चा अपने पांव से स्वयं चलना चाहता है तो हमें चाहिए कि उसे ऐसा प्रयास करने दें, क्योंकि अभ्यास से विकासशील क्षमता में प्रगति होती है। क्षमता प्राप्त करने के बाद भी अभ्यास की आवश्यकता होती है। यदि तीन वर्ष के बच्चे को हमेशा गोद में उठा कर चला जाए (जैसा अक्सर देखा है) तो इससे, उसके विकास में सहायता के बजाए रुकावट ही होती है। बच्चे की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जो वयस्क उसकी सहायता करते हैं, वे उसके विकास में बाधा स्वरूप हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि हमें बच्चे को गोद में नहीं उठाना चहिए और उसे अपने पांव से चलने का मौका देना चाहिए। यदि उसके हाथ काम करना चाहते हैं, तो हमें उसे वे चीजें उपलब्ध करानी चाहिए जिससे वह अपनी बौद्धिक गतिविधियों का अभ्याय कर सके। वह अपने क्रियाकलापों से ही स्वतंत्रता की ओर बढ़ेगा।

अवलोकन से पता चलता है कि डेढ़ वर्ष की आयु में एक नया तत्व प्रकट होता है, जो हाथ और पांव के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यह तत्व शक्ति है। जो बच्चा गतिशील और प्रवीण हो जाता है, वह अपने को शक्तिशाली अनुभव करता है। वह जो भी कार्य करता है, उसका उद्देश्य केवल अभ्यास नहीं होता, वरन अधिकतम प्रयत्न करना होता है (यह तथ्य हम वयस्कों की मनोवृत्ति से कितना भिन्न है)।

ऐसा लगता है मानो प्रकृति उससे कह रही है, "तुझमें फुर्ती और दक्षता है। अब तुम्हें अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। वरना ये सब क्षमताएं बेकार हो जाएंगी।"

इस बिंदु पर आकर हाथों की दक्षता और पांवों पर संतुलन से खड़े होने का लक्ष्य एक हो जाता है। केवल पांवों से चलने की अपेक्षा बच्चा चाहता है कि वह बहुत दूर तक पैदल चले और साथ में काफी भारी चीजों को उठा कर चले। वास्तव में मनुष्य की नियति केवल चलना नहीं है वरन बोझ उठाकर चलना भी है। जिस हाथ ने पकड़ना सीख लिया है, उसे बोझ उठाना और उसे लेकर चलना भी सीखना है। यह डेढ़ साल का बच्चा, अपने हाथ में पानी से भरा लोटा लेकर कठिनाई से संतुलन बनाते हुए, धीरे-धीरे पैदल चलता है। उसके अंदर गुरुत्वाकर्षण के नियम की अवहेलना करने की, और उस पर नियंत्रण पाने की, इच्छा होती है। बच्चे को ऊपर चढ़ना बहुत अच्छा लगता है। वह अपने हाथों से कोई चीज पकड़ कर, ऊपर चढ़ना चाहता है। जीवन की एक पूरी अवधि वह शक्ति के इन प्रयत्नों में लगाता है। यहां भी हमें प्रकृति की तर्कसंगत बात दिखाई देती है, क्योंकि वयस्क के शरीर को शक्तिशाली होना चाहिए।

जब बच्चा आश्वस्त होकर चलने लगता है, और उसे अपनी शक्ति पर विश्वास हो जाता है, तब वह अपने चारों ओर के लोगों पर ध्यान देना शुरू करता है और उनकी क्रियाओं की नकल करने का प्रयास करता है। वह इस समय अनुकरण इसलिए नहीं करता कि किसी ने उससे ऐसा करने को कहा है, वरन वह इसलिए अनुकरण करता है क्योंकि उसे अंदर से इसकी जरूरत महसूस होती है। जब बच्चा स्वतंत्र होता है, तभी यह तथ्य हमें दिखाई देता है। अतः हम प्रकृति की व्यवस्था को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

1. बच्चे को सीधे खड़े होने की क्षमता प्राप्त हो;
2. बच्चा पांव से चलने लगे और ताकतवर बने;
3. बच्चा अपने चारों ओर के जीवन में भाग ले।

इससे हमें पता चलेगा कि तैयार होने की अवस्थाएं कैसे एक के बाद एक, आती हैं। पहले बच्चा स्वयं अपने को, तथा अपने शारीरिक उपकरणों को तैयार करता है, फिर शक्ति अर्जित करता है, फिर दूसरों का अनुकरण करता है और अंत में अपने आप कार्य करना शुरू करता है। प्रकृति उसे आगे बढ़ने को प्रेरित करती है। वह उसे कसरतों के सुझाव भी देती है जैसे कुर्सी पर चढ़ना या सीढ़ी पर चढ़ना। इसके बाद ही नई अवस्था प्रारंभ होती है जब वह अपने आप सब काम करना चाहता है। "अब मैं तैयार हूं और स्वतंत्र होना चाहता हूं।"

किसी मनोवैज्ञानिक ने अभी तक इस तथ्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया है कि बच्चे में पैदल चलने की बहुत क्षमता होती है और उसे लंबी दूरी तक पैदल चलने की आवश्यकता है। अधिकतर या तो हम उसे गोदी में उठा लेते हैं, या उसे गाड़ी में ले जाते हैं। हम सोचते हैं कि वह चल नहीं सकता, इसलिए हम उसके लिए सवारी का इंतजाम करते हैं। उसके जीवन में प्रवेश करते ही हम उसमें हीन भावना उत्पन्न कर देते हैं।

अध्याय पंद्रह

विकास और अनुकरण

पिछले अध्याय में हमने डेढ़ वर्ष तक की आयु के बच्चे का अध्ययन किया था। इस आयु में आजकल सभी दिलचस्पी दिखा रहे हैं और संभव है कि शिक्षा में यहां से एक नया मोड़ शुरू हो। इसी समय बच्चे के हाथों के कार्य, उसके पांवों की गतिविधियों से जुड़ जाते हैं। बच्चे के व्यक्तित्व में अब विस्तार आरंभ होता है क्योंकि दो वर्ष की आयु में "भाषा का विस्फोट" उसे पूर्णता की एक अवस्था तक पहुंचा देगा। अतः डेढ़ वर्ष की आयु में बच्चा अपने विचार अभिव्यक्त करने की कोशिश आरंभ करता है। बच्चे के लिए यह बड़े प्रयत्न और रचनात्मक कार्य का समय है।

हमें इस अवस्था में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए कि कहीं हम बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नष्ट न कर दें। यदि प्रकृति स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि बच्चे को इस काल में बहुत प्रयत्न करना चाहिए, तो हमें प्रकृति की सहायता करनी चाहिए। यह एक अति सामान्य कथन है, पर बचपन का अध्ययन करने वाले इसे बड़े विस्तृत रूप से अभिव्यक्त करते हैं। उनके अनुसार इस अवस्था में बच्चा अनुकरण करना आरंभ करता है। यह कोई नया विचार नहीं है कि वे बड़ों की नकल करते हैं। परंतु यह कथन बड़ा सतही है। आज हम यह अनुभव करते हैं कि अनुकरण करने के पूर्व, बच्चे में पहले "समझ" होनी जरूरी है। पुराना विचार यही था कि हम बड़े लोगों को, सामान्य व्यवहार करना चाहिए। बच्चे हमारा अनुकरण करके उसी प्रकार का व्यवहार करने लगेंगे। अतः हमारा उत्तरदायित्व इतना ही है। यह अवश्य कहा जाता था कि हमें अच्छा आदर्श स्थापित करना चाहिए। और इस पर जोर दिया जाता था कि सभी वयस्कों के लिए विशेषकर शिक्षकों के लिए, यही उचित है। वे जैसा आदर्श प्रस्तुत करेंगे, मानवता का वैसा ही निर्माण होगा। माताओं को भी अच्छा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। परंतु प्रकृति का तर्क दूसरा ही है। उसकी दृष्टि में इसका कोई महत्व नहीं है कि बड़े लोग कितना अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। महत्व इस बात का है कि अनुकरण करने के पहले बच्चा इसके लिए "तैयार" हो। तैयारी इस पर निर्भर करेगी कि बच्चा कितना प्रयत्न कर रहा है।

यह बात प्रत्येक आदमी के लिए सच है। बड़ों का दृष्टांत केवल अनुकरण की प्रेरणा और लक्ष्य प्रदान करता है। परंतु केवल प्रेरणा से सफलता नहीं प्राप्त होती। सच तो यह है कि यदि एक बार बच्चा इस ओर प्रयास आरंभ कर दे, तो बहुधा वह अनुकरणीय दृष्टांत

से भी आगे निकल जाता है। उसे जिस कार्य की प्रेरणा मिली है, वह उसे और अधिक दक्षता से करता है। कुछ क्रियाकलापों में तो यह स्वयंसिद्ध है। सभी जानते हैं कि यदि बच्चा एक अच्छा संगीतज्ञ बनना चाहता है तो उसे अच्छे संगीतज्ञ के अनुकरण मात्र से कुछ अधिक करना होगा। उसे निरंतर अभ्यास करना पड़ेगा जिससे उसे, उस हुनर में दक्षता प्राप्त हो जाए। फिर भी हम अक्सर अनुकरण के सिद्धांत में विश्वास करके, बड़े भोलेपन से उसे उच्च स्तर के क्षेत्रों पर लागू कर देते हैं। हम बच्चे को किताबें पढ़ कर सुनाते हैं, या वीर पुरुषों और संतों की कहानियां सुनाते हैं, और सोचते हैं कि शायद इन कहानियों का उस पर प्रभाव पड़े और वह वीर या संत बन जाए। परंतु जब तक वह अंदर से इसके लिए तैयार नहीं होगा, यह असंभव है। कोई भी केवल अनुकरण करके बड़ा आदमी नहीं बन सकता। दृष्टांत से, उसमें आशा का उदय हो सकता है, या उसकी रुचि जाग्रत हो सकती है। अनुकरण की इच्छा से प्रयास में तेजी आ सकती है। परंतु उस आदर्श तक पहुंचने के पहले, बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण की जरूरत है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृति स्वयं ही यह सिखाती है कि अनुकरण के लिए पहले तैयारी की आवश्यकता है। बच्चा जो प्रथम प्रयत्न करता है वह अनुकरण के लिए नहीं, वरन अपने में अनुकरण की योग्यता का निर्माण करने के लिए करता है। वह प्रयास करता है कि वांछित आदर्श के लिए अपने को परिवर्तित कर ले। इससे पता चलता है कि अप्रत्यक्ष तैयारी की कितनी व्यापक महत्ता है। प्रकृति बच्चे को केवल अनुकरण की क्षमता ही नहीं प्रदान करती वरन उसे ऐसी क्षमता भी देती है कि वह आदर्श के अनुकूल बनने के लिए अपने को रूपांतरित कर ले। यदि शिक्षक होने के नाते हम यह सोचते हैं कि हम बच्चों को, उनके लक्ष्य की प्राप्ति में, सहायता प्रदान कर सकते हैं, तो हमें यह जानना जरूरी है कि हम किस क्षेत्र में अपनी उपयोगी सहायता प्रदान करें।

यदि हम इस आयु के बच्चों पर ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि वे निश्चित कार्य करने का प्रयास करते हैं। वे जो कुछ भी करने की कोशिश करते हैं, वह हमारी दृष्टि में चाहे बेतुका हो, पर उनको इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उन्हें तो अपना कार्य पूरा करना है। उन्हें अंदर से उनका जीवन प्रेरित करता है। यदि बच्चे की क्रिया के चक्र में कोई बाधा आ जाती है, तो उसका असर उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है। वह लक्ष्यहीन हो जाता है और उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। आजकल इस पर बहुत महत्व दिया जाता है कि हम क्रियाकलापों के इन चक्रों को बच्चों को पूरा करने दें। अप्रत्यक्ष तैयारी का महत्व भी कम नहीं है। वास्तव में ये सब अप्रत्यक्ष तैयारी के ही रूप हैं। हमारा सारा जीवन हमें अप्रत्यक्ष रूप से भविष्य के लिए तैयार करता है। हम देखते हैं कि जिन व्यक्तियों ने कोई महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किया है, उनके जीवन में इस कार्य के पहले कठिन परिश्रम का एक काल था। हो सकता है कि इस परिश्रम के काल में उन्होंने जो कार्य किया, वह उस कार्य से भिन्न हो जिसमें उन्हें सफलता मिली है। परंतु किसी न किसी रूप में उन्होंने अथक प्रयास किया होगा जिसके कारण उनकी आध्यात्मिक तैयारी होती है, बशर्ते कि उन्होंने प्रयास पूरा

किया हो। इसीलिए जब हम बच्चे को किसी प्रकार के बौद्धिक क्रियाकलाप में व्यस्त देखते हैं, तो चाहे हमें वह बेतुका लगता हो या हमारी इच्छा के विपरीत हो, परंतु हमें उसमें बाधा नहीं डालनी चाहिए। (यदि वह उसका नुकसान न करे तो) जो कार्यचक्र बच्चा करना चाहता है, उसे पूर्ण करने का अवसर बच्चे को मिलना ही चाहिए।

जैसा पिछले अध्याय में कहा था, इस आयु के बच्चों के पास अपनी मरजी के काम करने के रोचक तरीके होते हैं। हम देखते हैं कि दो वर्ष से कम आयु का बच्चा अपनी शक्ति से अधिक वजन उठाने की कोशिश करता है। मेरे एक मित्र के घर में भारी स्टूल थे। मैंने देखा कि एक डेढ़ साल का बच्चा, बड़ी मेहनत से, उसे कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक खिसका रहा है। बच्चे खाने की मेज सजाने में सहायता करना चाहते हैं और अपने हाथों में इतनी बड़ी डबल रोटी उठा कर चलते हैं कि वे अपने पांव भी नहीं देख सकते। वे इस तरह के काम करते रहेंगे और चीजें एक जगह से दूसरी जगह ले जाते रहेंगे, जब तक वे बिलकुल थक कर चूर न हो जाएं। बड़ों की यही इच्छा होती है कि बच्चों के हाथ से बोझ ले लें। परंतु मनोवैज्ञानिकों को विश्वास है कि इस प्रकार की सहायता, जो बच्चे की अपनी पसंद की गतिविधियों में बाधा डाले, बच्चे का नुकसान करती है। यह हमारे द्वारा 'दमन' की क्रिया है। कई "कठिन" बच्चों की मानसिक परेशानियों की उत्पत्ति, इस प्रकार की बाधा के कारण होती है।

एक दूसरे ढंग का प्रयास बच्चों को बहुत अच्छा लगता है। वह है सीढ़ियां चढ़ना। हम वयस्क, सीढ़ियां किसी उद्देश्य से चढ़ते हैं। पर बच्चा बिना उद्देश्य के सीढ़ी चढ़ता है। ऊपर पहुंच कर उसे संतोष नहीं होता। वह नीचे उतर आता है जिससे एक बार फिर ऊपर चढ़े। इस तरह वह कई बार अपना चक्र पूरा करता है। स्कूलों के मैदानों में लकड़ी या सीमेंट की फिसलने की जगह बच्चों के लिए बनाई जाती है, वह इस उद्देश्य के लिए बहुत अच्छी है। परंतु बच्चे को फिसलने में उतना मजा नहीं आता जितना ऊपर चढ़ने में आता है। उसे प्रयास करने में सुख मिलता है।

ऐसे वयस्क बहुत कठिनाई से मिलते हैं जो बच्चों की गतिविधियों में हस्तक्षेप न करें। इसीलिए सभी मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि बच्चों के कार्य करने की एक अलग जगह नियत कर देनी चाहिए, जहां उनके काम में कोई दखल न दे सके। इस उद्देश्य के लिए दिन भर के शिशु केंद्र या बच्चों के स्कूल बहुत महत्वपूर्ण हैं; विशेषकर डेढ़ साल से ऊपर के बच्चों के लिए। इन स्कूलों के लिए विशेष रूप से तरह-तरह की चीजें बनाई जाती हैं। एक पेड़ के ऊपर एक छोटा सा घर हो सकता है जिस पर पहुंचने के लिए एक सीढ़ी लगी हो। परंतु यह घर कोई रहने या आराम करने की जगह नहीं है। यह तो पहुंचने का एक लक्ष्य है। उस तक पहुंचने के लिए प्रयास करना ही उसका उद्देश्य है। घर तो निमित्त मात्र है। यदि बच्चा कोई चीज उठा कर दूसरी जगह ले जाना चाहता है, तो वह सबसे भारी चीज चुनता है। ऊपर चढ़ने की स्वाभाविक इच्छा भी केवल इसलिए है कि वह प्रयास करना चाहता है। वह कोई कठिन जगह ढूंढेगा जहां पर वह चढ़े। जैसे कुर्सी। परंतु उसे

सीढ़ियों पर चढ़ने में सबसे अधिक आनंद मिलता है, क्योंकि बच्चे में ऊपर चढ़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

इस तरह की गतिविधियां, जो किसी उद्देश्य के लिए नहीं की जातीं, बच्चे को अपनी क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने का अभ्यास कराती हैं। इस प्रकार का समन्वय प्राप्त करने के बाद, (ऐसी क्रियाओं में जिसमें कई मांसपेशियों का सहयोग आवश्यक होता है) बच्चा इस योग्य हो जाता है कि वह हमारा अनुकरण कर सके। परंतु बच्चा अपने कार्य, इस अंतिम उद्देश्य के लिए नहीं करता है। वह तो अपनी आंतरिक प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है। जब वह पूर्ण रूप से समर्थ हो जाता है, तब वह बड़ों का अनुकरण कर सकता है। तभी उसका परिवेश उसे प्रेरित कर सकता है। अब यदि वह किसी को झाड़ू लगाते हुए देखे या रोटी सेंकते हुए देखे, तो वह भी उसके साथ काम कर सकेगा। नया विचार अब उसे एक सफल क्रिया की ओर प्रेरित कर सकता है।

चलना और खोज करना

अब हम दो वर्ष के बच्चे की ओर ध्यान दें। उसे पैदल चलने की जरूरत है। यह स्वाभाविक है कि उसे यह जरूरत महसूस हो, क्योंकि उसे भावी मानव का निर्माण करना है और इसीलिए अपने अंदर सभी मानवीय योग्यताओं को विकसित करना है। दो वर्ष का बच्चा अच्छी तरह एक-दो मील पैदल चल सकता है, और यदि उसका मन हो तो ऊंचाई पर भी चढ़ सकता है। चलने में जितनी कठिनाई होगी, वह उसकी ओर उतना ही आकर्षित होगा। हमें यह याद रखना चाहिए कि पैदल चलने के बारे में हमारे विचारों में और बच्चे के विचारों में बहुत भिन्नता मिलती है। हम सोचते हैं कि वह इतनी लंबी दूरी तक पैदल नहीं चल सकता क्योंकि हम उसे अपनी रफ्तार से चलाते हैं। यह उतनी ही मूर्खता है जैसे हम घोड़े के साथ, उसकी रफ्तार से पैदल चलने की कोशिश करें। घोड़ा जब हमें हांफते हुए देखेगा तो यही कहेगा, "तुम चल नहीं पा रहे हो। मेरी पीठ पर बैठ जाओ और हम दोनों साथ-साथ पहुंच जाएंगे।" परंतु बच्चा "वहां पहुंचने" का प्रयास नहीं कर रहा है। वह तो केवल पैदल चलना चाहता है। चूंकि उसके पांव हमसे छोटे हैं, अतः हमें उसे अपने बराबर तेज चलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। वरन हमें चाहिए कि हम उसकी रफ्तार से चलें। इस दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि हमें अपने समय को, बच्चें के अनुकूल नियमित करना चाहिए। बच्चों को शिक्षा देते समय, प्रत्येक क्षेत्र में इसी नियम का पालन होना चाहिए। बच्चे के पास विकास के अपने नियम हैं। यदि हम चाहते हैं कि उनका विकास हो, तो हमें उनके नियमों का पालन करना चाहिए और अपने नियम उनके ऊपर नहीं थोपने चाहिए। बच्चा केवल अपने पांवों से नहीं चलता। वह चलते समय अपने नेत्रों का भी प्रयोग करता है। उसे जो रोचक चीजें दिखाई देती हैं, उन्हीं से प्रेरित होकर, वह आगे बढ़ता है। उधर एक भेड़ चर रही है। वह उसके पास बैठ कर उसे देखने लगता है। फिर वह उठ कर आगे बढ़ता है। थोड़ी

देर बाद उसे एक फूल दिखाई देता है। वह उसे सूंघता है। उसे फिर एक पेड़ दिखाई दे जाता है। वह पेड़ के पास जाता है, उसके कई चक्कर लगाता है, फिर बैठ कर उसे देखने लगता है। इस प्रकार वह मीलों घूम सकता है। वह बीच में कई बार रुक कर आराम करता है और साथ ही नई रोचक चीजें देखता है। यदि उसके रास्ते में कोई रुकावट आ जाए—जैसे कुछ पत्थर गिरे हुए हों या कोई पेड़ का तना पड़ा हो—तो उसकी खुशी का कोई अंत नहीं होता। पानी उसे अति प्रिय है। किसी छोटी सी नदी के किनारे बैठ कर वह खुशी से कहता है, "अहा! पानी ही पानी।" उसके साथ चलने वाले वयस्कों को पहुंचने की जल्दी रहती है। अतः उनके विचारों में पैदल चलने का अर्थ बिलकुल भिन्न है।

बच्चे के चलने का ढंग उन जनजातियों की तरह है जो पृथ्वी पर पहले विचरण करती थीं। उनमें से कोई यह नहीं कहता था, "चलो पेरिस चलें" क्योंकि उस समय पेरिस था ही नहीं। "चलो रेल में बैठें" भी कोई नहीं कहता था, क्योंकि उस समय रेलें भी नहीं थीं। पैदल चलते रहते थे और जब कोई उपयोगी या रोचक वस्तु मिल जाती थी, तो रुक जाते थे। जैसे, कोई जंगल मिल जाए जहां से लकड़ी इकट्ठी की जा सकती है या कोई मैदान रास्ते में आ जाए जहां से चारा मिल सकता है। बच्चे भी ऐसे ही होते हैं। उनकी स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी है कि वे इधर-उधर घूमें, नई-नई चीजें खोजें, और यही उनकी शिक्षा का एक अंग भी है। शिक्षक की दृष्टि से पैदल घूमने वाला बच्चा एक अन्वेषक है। आजकल स्कूल के कार्य से राहत दिलाने के लिए बच्चों को बाहर घुमाने ले जाते हैं, जहां वे नई चीजें देखें और खोजें। परंतु इसे शिक्षा का एक नियमित अंग बनाना चाहिए और बहुत छोटी आयु से बच्चों को बाहर ले जाना चाहिए। सब बच्चों को इसी ढंग से घूमने का मौका मिलना चाहिए जिससे वे अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकें। ऐसी दशा में, बाहर जाने के लिए तैयार करने में, स्कूल उनकी सहायता कर सकता है। जैसे वह कक्षा में उन्हें सब रंगों के नाम बताए, पत्तियों के विभिन्न आकार बताए, कीड़ों, चिड़ियों और अन्य जानवरों की आदतों के बारे में बताए आदि। इनसे अनेक क्षेत्रों में रुचि जाग्रत होती है। बच्चों को जितनी बातें मालूम होंगी, उतना ही वे देखेंगे और उतनी ही दूर चलेंगे। खोजने के लिए बौद्धिक रुचि होनी चाहिए और यह जानकारी देने का काम हमारा है।

पैदल चलना एक संपूर्ण कसरत है। इसके साथ अतिरिक्त मेहनत की जरूरत नहीं है। जो आदमी पैदल चलता है, उसका स्वास्थ्य हर प्रकार से अच्छा रहता है, जिसे प्राप्त करने के लिए हम खेलकूद द्वारा प्रयास करते हैं। यह ऐसी कसरत है जो शरीर को सुंदर बनाती है। यदि रास्ते में संग्रहण के लिए कोई रोचक वस्तु मिल जाए, कूदने के लिए कोई गड्ढा मिल जाए, या हम आग जलाने के लिए लकड़ी इकट्ठी कर लें, तो इन सब क्रियाओं में शरीर को झुकाने, और हाथ को बढ़ाने से आदर्श कसरत हो जाती है। धीरे-धीरे, जैसे-जैसे व्यक्ति का ज्ञान बढ़ता है, उसकी बौद्धिक रुचि और व्यापक होती है, और साथ ही साथ उसके शरीर की गतिविधियां बढ़ती हैं। शिक्षा को विकास के मार्ग पर ही चलना चाहिए और पैदल चल कर सुख का क्षेत्र बढाना चाहिए। इस तरह बच्चे का जीवन उत्तरोत्तर समृद्ध

होता जाएगा।

पैदल चलने को शिक्षा का अंग बनाना आजकल विशेष महत्व रखता है, क्योंकि लोगों ने अब चलना कम कर दिया है और विभिन्न प्रकार के वाहनों का उपयोग करने लगे हैं। जीवन को दो भागों में विभक्त कर देना अच्छी बात नहीं है; अर्थात मस्तिष्क का उपयोग किताबें पढ़ने में, और हाथ-पांव का उपयोग खेलकूद में करना। जीवन को एक इकाई के रूप में होना चाहिए, विशेषकर बचपन में, जब बच्चा अपने विकास के नियमों के अनुसार अपना निर्माण करता है।

अध्याय सोलह

अचेतन से चेतन की ओर

अभी तक हम बच्चे के विकास के उस काल पर विचार कर रहे थे, जिसका जीवन हमें, उसकी भ्रूणावस्था के जीवन से बड़ी मात्रा में मिलता-जुलता लगता है। इस प्रकार का विकास तीन वर्ष तक होता है और इस रचनात्मक काल में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। फिर भी यह जीवन का वह काल है जिसकी कोई याद नहीं रहती। ऐसा लगता है मानो प्रकृति ने कोई विभाजन रेखा बना रखी है। इसकी एक ओर वे घटनाएं हैं, जो हमें याद नहीं रहतीं, और दूसरी ओर याददाश्त का आरंभ है। जिस भाग को हम भूल जाते हैं, उसे हमने मानसिक भ्रूणावस्था कहां है, अर्थात वह अवस्था जिसकी तुलना गर्भावस्था के भ्रूण से की जा सकती है, जिसकी किसी को याद नहीं रहती।

इस मानसिक भ्रूणावस्था में कई क्षमताएं अलग-अलग और स्वतंत्र रूप से विकसित होती हैं जैसे भाषा, हाथ की क्रियाएं, और पांव की क्रियाएं। कुछ इंद्रियों की क्षमताएं भी विकसित होती हैं। इसी से हमें जन्म पूर्व की अवस्था याद आती है जब शरीर के अलग-अलग अंग स्वतंत्र रूप से विकसित होते हैं और उनका एक दूसरे से कोई वास्ता नहीं होता। मानसिक भ्रूणावस्था में हम देखते हैं कि मानसिक क्षमताएं अलग-अलग विकसित होती हैं। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हमें इस अवस्था की कोई याद नहीं रहती, क्योंकि इस समय तक व्यक्तित्व की एकता स्थापित नहीं हो पाती है। यह एकता तभी आ सकती है जब सब अंग पूर्ण विकसित हो जाएं।

अतः तीन वर्ष की अवस्था में लगता: है कि जीवन फिर से आरंभ हो रहा है, क्योंकि इस समय एक नई चेतना का उदय होता है। इन दो अवस्थाओं के बीच में—एक अचेतन अवस्था, और दूसरी उसके बाद की सचेत विकास की अवस्था—एक स्पष्ट अंकित सीमा रेखा है। पहली अवस्था में सचेत स्मृति की कोई संभावना नहीं है। चेतना आने के बाद ही हमारे व्यक्तित्व में एकत्व आता है। और उसके बाद स्मृति की क्षमता आती है।

तीन वर्ष की आयु के पहले, क्रियाओं की संरचना होती है। तीन वर्ष के बाद, उनका विकास होता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच की सीमा रेखा हमें ग्रीस की पौराणिक कथा "भूलने वाली लीथी नदी" की याद दिलाती है। हमें तीन वर्ष की आयु के पहले की घटनाओं को याद करने में बहुत कठिनाई होती है, विशेषकर दो वर्ष से पहले की घटनाओं को। मनोविश्लेषक, हर संभव तरीके से मस्तिष्क को पुरानी यादें दिलाने की कोशिश करते हैं,

पर वे कभी तीन वर्ष से कम आयु की याद नहीं दिला सके। यह स्थिति भी कितनी नाटकीय है। जो व्यक्ति शून्य से आरंभ होकर इस संसार में प्रवेश करता है, उसे स्वयं उस समय के बारे में कुछ नहीं मालूम जब वह इस संसार में आया था।

यह जीव, जो अचेतन रूप से अपनी रचना करता है, मानव स्मृति से लुप्त हो गया है। अब जो तीन वर्ष का बच्चा हमारे सामने आता है, उसे समझना हमारे लिए असंभव है। जो बंधन हमें उससे जोड़े हुए थे, उन्हें प्रकृति ने नष्ट कर दिया है। इसीलिए इस बात का बहुत खतरा रहता है कि प्रकृति जो करना चाहती है, उसका हम वयस्क विरोध करें। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपने जीवन की पहली अवस्था में बच्चा पूर्णतया हम पर निर्भर रहता है। वह अपने आप अपना काम नहीं कर सकता। यदि हम वयस्कों को—स्वभावतः या विज्ञान द्वारा—इसकी जानकारी न हो कि बच्चे का मस्तिष्क कैसे विकसित होता है, तो यह संभव है कि हम उसकी प्रगति में सबसे बड़े बाधक बन जाएं।

परंतु इस अवस्था के अंत तक, बच्चा ऐसी क्षमताएं अर्जित कर लेता है, जिनकी सहायता से वह अपनी रक्षा कर सकता है। यदि उसे वयस्क का आचरण अत्याचारी लगे, तो वह शब्दों से विरोध प्रकट कर सकता है। बच्चों का वास्तविक उद्देश्य अपनी रक्षा करना नहीं है। वह अपने परिवेश पर अधिकार चाहता है, जिससे वह उसके माध्यम से अपना विकास कर सके। और उसे विकास किस चीज का करना है ? उसे उन सब क्षमताओं का विकास करना है जिनकी वह अब तक रचना कर रहा था। अतः तीन से छह वर्ष तक की आयु में सही अर्थ में उसका सृजनात्मक काल आरंभ होता है, क्योंकि अब वह अपने परिवेश का सामना कर सकता है।

इसके पहले वह जिन छिपी हुई क्षमताओं की रचना कर रहा था, वे अब प्रकट होती हैं, क्योंकि उसे अब अपने परिवेश में सचेत अनुभव प्राप्त करने के अवसर मिलते हैं। ये अनुभव केवल खेलकूद या निरुद्देश्य गतिविधियां नहीं हैं, वरन वे कार्य हैं जो उसे बड़ा होने के लिए करने होते हैं। उसके हाथ, बुद्धि के निर्देशन में कार्य करना आरंभ करते हैं, जो निश्चित रूप से मानवीय होते हैं।

बच्चा, प्रथम अवस्था में चिंतनशील जीव के समान था। वह निष्क्रिय भावना से संसार की ओर ताकता हुआ प्रतीत होता था और उसकी सहायता से अपने मस्तिष्क की रचना कर रहा था। अब इस नई अवस्था में वह अपनी इच्छा-शक्ति को प्रयोग में लाता है। पहले ऐसा प्रतीत होता था कि उसके अंदर छिपी हुई आंतरिक शक्ति उसका संचालन करती है। अब वह चैतन्य होकर स्वयं अपना संचालन करता है। हम देखते हैं कि उसके हाथ सदा व्यस्त रहते हैं। ऐसा लगता है मानो बच्चों ने एक अचेतन बुद्धि से संसार का अवशोषण कर लिया है। अब वह उस पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

इस समय एक दूसरे प्रकार का विकास शुरू होता है—वह है अर्जित क्षमताओं में दक्षता प्राप्त करना। इसका एक स्पष्ट उदाहरण भाषा है, क्योंकि उसका स्वाभाविक विकास लगभग पांच वर्ष की आयु तक होता रहता है। जब बच्चा ढाई वर्ष का था, तभी उसे भाषा की

पूर्ण क्षमता प्राप्त हो गई थी। वह शब्दों का ही नहीं, व्याकरण संगत वाक्यों का भी प्रयोग कर सकता था। परंतु अभी भी उसमें भाषा के प्रति विशेष ग्रहणशीलता बनी रहती है (जिसे हमने भाषा के प्रति संवेदनशीलता का काल कहा है), जो बच्चे को भाषा की ध्वनियां अति सूक्ष्मता से ग्रहण करने के लिए तथा भाषा के नए शब्दों को जानने के लिए प्रेरित करती है।

अतः इस अवस्था में हम दो प्रवृत्तियां देखते हैं। एक है, परिवेश में गतिविधियों द्वारा अपनी चेतना में विस्तार करना, और दूसरी, जो क्षमताएं प्राप्त हो गई हैं। उनमें दक्षता प्राप्त करना। अतः हम देखते हैं कि तीन से छह वर्ष तक का काल, गतिविधियों द्वारा रचनात्मक निपुणता प्राप्त करने का है।

मस्तिष्क की निरंतर अवशोषण की शक्ति अभी भी बनी रहती है, परंतु अब क्रियात्मक अनुभव अवशोषण में सहायता करते हैं और उसे समृद्ध बनाते हैं। अब केवल इंद्रियों द्वारा ही अवशोषण नहीं होता, वरन हाथ भी उसमें भाग लेते हैं। हाथ अब मस्तिष्क के "परिग्राही अंग" बन जाते हैं। पहले, गोदी का बच्चा, केवल आंखों द्वारा परिवेश को ग्रहण करता था। अब वह हर चीज को छूकर देखना चाहता है और प्रत्येक अनुभव को समझ कर प्राप्त करना चाहता है। वह निरंतर व्यस्त रहता है, और अपने हाथों से कुछ न कुछ करते रहने में प्रसन्न रहता है। अब केवल जीवित रहने से ही बुद्धि का विकास नहीं होता। उसे अब अनेक चीजें चाहिए जो उसे क्रिया की ओर प्रेरित करें क्योंकि इस काल में अभी मानसिक विकास और होता है।

इस अवस्था को "खेलकूद का स्वर्ण युग" कहते हैं। सभी इससे परिचित हैं, परंतु उस पर वैज्ञानिक अध्ययन अभी कुछ समय पहले से ही आरंभ हुआ है।

यूरोप और अमेरिका में सभ्यता का इतना द्रुतगति से विकास हो रहा है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच की दरार बढ़ती जाती है। वहां के लोग, बड़ी मात्रा में खिलौने देकर, बच्चों की खेलने की जरूरत को पूरा करने की कोशिश करते हैं। पर बच्चों की वास्तविक जरूरत दूसरी होती है। इस आयु में बच्चा सब जीचों को अपने हाथ से छूना और पकड़ना चाहता है। परंतु उसके सामने ऐसी चीजें बहुत कम रखी जाती हैं। जिन चीजों को वह देख सकता है, उन्हें छूने से मना कर दिया जाता है। बस एक पदार्थ ऐसा है जिससे बच्चा मन-माफिक खेल सकता है—वह है बालू। अब समस्त विश्व में बच्चों को बालू से खेलने दिया जाता है। पानी से खेलने की यदाकदा इजाजत मिलती है क्योंकि बच्चा गीला हो जाता है और बालू के साथ पानी मिल जाने से बहुत गंदगी हो जाती है। बड़ों को वह गंदगी साफ करना अच्छा नहीं लगता।

परंतु जिन देशों में खिलौने इतने अधिक नहीं बनते, वहां बच्चों की रुचि भिन्न होती है। वे बच्चे अधिक शांत और, अधिक समझदार होते हैं तथा प्रसन्न भी अधिक रहते हैं। वे अपने चारों ओर की गतिविधियों में भाग लेना चाहते हैं। वे बड़ों की सब चीजें उपयोग करना चाहते हैं। यदि मां कपड़े धोती है, या रोटी सेंकती है, तो बच्चा भी उसमें सहयोग

देता है। यद्यपि बच्चा अनुकरण करता है पर यह अनुकरण उसकी पसंद और बुद्धि के अनुसार होता है और इसके द्वारा बच्चा संसार में अपनी भूमिका के लिए तैयार होता है। निस्संदेह बच्चे के सब कार्य उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। उसका लक्ष्य आत्मविकास है। अपने स्कूलों में हम बच्चों को वे सब जरूरत की चीजें देते हैं जिनके द्वारा वे उन सब कार्यों का अनुकरण कर सकें जो वे अपने घर में या अपने देश में देखते हैं। हम उनके लिए विशेष रूप से, उनके आकार और शक्ति के अनुरूप, छोटे आकार के उपकरण बनवाते हैं। उनके लिए एक अलग कमरा रहता है जहां वे अपनी इच्छानुसार घूमें, बातें करें और बौद्धिक तथा रचनात्मक कार्य करें।

आजकल ये सब बातें हमें सुस्पष्ट मालूम देती हैं पर जब मैंने ये विचार सर्वप्रथम प्रतिपादित किए थे तो सब लोग बहुत चकित हुए थे। जब मैंने अपने सहयोगियों के साथ, तीन से छह वर्ष तक के बच्चों के लिए ऐसी जगह तैयार की, जहां उन्हीं के आकार का सब सामान था, जिसमें वे अपने घर की तरह रह सकते थे, तो सभी ने बड़ा आश्चर्य किया। वहां छोटी-छोटी कुर्सी, मेजें थीं, खाने की छोटी तश्तरियां और प्यालियां थीं, जिन्हें बच्चे स्वयं धो सकते थे। वे स्वयं अपने खाने की मेज लगाते थे, झाड़ू-पोंछा करते थे, और अपने कपड़े अपने आप पहनना सीखते थे। सभी ने शिक्षा के क्षेत्र में इस नवीन विचार का स्वागत किया।

उसके बाद इन बच्चों में ऐसी प्रवृत्तियां और इच्छाएं जाग्रत हुईं, जिनकी हमें आशा नहीं थी। बच्चों ने स्वयं यह प्रदर्शित किया कि वे गुड़ियों की अपेक्षा बच्चों की संगति, और खिलौनों की अपेक्षा वास्तविक जीवन के उपकरण अधिक पसंद करते हैं।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री, प्रोफेसर जॉन ड्यूई बताते हैं, कि उनका ख्याल था कि न्यूयार्क में, जो अमेरिका के जीवन का केंद्र है—बच्चों के लिए छोटे आकार के उपकरण बाजार में मिल सकेंगे। अतः वे न्यूयार्क के बाजारों में छोटी झाड़ू, छोटे स्टूल, खाने की तश्तरियां आदि ढूंढते रहे, परंतु उन्हें कहीं ऐसी चीज नहीं मिली। किसी को ऐसी चीज बनाने का विचार ही नहीं आया था। वहां पर हर प्रकार के अनेक खिलौने अवश्य उपलब्ध थे। उन्होंने आश्चर्य से कहा, "क्या हम बच्चों को भूल गए थे ?"

अफसोस है कि और भी कई अन्य बातों में बच्चों को भुला दिया गया है। बच्चा ऐसे संसार में रहता है जहां और सब के लिए सब चीजें हैं, पर उसके लिए कुछ नहीं है। ऐसे रिक्त संसार में वह बिना उद्देश्य के भटकता है और किसी न किसी शैतानी में फंस जाता है। अपने जोश को शांत करने के लिए वह खिलौने तोड़ता है। बड़े लोग इस बात को बिलकुल नहीं समझते कि उसकी वास्तविक जरूरत क्या है।

हम लोगों ने अपने स्कूल में इन बाधाओं को हटा दिया है और बच्चे को वास्तविक संसार की वास्तविक वस्तुएं उपलब्ध कराई हैं। हमारी आशा थी कि बच्चे इनका प्रयोग करके बहुत खुश होंगे। परंतु हमने जो देखा, वह इससे बहुत अधिक था। बच्चे का सारा व्यक्तित्व ही बदल गया और इसका पहला संकेत यही था, कि वह अब स्वतंत्रता की मांग कर रहा है। मानो वह कह रहा हो, "मैं सब काम अपने आप करना चाहता हूं। कृपया

आप मेरी सहायता न करें।"

वह तुरंत ही ऐसा व्यक्ति बन गया जो आत्मनिर्भर होना चाहता है और सब प्रकार की सहायता को दुत्कार देता है। कौन जानता था कि बच्चे की ऐसी प्रतिक्रिया होगी, और वयस्कों की भूमिका अब केवल दर्शक मात्र की रह जाएगी। बच्चे को जैसे ही अपने आकार के संसार में रखा गया, वैसे ही उसने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। सामाजिक जीवन और चरित्र का विकास उसके बाद स्वतः प्रारंभ होता है।

अतः इससे बच्चे को न केवल सुख मिला, वरन उसने मानव-निर्माण का कार्य भी कर दिया। शिक्षा का लक्ष्य केवल सुख की प्राप्ति नहीं है। व्यक्ति की क्षमताएं और चरित्र स्वतंत्र होने चाहिए, उसमें कार्य करने की क्षमता, और अपने कार्यों में निपुणता होनी चाहिए। बच्चे में जब चेतना जाग्रत हो गई और बच्चे का संचालन करने लगी, तब बचपन का यही रूप हमारे सामने उद्घाटित हुआ।

अध्याय सत्रह

कल्पना और संस्कृति पर कुछ विचार

स्वाभाविक क्रियाकलाप

इस आयु के बच्चों का स्वभाव उन्हें संसार में अनुभव प्राप्त करने को प्रेरित करता है। इसके लिए वे हाथों का उपयोग करते हैं। यह उपयोग वे व्यावहारिक कार्यों के अतिरिक्त, ज्ञान अर्जित करने के लिए भी करते हैं। बच्चों के लिए जो नया परिवेश हमने उपलब्ध कराया है, उसमें उन्हें स्वतंत्र छोड़ देने से हमें उनकी प्रकृति और क्षमताओं की ऐसी जानकारी मिलती है, जिसकी हमें कल्पना नहीं थी। वे अधिक प्रसन्न दिखाई देते हैं और काम में उनकी इतनी अधिक रुचि होती है कि वे बिना थके हुए, बहुत देर तक काम कर सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके दिमाग प्रस्फुटित होने लगते हैं और उनमें ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता दिखाई देती है।

इसी तथ्य के फलस्वरूप बच्चों में लिखने की प्रबल प्रवृत्ति दिखी थी, अर्थात 'लेखन का विस्फोट' प्रकट हुआ था। परंतु लेखन के इस विस्फोट में केवल धुआं मात्र था। असली विस्फोट बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व में होता है। जैसे ज्वालामुखी पहाड़ होते हैं जिनके अंदर आग सुलगती रहती है। बाहर से वे ठोस और अपरिवर्तनशील दिखाई देते हैं। परंतु एक दिन विस्फोट होता है और उन भारी ठोस चट्टानों के अंदर से आग फूट कर बाहर निकल आती है। उस आग की लपटों और धुएं को देख कर, तथा अंदर से निकलने वाले अपरिचित ठोस पदार्थों को देख कर, विशेषज्ञ यह पता लगा लेते हैं कि पृथ्वी के अंदर क्या है।

इन बच्चों ने जैसे ही अपने आप को वास्तविक जीवन के वातावरण में पाया, जिसमें उन्हीं के आकार के उपकरण थे जिनका वे प्रयोग कर सकते थे, तो उनके अंदर अप्रत्याशित गतिविधियां आरंभ होने लगीं जो सुस्पष्ट थीं और आश्चर्यजनक भी। हमारा प्रयत्न था कि उनका अध्ययन करें और उनका अर्थ समझें, जिससे इसी प्रकार की अन्य गतिविधियां प्रकाश में आएं। इन्हीं के लिए यह शिक्षा प्रणाली हमने विकसित की थी।

परंतु किसी शिक्षा प्रणाली के कारण ये घटनाएं नहीं हुई थीं। इसके विपरीत, इन घटनाओं ने हमारा मार्गदर्शन किया और हमें सिखाया कि बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसका आरंभ तो तब हुआ जब हमने बच्चों को जीवन की संतोषजनक परिस्थितियां प्रदान करने का प्रयत्न किया, जिससे उनके विकास में कोई बाधा न आए। हमने उनके

लिए अनेक प्रकार के क्रियाकलापों की व्यवस्था की, और वे अपनी इच्छानुसार कोई भी क्रिया कर सकते थे। अतः यह सच था कि हमने बच्चों के मनोविज्ञान में एक नई खोज की थी। उसी समय पियरी अपने उत्तरी ध्रुव के अभियान से लौट कर आया था और उसने हमारे कार्य को, "मानव आत्मा की खोज" कहा था। उसके विचार से शिक्षा प्रणाली की अपेक्षा "मानव आत्मा की खोज" कहने से हमारे काम का स्वरूप अधिक समझ में आता है।

शुरू से ही तथ्यों के दो वर्ग स्पष्टतः सामने आ रहे थे। एक तो यह कि हम जितना सामान्यतः सोचते हैं, बच्चा उससे बहुत कम आयु में संस्कृति को ग्रहण कर सकता है, परंतु वह विशेष प्रकार की क्रियात्मक गतिविधियों से ही यह ज्ञान ग्रहण करता है। इस आयु में बच्चा क्रिया द्वारा ही सीखता है। उससे अपने विकास के लिए, कुछ कार्य करना जरूरी होता है। अब चूंकि हमें मालूम है कि तीन से पांच वर्ष की अवस्था में उसकी ग्रहणशीलता कितनी अधिक होती है, अतः इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता।

तथ्यों के दूसरे वर्ग का संबंध चरित्र-निर्माण से है, परंतु उस पर मैं आगे के अध्याय में चर्चा करूंगी। यहां मैं केवल प्रथम वर्ग पर ही बातें करूंगी—अर्थात स्वाभाविक क्रिया द्वारा संस्कृति ग्रहण करना।

बच्चे उन चीजों में विशेष रुचि लेते हैं, जिनसे वे पहली अवस्था में परिचित (अवशोषण द्वारा) हो चुके हों। इन पर वे अपना ध्यान सरलता से केंद्रित कर सकते हैं। उदाहरणतः बच्चे की लेखन की ओर प्रबल प्रवृत्ति का निकट संबंध उसकी भाषा के प्रति विशेष संवेदनशीलता से है, और यह भाषा उसे तभी प्राप्त हो गई थी जब उसने बोलना शुरू किया था। साढ़े पांच या छह वर्ष की अवस्था तक यह संवेदनशीलता समाप्त हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस आयु के पहले ही लिखना सीखने से, उसमें आनंद और उत्साह मिलता है। जिन बच्चों की आयु इससे अधिक हो चुकी है, उन्होंने वह विशेष अवसर खो दिया है, जो प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया था, जिसमें वे विशेष सचेत प्रयास, और इच्छा-शक्ति का प्रयोग किए बिना लिखना सीख सकते थे।

फिर भी, हम अन्य अनुभवों से जानते हैं कि यह सरलता से लिखना केवल संवेदनशील अवस्था के प्रयोग से नहीं आता है। यह बहुत कुछ बच्चे की तैयारी पर निर्भर करता है, जो वह और भी पहले शुरू कर देता है जब वह अपने हाथों से हमारे उपकरणों का प्रयोग करके अपनी अनुभूति की क्षमता का अभ्यास करता है। इसी कारण से हमने अपनी प्रणाली में एक नया सिद्धांत अपनाया है—"अप्रत्यक्ष तैयारी" करने का सिद्धांत।

प्रकृति स्वयं इस सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है। भ्रूण में भी व्यक्ति की आवश्यकताओं का पूर्व अनुमान करके, उसके अंगों का निर्माण करती है और तंत्र तैयार हो जाने के बाद ही उन्हें कार्य करने को देती है।

तात्पर्य यह है कि बच्चे ने प्रथम अवस्था में जिन आंतरिक क्षमताओं का निर्माण किया था, वह दूसरी अवस्था में, उन्हीं में विकास करने का प्रयत्न करता है। अतः हमारे अनुसार,

वह आगे विकास के लिए वही मार्ग अपनाएगा जो उसने प्रथम अवस्था में अपनाया था। उदाहरणार्थ हमने देखा कि बच्चा जिन क्रमिक अवस्थाओं से बोलना सीखता है, वे पूर्णतः वही अवस्थाएं हैं जो व्याकरण की पुस्तक में दी गई हैं। वह क्रमानुसार ध्वनि, अक्षर, संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण, उपसर्ग, प्रत्यय आदि बोलता है। अतः हम जानते हैं कि हम द्वितीय अवस्था में उसकी तभी सहायता कर सकते हैं यदि हम इसी क्रम से उसे भाषा सिखाएं। जी हां, हम उसे शुरू से व्याकरण सिखाएंगे। आजकल के विचारों के अनुसार ये बेतुकी बातें हैं कि हम व्याकरण से भाषा सिखाना प्रारंभ करें, और यह कि बच्चा लिखना, पढ़ना सीखने के पहले व्याकरण सीख सकता है।

परंतु हम जरा ध्यान से सोचें। अर्थपूर्ण बातचीत का क्या आधार है ? क्या यह व्याकरण नहीं है ? जब भी हम (और बच्चे) बात करते हैं, तो हम व्याकरण के अनुसार भाषा बोलते हैं। अतः चार वर्ष का बच्चा जब अपनी भाषा के तंत्र का विकास करता है, तथा अपनी शब्दावली बढ़ाता है, तो उस समय उसे व्याकरण सिखाने से, हम उसके कार्य के अनुकूल ही परिस्थिति स्थापित करते हैं। अनुभव हमें बताता है कि छोटे बच्चे व्याकरण में बहुत रुचि लेते हैं और यही उचित समय है जब उनका व्याकरण से संपर्क कराया जाए। प्रथम अवस्था में (जन्म से तीन वर्ष तक) बच्चा व्याकरण को अचेतन रूप से ग्रहण करता है। अब दूसरी अवस्था में वह सचेत प्रयास से उसमें दक्षता प्राप्त करता है। एक बात और हम इस अवस्था में देखते हैं, वह यह, कि बच्चा इस आयु में बहुत से नए शब्द सीखता है। वह शब्दों के लिए विशेष रूप से संवेदनशील होता है। शब्दों में उसकी रुचि होती है और वह स्वतः बड़ी संख्या में शब्दों को ग्रहण कर लेता है।

इस पर कई प्रयोग किए जा चुके हैं और उनसे यह निश्चित पता चलता है कि इस आयु में, शब्दावली का विस्तार, सबसे अधिक होता है। ऐसा लगता है मानो बच्चे को नए शब्दों के लिए बड़ी लालसा रहती है। यदि हम उसकी सहायता न करें, तो वह अपने प्रयत्न से, इधर-उधर से, शब्दों को प्राप्त करेगा। अतः हम उसकी सुविधा के लिए, उसके काम में आने वाले शब्दों को एकत्र करके, सुव्यवस्थित रूप में उसे प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रसंग में, हमने अपनी कार्यविधि में एक और तरीका स्थायी रूप से अपना लिया है। शुरू की अवस्था में जिन अध्यापिकाओं ने मुझे सहयोग दिया था, उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी। उन्होंने बच्चों के पढ़ने के लिए कई शब्द लिखे। प्रत्येक शब्द एक अलग कार्ड पर लिखा गया था। कुछ ही समय बाद, वे मेरे पास आकर कहने लगीं कि कपड़ों से संबंधित और घर की चीजों से संबंधित शब्द, सड़कों, पेड़ों आदि के नाम सब समाप्त हो गए हैं, पर बच्चे अभी और शब्द सीखना चाहते हैं। मैंने उच्च शिक्षा से संबंधित शब्दों को लेना शुरू किया; बीजगणित की आकृतियों के नाम, जिनका बच्चे, हमारे उपकरणों में प्रयोग करते हैं--जैसे बहुभुज, चतुर्भुज, विविध प्रकार के त्रिकोण आदि : बच्चों ने उन्हें भी सीख लिया। फिर हमने वैज्ञानिक उपकरणों के नाम लिखने शुरू किए--थर्मामीटर, बैरोमीटर आदि। उसके बाद वनस्पति विज्ञान में से शब्दों को लिया--पंखुड़ी, पुंकेसर, गर्भ केसर, आदि। बच्चों ने

उन्हें भी उत्साहपूर्वक सीख लिया तथा और शब्दों की मांग की। जब ये अध्यापिकाएं बच्चों को बाहर घुमाने ले जाती थीं तो इन्हें यह बात बहुत अखरती थी कि बच्चे इन्हें सब प्रकार की मोटरों के नाम बताते थे जिनसे वे स्वयं अनजान थीं।

इस आयु के बच्चों में नए शब्दों को सीखने की लालसा कभी तृप्त नहीं होती। और उनमें सीखने की सामर्थ्य भी अपार होती है। परंतु इसके बाद की अवस्था में यह बात नहीं रहती। उस समय नई क्षमताओं का उदय होता है और बच्चा नए शब्द कहीं अधिक कठिनता से सीख पाता है। हमने देखा कि जो बच्चे इन शब्दों को पहले ही, कम आयु में, सीख चुके थे, वे आठ या नौ वर्ष के होने पर सामान्य स्कूलों में जाते हैं, तो इन शब्दों को याद रखते हैं और उनका धाराप्रवाह प्रयोग करते हैं। यदि आठ या नौ वर्ष के बच्चों को ये शब्द पहली बार सिखाए जाएं, तो वे उतनी अच्छी तरह नहीं सीख पाते। अतः हमें इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि बच्चों को वैज्ञानिक शब्दावली सिखाने का सबसे अच्छा समय तीन से छह वर्ष का है। ये शब्द यंत्रवत न सिखाए जाएं वरन उन शब्दों से संबंधित वस्तुओं के साथ सिखाए जाएं, और घूमते समय खोज के दौरान सिखाए जाएं जिससे उनकी शब्दावली का विस्तार उनके अनुभवों के साथ-साथ हो। उदाहरणतः हम उन्हें वास्तव में फूल या पत्ती के विभिन्न अंगों को दिखाते हैं। या उन्हें पृथ्वी के नक्शे में भौगोलिक इकाइयां दिखाते हैं जैसे, अंतरीप (केप), खाड़ी (बे), द्वीप आदि। यदि बच्चों के पास ठीक नमूने या चित्र हों, तो उन्हें सीखने में सरलता होती है, परंतु शिक्षकों को बहुधा शब्द स्वयं मालूम नहीं होते या उन्हें याद नहीं रहते, और वे गड़बड़ कर देते हैं।

कोडाईकेनाल में मैंने देखा कि सामान्य स्कूलों के चौदह वर्षीय लड़कों को फूल के विभिन्न अंगों के नाम बताने में कठिनाई हो रही है। एक तीन वर्ष का बच्चा आकर वे नाम बता गया।

एक बार कक्षा में हम, पौधों की जड़ों का वर्गीकरण, जो पाठ्य पुस्तकों में दिया गया था, सिखा रहे थे। दीवाल पर टंगे चित्रों से हम उसे समझा रहे थे। एक छोटे बच्चे ने आकर हमसे पूछा कि ये चित्र किस चीज के हैं। हमने उन्हें बता दिया। कुछ समय बाद हमने देखा कि बगीचे में कई पौधे उखड़े हुए हैं। छोटे बच्चों को हमारी बातें इतनी आकर्षक लगी थीं, कि वे पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़ें देखना चाहते थे। हमने सोचा कि उचित यही है कि इन बच्चों को भी इसके बारे में जानकारी दे दें। परंतु इसका परिणाम यह हुआ कि उनके मां-बाप हमारे पास विरोध प्रकट करने आए। उनका कहना था कि बच्चों ने घर पहुंचते ही बगीचे के सब पौधों को उखाड़ दिया। वे उनकी जड़ें देखना चाहते थे कि वे किस प्रकार की हैं।

कल्पना

बच्चा जो देखता है, क्या वही उसके मानसिक ज्ञान की सीमा है ? नहीं। उसके मस्तिष्क

की यह खूबी है कि वह प्रत्यक्ष से भी परे की सोच सकता है। उसके पास कल्पना की अपार क्षमता है।

जो चीजें प्रत्यक्ष उपस्थित न हों, उनकी कल्पना करना एक उच्च कोटि की मानसिक क्षमता है। यदि व्यक्ति के मस्तिष्क में केवल वही चीजें रहतीं जो वह वास्तव में देखता है, तो उसका दृष्टिकोण बहुत ही नीरस होता। हम केवल अपनी आंखों से ही नहीं देखते हैं। संस्कृति का आधार केवल वही नहीं है जो हमें अपनी आंखों से दिखाई देता है। जैसे, संसार के बारे में अपने ज्ञान को ही लीजिए। चाहे हमें आंखों के सामने झीलें और बर्फ नहीं दिखाई दें, फिर भी हम उन्हें अपने मस्तिष्क की आंखों से देख सकते हैं। एक विशेष प्रकार की मानसिक क्षमता के कारण यह हमारे लिए संभव होता है।

बच्चे किस सीमा तक कल्पना कर सकते हैं ? चूंकि हमें इसका उत्तर मालूम नहीं था, अतः हमने छह वर्ष के बच्चों पर अपना प्रयोग प्रारंभ किया। हमने छोटी भौगोलिक इकाइयां नहीं दिखाईं (जैसे नदी, खाड़ी, द्वीप आदि), वरन पूरा संसार एक साथ दिखाया, अर्थात हमने उन्हें पृथ्वी का ग्लोब दिखाया जिसमें भूमि और पानी अंकित थे।

बच्चों को अपने परिवेश में, इंद्रियों द्वारा, पृथ्वी का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि बच्चा उसके बारे में कुछ समझ सका है, तो यह कल्पना शक्ति के कारण ही संभव हुआ है। हमने बच्चों को एक छोटा ग्लोब दिया जिसमें समुद्र की जगह चिकनी थी और उसका गहरा नीला रंग था। भूमि की जगह छूने पर खुरदरी लगती थी। ग्लोब में कोई नाम या स्थान अंकित नहीं था पर बच्चों ने देखते ही कहना शुरू किया :

"यह जमीन है।"
"यह समुद्र है।"
"देखो, यह अमेरिका है।"
"यह भारत है आदि।"

उन्हें ग्लोब इतना अच्छा लगा कि वह कमरे की सबसे प्रिय वस्तु बन गया। तीन और छह वर्ष के बीच में, बच्चा अपनी बुद्धि से, चीजों के आपस में संबंध समझने लगता है। उसमें उन चीजों की कल्पना करने की उच्चतर क्षमता होती है, जिसे उसने प्रत्यक्ष नहीं देखा है। बच्चों के मनोविज्ञान में कल्पना का हमेशा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। समस्त संसार में लोग अपने बच्चों को परियों की कहानियां सुनाते हैं, जिनमें बच्चे बहुत रस लेते हैं, मानो बच्चे अपनी इस महान देन का प्रयोग करना चाहते हों। यदि इसे सब मानते हैं कि बच्चों को कल्पना में बहुत आनंद आता है, तो वे उन्हें कल्पना के प्रयोग के लिए केवल परियों की कहानियां और खिलौने ही क्यों देते हैं ? यदि बच्चा परी और परीदेश की कल्पना कर सकता है, तो अमेरिका की कल्पना करना उसके लिए बहुत कठिन नहीं होगा। दूसरों की बातचीत के द्वारा उसके बारे में अस्पष्ट रूप से जानने की अपेक्षा, यदि वह ग्लोब में उसे देखे तो उसके विचार स्पष्ट हो जाएंगे। हम बहुधा यह भूल जाते हैं कि कल्पना शक्ति से सच्चाई

का पता चल सकता है। मस्तिष्क निष्क्रिय नहीं है, वरन क्रियाशील रहता है।

छह वर्ष के कुछ बच्चे ग्लोब के चारों ओर खड़े हुए उस पर चर्चा कर रहे थे। एक साढ़े तीन वर्ष का लड़का उन्हें हटाते हुए आगे आया और कहने लगा :

"मुझे भी देखने दो। क्या यही दुनिया है ?"
"हां" उन्होंने थोड़े आश्चर्य से उत्तर दिया।

तब छोटा बच्चा बोला, "अब मुझे समझ में आया। मेरे चाचा संसार का तीन बार चक्कर लगा चुके हैं।" फिर भी ऐसा नहीं है कि बच्चा यह न समझा हो, कि ग्लोब एक मॉडल है, क्योंकि वह जानता था कि संसार बहुत बड़ा है। यह उसने दूसरों की बातचीत से सुना होगा।

हमारे स्कूल के साढ़े चार साल के एक अन्य बच्चे ने भी ग्लोब देखना चाहा। वह उसे थोड़ी देर ध्यान से देखता रहा और उसके पास खड़े बड़े बच्चों की बातें सुनता रहा। उसकी उपस्थिति पर ध्यान न देकर, अमेरिका के बारे में बातें कर रहे थे। अचानक उसने बीच में बात काटते हुए पूछा, "न्यूयार्क कहां है ?" दूसरों को, जाहिर है, आश्चर्य हुआ। पर उन्होंने उसे न्यूयार्क दिखा दिया। उसने फिर पूछा, "हॉलैंड कहां है ?" अब तो लड़कों को और भी आश्चर्य हुआ। जब उसको हॉलैंड दिखा दिया गया तो वह बोला, "अच्छा, तो यह समुद्र है।" इस पर सभी उत्सुकता से उससे प्रश्न पूछने लगे। तब उसने कहा, "मेरे पिताजी साल में दो बार अमेरिका जाते हैं, और न्यूयॉर्क में ठहरते हैं। जब वे चले जाते हैं तो मां बहुत दिनों तक कहती है, "पिताजी अब समुद्र पर होंगे।" फिर कुछ दिन बाद वे कहती हैं, "पिताजी न्यूयार्क पहुंच गए होंगे।" फिर थोड़े दिन बाद वे कहती हैं, "अब वे हॉलैंड में आ गए होंगे और हम उनसे मिलने एम्सटर्डम जाएंगे।"

इस बच्चे ने अमेरिका के बारे में इतना सुन रखा था कि जब उसने ग्लोब के पास अमेरिका का नाम सुना, तो वह उसे देखने के लिए रुक गया। उसके चेहरे पर ऐसा भाव था मानो वह कह रहा हो, "मैंने अमेरिका ढूंढ लिया है।"

खयाली दुनिया को सजीव चित्रण द्वारा समझ लेने से बच्चे को बड़ा सुकून मिलता है। अब तक उसने जो भी सुना था, उसे गलत स्वप्न चित्रों द्वारा संजो रखा था, जैसा बच्चे अक्सर करते हैं।

लोग सदा से यही सोचते आए हैं कि कंकड़ों से खेलना और परियों की कहानियों से कल्पना शक्ति को बढ़ाना, इस आयु के बच्चों की यही दो प्राथमिक जरूरतें हैं। ऐसा समझा जाता है कि कंकड़ों से खेलने से बच्चे के मानस, और उसके परिवेश में, सीधा संपर्क स्थापित होता है। बच्चा अपने परिवेश से परिचित होता है और उस पर नियंत्रण पाता है, जिससे उसका मानसिक विकास होता है। परियों की कहानियां, बच्चे की कल्पना शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं, जिसका प्रयोग बच्चा अपने खेल में करता है। जब हम उसके हाथ में ग्लोब जैसी चीज रख देते हैं, जिसके द्वारा वह अपनी कल्पना का प्रयोग कर सकता है, तो निस्संदेह

हम उसकी सहायता करते हैं, क्योंकि इस वस्तु के कारण वह बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है।

इस आयु के बच्चे हर समय हमसे कहते रहते हैं कि हम उन्हें चीजों के बारे में समझाएं। सभी जानते हैं कि वे कितने जिज्ञासु होते हैं और हमें ऐसा लगता है कि हमारे ऊपर प्रश्नों की बौछार हो रही है। पर यदि हम इन प्रश्नों से तंग न हों और इन्हें जिज्ञासु मस्तिष्क की अभिव्यक्ति समझें, तो हमें वे समझदार प्रश्न लगेंगे। इस आयु का बच्चा बहुत लंबे स्पष्टीकरण नहीं समझ सकता और हम अक्सर बहुत विस्तार में चले जाते हैं।

एक छोटे बच्चे ने एक बार अपने पिता से पूछा कि पत्तियां हरी क्यों होती हैं ? पिता ने सोचा कि उनके बच्चे ने ऐसा प्रश्न पूछा है जो संकेत करता है कि बच्चे में उच्चतर बुद्धि है। अतः उन्होंने क्लोरोफिल और सूरज की किरणों पर एक लंबा व्याख्यान दे दिया। बाद में उन्होंने सुना कि बच्चा बड़बड़ा रहा था, "मैं तो बस इतना जानना चाहता था कि पत्तियां हरी क्यों होती हैं। मैंने क्लोरोफिल और सूरज आदि के बारे में तो नहीं पूछा था।"

खेलना, कल्पना करना, और प्रश्न पूछना,—ये इस आयु की विशेषताएं हैं और इसे सब जानते हैं ! परंतु अक्सर इसमें गलतफहमियां हो जाती हैं। कभी-कभी प्रश्न भी कठिन होते हैं।

एक बच्चे ने पूछा, "मां, मैं कहां से आया था ?" उसे इसके बारे में उत्सुकता थी। मां समझदार थी और जानती थी कि एक दिन बच्चा ऐसा प्रश्न पूछेगा। वह इसका इंतजार ही कर रही थी और उसने सोच लिया था कि वह सच्ची बात बता देगी। अतः जैसे ही चार वर्ष के छोटे बच्चे ने अपना सवाल पूछा, उसने उत्तर दिया, "बेटे, मैंने ही तुम्हें बनाया है।"

उत्तर संक्षिप्त था और तत्काल दिया गया था। बच्चा तुरंत शांत हो गया। करीब एक वर्ष बाद मां ने बच्चे से कहा, "अब मैं एक और बच्चा बना रही हूं।" अस्पताल जाते समय वह यह कह कर गई कि वह बच्चे को अपने साथ लेकर लौटेगी।

घर वापस आने पर उसने अपने बड़े लड़के को बच्चा दिखाया और कहा, "यह तुम्हारा छोटा भाई है। मैंने जैसे तुम्हें बनाया था, वैसे ही इसे बनाया है।"

पर जब बच्चा छह वर्ष का होने लगा तो उसने जोरदार प्रतिवाद किया। तुम मुझे क्यों नहीं बताती कि हम वास्तव में इस दुनिया में कैसे आए। मैं इतना बड़ा हो गया हूं—तुम मुझे सच-सच क्यों नहीं बताती ? जब तुमने मुझसे कहा था कि तुम बच्चा बना रही हो, तो मैं तुम्हें बड़े गौर से देखता था, परंतु तुमने कुछ भी नहीं किया था।

सच बोलना भी उतना सरल नहीं है, जितना लगता है। मां-बाप और अध्यापकों को, बच्चे की कल्पना को संतुष्ट करने के लिए विशेष समझदारी की जरूरत है।

अध्यापकों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है क्योंकि तर्क से वे इन समस्याओं को नहीं सुलझा सकते। हमें इसका ज्ञान होना चाहिए कि बच्चों का विकास कैसे होता है। हमें अपनी पूर्व स्थापित धारणाएं त्याग देनी चाहिए। तीन से छह वर्ष के बच्चे के मस्तिष्क को समझने

के लिए बड़े व्यवहार, कौशल और संवेदनशीलता की जरूरत है, जो बड़ों में बहुत कम होती है।

सौभाग्य से बच्चा हमारी अपेक्षा, अपने परिवेश से अधिक सीखता है। परंतु हमें बच्चे के मनोविज्ञान की पूरी जानकारी होनी चाहिए जिससे हम उसकी यथासंभव सहायता कर सकें।

मानसिक विकास

बच्चे के काम करने के ढंग से बहुत सी बातें पता चलती हैं। हमें पता चलता है कि बच्चे के मनोविज्ञान के बारे में अभी तक हमारे कितने सारे पूर्वाग्रह थे, और यह, कि हम अपने पूर्व स्थापित सिद्धांतों के द्वारा बच्चे का संचालन नहीं कर सकते, क्योंकि बच्चा एक अज्ञात तत्व है। बच्चा अपने व्यवहार द्वारा ही स्वयं को समझने का मार्ग बता सकता है।

हमने बहुत बार देखा है कि बच्चा रोचक काम करना चाहता है और साथ ही यह भी चाहता है कि कोई उसे वह काम ठीक से करना बताए। सुस्पष्टता बच्चे को बहुत आकर्षित करती है और इसी के कारण वह काम में लगा रहता है। इससे हमारा निष्कर्ष है कि बच्चा हाथ के दक्ष कार्यों की ओर, एक अचेत उद्देश्य के कारण आकर्षित होता है। बच्चे की मूल प्रकृति यह है कि वह अपनी क्रियाओं में समन्वय स्थापित करके उनको अपने नियंत्रण में लाए।

एक और बहुत महत्वपूर्ण बात देखने में आई। बच्चे को यदि कोई काम मोहित कर लेता है तो वह उन्हीं कार्यों की शृंखला को बार-बार दोहराता है। उदाहरणतः हमारा एक बच्चा "व्यावहारिक जीवन के अभ्यास" में पीतल का बर्तन चमकाने में लीन है। वह सब हिदायतों का पालन करता है, और बर्तन खूब चमकने लगता है। परंतु बड़े विस्मय की बात है कि वह बिना रुके फिर नए सिरे से बर्तन चमकाना शुरू करता है और सभी सूक्ष्म हिदायतों को फिर से दोहराता है। अतः वह पहले से पॉलिश किए हुए बर्तन पर दुबारा और अनेक बार पॉलिश करता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वह बाह्य उद्देश्य तो प्रेरणा मात्र था। वह प्रक्रिया विकासशील है, क्योंकि बच्चे द्वारा क्रिया को बार-बार करने से स्नायुतंत्र मांसपेशियों में नया समन्वय स्थापित करता है। यह समन्वय प्रकृति से प्राप्त नहीं होता, वरन अर्जित किया जाता है। यही बात खेलकूद में है। टेनिस, फुटबाल आदि का एकमात्र उद्देश्य गेंद को सही जगह फेंकना नहीं है, परंतु उनसे हम एक नया हुनर सीखते हैं जो हमारे पास पहले नहीं था। हमें खेलने में जो आनंद आता है उसका वास्तविक कारण हमारी यही भावना है कि हम अपनी क्षमताओं में वृद्धि कर रहे हैं। यह सच है कि इन सब क्रियाकलापों के लिए यही कहा जाता है कि बच्चा खेल रहा है। परंतु इस प्रकार के खेल में प्रयत्न करना होता है और इससे वह नई क्षमताएं अर्जित करता है जिनकी उसे भविष्य में जरूरत पड़ेगी।

उसकी सहज प्रवृत्ति विकसित होती है जो समयानुसार अनुकूलन में उसकी सहायता

करती है और वह अपनी आंतरिक संरचना के लिए बड़ा परिश्रम करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी ने उससे कहा है, "यों ही अटकने से नहीं, वरन इन विशिष्ट क्रियाओं से तुम्हें अपना निर्माण करना है, क्योंकि आगे चलकर तुम्हें यही क्रियाएं करनी होंगी।" इस प्रकार का परिश्रम बचपन के लिए उचित है और इसीलिए मैं कहती हूं कि बच्चों में अनुकरण करने की आदत, एक प्रकार की प्रेरणा है जिसके कारण वह आत्मासंरचना करता है।

यहां हम देखते हैं कि वास्तविक गतिशीलता के कारण बच्चे की क्षमताओं में विस्तार होता है। बच्चा दूसरों को जो कार्य करते देखता है, वे उसके लिए प्रेरणा बन जाते हैं और वह इस ढंग से उनका अनुकरण करता है जिससे उसमें स्वयं वह कार्य करने की क्षमता तैयार हो। वह क्या चीज है जो तैयार होती है ? जैसे बुनकर, करघे पर पहले ताना बाना तैयार करता है—अर्थात कपड़ा नहीं, कपड़ा बुनने का आधार तैयार करता है। भाषा सीखने में भी इसी तरह का ताना-बाना तैयार होता है, अर्थात शब्दों की ध्वनि, लय, और स्वर, तथा व्याकरण के अनुसार शब्दों की व्यवस्था। इसी तरह व्यावहारिक जीवन की क्रियाएं किसी राष्ट्र या जाति के विशिष्ट आचरण का ताना-बाना तैयार करती हैं। तीन से छह वर्ष की अवस्था में इस ताने-बाने पर कपड़ा बुना जाता है। अतः छह वर्ष से कम आयु का काल, आगे के जीवन को निर्धारित करता है। इस काल में बच्चा जिन क्षमताओं की संरचना कर लेगा, वे जीवन भर उसके शरीर का भाग बनी रहेंगी। उसके इधर से उधर जाने के, तथा काम करने के ढंग, उसके व्यक्तित्व के स्थायी लक्षण बन जाएंगे। उन्हीं से उसकी पहचान होगी कि वह समाज के निम्न वर्ग का है या उच्च वर्ग का। क्योंकि ये ही भिन्नताएं वर्गों को एक दूसरे से अलग करती हैं, जैसे भाषा की विभिन्नताएं राष्ट्रों को अलग करती हैं।

इसी कारण यदि निम्न वर्ग में जन्म लेने वाले व्यक्ति की बाद में परिस्थितियां बदल जाएं और वह उच्च स्तर पर पहुंच जाए, तो भी वह अपनी उत्पत्ति का दाग नहीं मिटा सकता।

इसी तरह यदि कोई अभिजात वर्ग का व्यक्ति मजदूर का छद्म वेश धारण करे, तो उसके ढंग और आचरण से, किसी न किसी बात में उसका भेद अवश्य खुल जाएगा।

भाषा के क्षेत्र में, इसी आयु में बोलने का ढंग स्थापित होता है। बड़ी उच्चतर तकनीकी शब्दावली का आदी होने पर भी, विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का उच्चारण यह बता देगा कि वह किस क्षेत्र से आया है। बचपन में जिसका निर्माण हो जाता है उसे उच्च से उच्च शिक्षा भी नहीं मिटा सकती। अतः हम देखते हैं कि इस आयु में सामाजिक शिक्षा का कितना महत्व है। बच्चे के प्रारंभिक तीन वर्षों में, रुकावटों के कारण, उसके व्यक्तित्व में जो विकृतियां आ जाती हैं, उन्हें ठीक करने का द्वितीय काल में अवसर मिलता है। अपना काम पूरा करने का यह प्रकृति का तरीका है। साथ ही, यदि शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से दी जाए, तो हम विविध जातियों और देशों को अलग करने वाली विभिन्नताओं को कम कर सकते हैं। इससे संसार में जीवन अधिक सद्भाव पूर्ण हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, जैसे सभ्यता ने मनुष्य के परिवेश में परिवर्तन किया है, वैसे ही वह मनुष्य में भी परिवर्तन कर सकती है। मानव जाति के पास चमत्कारी क्षमताएं है।

अनुभूति पर आधारित शिक्षा और गणितीय मस्तिष्क

बच्चे के व्यक्तित्व का जो भाग उसके विकास को संचालित करता है, वही उसकी सारी गतिविधियों में भी लक्षित होता है। हमारे अनुभूतिप्रेरक उपकरणों के साथ जब बच्चे खेलते हैं तो हम इन लक्षणों को स्पष्ट देख सकते हैं।

अनुभूति पर आधारित शिक्षा के बारे में हमारे क्या विचार होने चाहिए ? इंद्रियों के द्वारा बच्चे का अपने परिवेश से संबंध स्थापित होता है। मस्तिष्क जो कुछ इंद्रियों से ग्रहण करता है, उसमें वह दक्षता प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार अच्छा पियानो बजाने वाला, उन्हीं परदों से सुंदरतम संगीत निकाल सकता है। रेशम का काम करने वालों की उंगलियां इतनी संवेदनशील हो जाती हैं कि वे छूने भर से ही बता सकती हैं कि तंतु में एक धागा है या दो। जंगल में रहने वाले आदिवासी को सांप की सरसराहट सुनाई दे जाती है, जो औरों को नहीं सुनाई देती।

ये कुशाग्रताएं साधारण जीवन में प्राप्त होती हैं, परंतु प्रत्येक व्यक्ति में ये भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित होती हैं। किसी भी प्रकार की अनुभूति आधारित शिक्षा तभी संभव है जब संपूर्ण क्रियाकलाप का एक अंग हो, जिसमें बुद्धि और क्रिया, दोनों ही भाग ले रही हों।

आंतरिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न अभिरुचियों पर व्यक्तिगत विभिन्नताएं निर्भर करती हैं। ये आंतरिक प्रवृत्तियां सबको भिन्न-भिन्न मात्रा में प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, हम सबमें जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं जिसके कारण हम अपनी निजी प्रकृति के अनुसार बढ़ते और विकसित होते हैं।

जो बच्चा हमारे अनुभूति प्रेरक उपकरणों का प्रयोग करता है, वह न केवल अपने हाथ की कुशलता में विस्तार करता है, बल्कि बाह्य संसार के प्रेरक पदार्थों के प्रति बड़ी मात्रा में सजग रहता है। बाह्य संसार उसके लिए अधिक समृद्ध हो जाता है, क्योंकि अब वह सूक्ष्म विभिन्नताओं का महत्व समझने लगता है, जिन्हें कम संवेदनशील व्यक्ति नहीं समझ पाते।

हमारे उपकरण बच्चे को अवलोकन में एक प्रकार से मार्गदर्शन करते हैं, क्योंकि ये प्रत्येक इंद्रिय द्वारा प्राप्त अनुभूतियों का वर्गीकरण करते हैं—जैसे रंग, स्वर, आवाज़, आकृतियां, आकार, स्पर्श, गंध और स्वाद की अनुभूतियां। यह भी निस्संदेह संस्कृति का एक रूप है क्योंकि इसके कारण हम स्वयं अपने पर, तथा अपने परिवेश पर ध्यान देने लगते हैं। बोलने और लिखने की तरह, यह भी संस्कृति का एक पक्ष है, जिससे व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताएं और समृद्ध होती हैं, और उसका व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त करता है।

चूंकि इंद्रियों द्वारा हमें संसार का ज्ञान होता है, अतः वे हमारा ज्ञान बढ़ाती हैं। बच्चों की इंद्रियों को प्रशिक्षित करने वाले हमारे उपकरण, संसार की खोज में, बच्चे का निर्देशन करते हैं। वह बिना शिक्षण के संसार में जितनी चीजें देख सकता था, उससे अब अधिक

चीजें, अधिक विस्तृत रूप से देखता है।

साथ ही, बच्चे की उच्चतर क्षमताओं से संबंधित सभी चीजें उसे प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिससे उसकी रचनात्मक शक्तियां सक्रिय हो जाती हैं और उसके अन्वेषक मस्तिष्क की अभिरुचि और बढ़ जाती है।

आजकल के सामान्य स्कूलों में अध्यापक अक्सर बच्चों को 'ऑब्जेक्ट लेसंस' के अंतर्गत कोई वस्तु देते हैं, जिसके विविध गुणों को बच्चा गिनाता है, जैसे उसका रंग, आकृति, बनावट आदि। संसार में वस्तुएं अनंत हैं, पर उनके गुण सीमित हैं। अतः ये गुण वर्णमाला के अक्षरों की तरह हैं, जिससे असंख्य शब्द बन सकते हैं।

यदि हम बच्चों के सामने ऐसी चीजें प्रस्तुत करें, जो इनमें से प्रत्येक गुण को अलग-अलग प्रदर्शित करती हैं, तो मानो हम उन्हें एक वर्णमाला प्रदान कर रहे हैं जो खोज करने में उनकी सहायता करेगी। हम उन्हें ज्ञान के दरवाजे की कुंजी दे रहे हैं। जो सब चीजों के गुणों का व्यवस्थित वर्गीकरण समझते हैं, और उनका श्रेणीकरण भी जानते हैं, वे अपने परिवेश और प्रकृति में सब प्रकार की चीजों को ठीक से समझ सकेंगे।

बाह्य संसार को पढ़ने की यह *वर्णमाला* बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा हम कह चुके हैं, संस्कृति केवल सूचना का संकलन नहीं होती, वरन उसमें हमारे व्यक्तित्व का विस्तार भी अंतर्निहित है। जिस बच्चे को इंद्रियों का प्रशिक्षण मिल चुका है, उसको पढ़ाना, उस बच्चे से बहुत भिन्न है जिसे यह प्रशिक्षण नहीं मिला है। उसके सामने कोई भी वस्तु प्रस्तुत करें, कोई भी विचार रखें, किसी भी चीज का अवलोकन करने को कहें, वह सबमें उत्साह दिखाता है। बच्चों में पहले ही इतनी संवेदनशीलता विकसित हो जाती है, कि पत्तियों के आकारों में या फूलों के रंगों, या कीड़ों की संरचना में सूक्ष्म भेद फौरन पता चल जाते हैं। उसकी क्षमता और अभिरुचि पर सब निर्भर करता है। ऐसे तैयार मस्तिष्क का महत्व, अच्छे अध्यापक से भी ज्यादा है।

हमने जो उपकरण बनाया है, उसमें चीजों के गुणों का वर्गीकरण है। इनसे बच्चे को अपने मस्तिष्क में व्यवस्था स्थापित करने में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

चीजों और उनके गुणों में भेद समझना स्वाभाविक है। सभी लोगों को, बिना विशेष प्रकार की शिक्षा के, रंगों, स्वरों, आकारों आदि में विभिन्नताएं दिखाई देती हैं, वास्तव में यह तथ्य, मानव मस्तिष्क के स्वरूप से संबंधित है। मानव मस्तिष्क में कल्पना की शक्ति होती है (ऐसी वस्तु के बारे में सोचना, जो प्रत्यक्ष उपस्थित न हो)। साथ ही वह अपने अंदर की विषयवस्तु का संग्रहण करके उन्हें पुनर्व्यवस्थित करता है। हम कह सकते हैं कि बाह्य संसार में पाई जाने वाली असंख्य वस्तुओं में से वह "गुणों की वर्णमाला" स्थापित करता है। ऐसा वह, अमूर्त विचारों की क्षमता के कारण कर पाता है। भाषा में वर्णमाला की रचना करने वालों ने भी, इसी क्षमता का उपयोग किया था। उन्होंने कुछ ध्वनियों का चुनाव किया, जिनसे सब शब्द बनते हैं, अतः वर्णमाला एक अमूर्त प्रणाली है, क्योंकि बोलने की ध्वनियों में, वास्तविक अस्तित्व केवल शब्दों का होता है। यदि आदमी कल्पना न कर

सके, और अमूर्त धारणाएं न बना सके, तो वह बुद्धिमान जीव नहीं हो सकेगा। या उसकी बुद्धि, उच्चतर जानवरों की तरह स्थिर और विशेष आचरण के लिए सीमित होती, जिसके कारण वह अपना विस्तार नहीं कर पाता।

अमूर्त अवधारणाओं की संख्या सदा सीमित होती है, जबकि वास्तविक चीजें, जिन्हें हम देखते हैं, असंख्य होती हैं। इन सीमित अवधारणाओं में जितनी अधिक सुस्पष्टता होगी, उतना ही उनका महत्व अधिक होगा। मस्तिष्क की दुनिया में ये विशेष अवयव की तरह हैं जिन्हें हम विचारों को उत्पन्न करने वाला कह सकते हैं। ये ब्रह्मांड में हमारी स्थिति की जानकारी हमें देती हैं, जैसे घड़ी समय की जानकारी देती है।

मस्तिष्क की ये दो क्षमताएं—कल्पना और अमूर्त अवधारणा शक्ति—चीजों की वास्तविक उपस्थिति के बोध के परे हैं। मस्तिष्क के अंतर्विषय की रचना में दोनों का पारस्परिक भाग होता है। भाषा के निर्माण के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। सुस्पष्ट वर्णमाला और व्याकरण के नियम मिलकर शब्दों का असंख्य भंडार बना देते हैं। जो शब्द भाषा को समृद्ध करना चाहते हैं, उन्हें आधारभूत ध्वनियों और व्याकरण की व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। जो भाषा की रचना में होता है, वही मस्तिष्क की रचना में भी होता है।

जब आप कहते हैं, "सामने जो व्यक्ति जा रहा है, उसकी मानसिकता बड़ी अस्पष्ट है। वह चतुर है पर सदा अनिश्चित रहता है।" तो आप एक ऐसे मस्तिष्क की ओर संकेत करते हैं, जिसके पास विचार तो हैं पर उनमें वह स्पष्टता नहीं है, जो व्यवस्था से आती है। किसी अन्य व्यक्ति के लिए आप कहते हैं, "उसका मस्तिष्क एक नक्शे की तरह है। उसके विचार सदा सही होंगे।"

हमने ऐसे मस्तिष्क को, जो यथातथ्य पर आधारित होता है, एक विशेष नाम दिया है। हम उसे "गणितीय मस्तिष्क" कहते हैं। यह नाम मैंने पास्कल से लिया है जो फ्रांस का दार्शनिक, भौतिक विज्ञानी और गणितज्ञ था। उसका कहना था कि मनुष्य के मस्तिष्क की प्रकृति गणितीय होती है। और सही अवलोकन से ज्ञान बढ़ता है तथा प्रगति होती है।

जैसे भाषा का स्वरूप उसकी वर्णमाला की ध्वनियों से, तथा शब्दों को व्यवस्थित करने वाले नियमों से पहचाना जाता है, उसी तरह मस्तिष्क का स्वरूप, जिसमें अपार अनुभूतियां और कल्पनाएं हैं, मूलतः व्यवस्थित होता है। यदि हम उन लोगों का अध्ययन करें जिन्होंने मानवता के लिए उपयोगी आविष्कार करके संसार में अपना नाम अमर कर दिया है, तो हम देखेंगे कि आरंभ में, उनके मस्तिष्क में कुछ सुनिश्चित और सुव्यवस्थित विचार थे, और इसी कारण वे कोई नई रचना कर सके। कविता और संगीत के काल्पनिक संसार में भी एक आधारभूत, सुस्पष्ट, छंदबद्ध व्यवस्था होती है।

अतः शिक्षा में हमें दोनों मानसिक क्षमताओं पर ध्यान देना चाहिए। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति में, इनमें से एक क्षमता, दूसरे से प्रबल होती है। परंतु दोनों की ही उपस्थिति आवश्यक है, और उन्हें समन्वय के साथ, मिल कर काम करना चाहिए। यदि कल्पना का ही अकेले विकास हो, तो उससे संतुलन बिगड़ जाता है और व्यावहारिक क्षेत्र में, जीवन को सफलता

नहीं मिल पाती।

हमारे छोटे बच्चों में गणितीय प्रवृत्ति कई असाधारण और स्वाभाविक तरीकों से प्रदर्शित होती है।

यदि हम उन्हें कोई काम करने का सुनिश्चित तरीका बताएं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे सुस्पष्टता से ही आकर्षित होते हैं। यदि क्रिया को करने का कोई वास्तविक उद्देश्य हो, तो वह बच्चे के काम करने की पहली शर्त होती है। परंतु यदि उस कार्य को करने का निश्चित तरीका मालूम हो, तो बच्चे के प्रयास को बड़ा सहारा मिलता है और इसी के फलस्वरूप, बच्चा अपने विकास की ओर प्रगति करता है। हमने देखा कि स्कूल में सहजता से कार्य करने के लिए व्यवस्था और सुस्पष्टता जरूरी है।

जब हम इन अनुभूति प्रेरक उपकरणों को देखते हैं, जिनसे बच्चों में इतनी एकाग्रता उत्पन्न होती है, (जो तीन से चार साल के बच्चों के लिए बहुत असाधारण है) तो इसमें संदेह नहीं रह जाता कि ये उपकरण न केवल बच्चे की, अपने परिवेश को खोजने में, सहायता करते हैं, वरन उसके गणितीय मस्तिष्क के विकास में भी सहायक होते हैं।*

हमें अपने बच्चों से जो परिणाम प्राप्त हुए हैं, वे इस तथ्य के बहुत विपरीत हैं कि स्कूलों में गणित को एक आफत समझा जाता है प्रसन्नता का स्रोत नहीं। अधिकांश लोगों ने उसके विरुद्ध मानसिक अवरोध स्थापित कर लिया है। यदि *अवशोषक मस्तिष्क* उसके मूल तत्वों को ग्रहण कर लें, तो गणित बहुत सरल हो जाता है।

छोटे बच्चों के सामान्य परिवेश में गणितीय सूक्ष्मता के पदार्थ नहीं पाए जाते। प्रकृति ने पेड़, फूल, जानवर आदि सब चीजें बच्चों के लिए प्रस्तुत कीं, पर इन्हें नहीं। अतः बच्चे में जो गणितीय प्रवृत्तियां हैं, वे अवसर न मिलने से क्षीण हो जाती हैं, जिससे उनकी प्रगति में, बाद में बाधा आती है। अतः हम अपने अनुभूति प्रेरक उपकरणों द्वारा *कल्पना को मूर्त रूप* देते हैं और बच्चों में गणित के आधार स्थापित करते हैं। गणित शिक्षा पर मेरे विचार विस्तृत रूप में, मेरी अन्य दो पुस्तकों में दिए गए हैं, जो शिक्षा के इस क्षेत्र के मनोविज्ञान पर शोध निबंध हैं।

भ्रूणीय प्रतिरूप

बच्चे ने अपने विकास की प्रथम अवस्था में अपने परिवेश पर जो नियंत्रण प्राप्त किया है, वह एक प्रकार से बुनकर के ताने-बाने के समान है, जिस पर वह आगे कपड़ा बुनता है। यह अवस्था वास्तव में भ्रूण की अवस्था की तरह है, क्योंकि भ्रूण की रचना, पूर्व स्थापित प्रतिरूप का परिणाम होती है, चाहे वह प्रतिरूप उसके शरीर के अंगों का हो, जो उसके जीन

* इस उपकरण के विवरण के लिए देखिए मेरी पुस्तक *द डिस्कवरी ऑफ द चाइल्ड* (कलाक्षेत्र, अड्यार, मद्रास)

निर्धारित करते हैं, या उसके व्यवहार का हो, जैसे कॉगहिल ने प्रदर्शित किया है।

भाषा के क्षेत्र में भी बच्चा एक दूसरी तरह का ताना-बाना तैयार करता है। यह ताना-बाना निश्चित और सुस्पष्ट होता है क्योंकि यह विशेष प्रकार की ध्वनियों और शब्दों की व्यवस्था के निश्चित नियमों से बनता है। प्रकृति में इन ध्वनियों और शब्दों की व्यवस्था का कोई पूर्व अस्तित्व नहीं था। इनका मानव समुदाय ने विकास किया है। जैसा हम देख चुके हैं, शब्दों और उनके अर्थों की उत्पत्ति लोगों की पारस्परिक सहमति से हुई है, जो एक दूसरे को समझना चाहते थे।

सामाजिक समुदायों द्वारा अन्य चीजें भी स्थापित होती हैं, उदाहरणतः व्यवहार और रीति रिवाज, जिन्हें समय नैतिक बाध्यता प्रदान करता है। पुरानी विकास अवधारणा के अनुसार ये रीति रिवाज, जीवन को अधिक आरामदेह बनाने के लिए उत्पन्न हुए थे। परंतु आपको यह जानने में दिलचस्पी होगी कि यह बात नहीं थी। सामाजिक नियमों के कुछ पहलू इसके बिलकुल विपरीत संकेत करते हैं। आत्म संरक्षण की भावना का केवल यह अर्थ नहीं था कि जीवन की सर्वोत्तम परिस्थितियां ढूंढी जाएं। वरन हम देखते हैं कि जीवन पर रोक लगाई जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि त्याग की एक स्वाभाविक भावना है। यह भी सच है कि आकृतिहीन टुकड़े को आकृति देने के लिए उसके कुछ भागों को काट कर अलग करना पड़ता है। तथ्य यह है कि प्राचीन जातियों के रीति रिवाजों का अध्ययन करने से पता चलता है कि रोक लगाने वाली प्रथाएं (निषेध और वर्जना) और शारीरिक अंगविच्छेद उन सबमें होते हैं।

कभी-कभी सुंदरता प्राप्त करने के लिए भी अस्वाभाविक तोड़-मरोड़ की जाती है, और उसके लिए बड़ा त्याग करना पड़ता है (चीन की औरतों के पैरों को छोटा बनाए रखना, या जेवर पहनने के लिए कान और नाक में छेद करना और इन जेवरों के कारण शरीर मे विकृतियां आ जाना)।

परंतु सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबंध भोजन में होता है। हाल में अकाल से लाखों भारतीय मारे गए। उनके चारों ओर भरपूर जानवरों के झुंड थे। परंतु उनमें, भोजन के लिए जानवरों को मारने की प्रथा नहीं थी और यह भावना इतनी प्रबल थी, कि उन्होंने जानवरों को मारने की अपेक्षा मरना स्वीकार किया।

नैतिकता, सामाजिक जीवन की अधिरचना है जो उनके लिए निश्चित स्वरूप तैयार करती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वरूप की स्थापना व्यापक सहमति से होती है। जितनी मात्रा में सहमति मिलेगी, उतना ही उसका विस्तृत प्रभाव होगा।

यही बात धर्म के लिए भी कही जा सकती है। मूर्ति को भी सामाजिक स्वीकृति मिलती है। धर्म, व्यक्तियों के बीच केवल कुछ समझौते नहीं हैं, जो कुछ विचारों पर आधारित होते हैं। परंतु वे मानव जाति की निश्चित आध्यात्मिक जरूरतों के कारण उत्पन्न हुए हैं। ये ऐसी जरूरतें हैं जिनको किसी धार्मिक विश्वास के लिए, केवल बौद्धिक स्वीकृति की नहीं, वरन आराधना की आवश्यकता है। पुरातन मानव प्रकृति के आश्चर्यों से प्रभावित होकर, उसके

प्रभावशाली तत्वों की आराधना करता है, जिसके मूल में विस्मय के साथ-साथ कृतज्ञता और भय भी होता है। इस प्रक्रिया के अंत में, कुछ घटनाओं के प्रति, गहरी भावनात्मक प्रतिक्रियाएं होती हैं, जिनसे सब सहमत होकर जुड़ जाते हैं, और वे तत्व उस समुदाय के लिए पवित्र हो जाते हैं।

ये धार्मिक क्रियाएं, केवल उसकी कल्पना को ही उत्तेजित नहीं करतीं, अपितु मस्तिष्क स्वयं उन्हें अपने ताने-बाने का अंग बना लेता है (कुछ उसी प्रकार, जैसे इंद्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूतियों से मस्तिष्क अपने अमूर्त विचारों का निर्माण करता है)। इसके फलस्वरूप वह एक आधारभूत मानसिक क्रियाकलाप से, चीजों के गुण पहचानने लगता है। परंतु यहां अचेतन के सक्रिय होने से (जैसे उन अनुभवों में, जिनके कारण पूजा करना आरंभ होता है) हम उनकी अमूर्त अभिव्यक्ति करते हैं और यह करने के लिए हम उनके मानवीकरण के लिए प्रतीकों का उपयोग करते हैं। इन प्रतीकों को जब व्यापक सहमति प्राप्त होती है तो वे सामाजिक प्रतीक बन जाते हैं।

इन सबके स्थापित होने में सदियां बीत जाती हैं। इनसे एक निश्चित व्यवस्था बनती है, जैसे नैतिकता की व्यवस्था, और साथ ही यह लोगों को एकता के सूत्र में बांधती है। वे इस प्रकार उन्हें आपस में जोड़ती हैं, कि उनका समुदाय अन्य समुदायों से अलग पहचाना जाता है। मानव समुदायों में ये भेद, जीवधारियों की विभिन्न जातियों में शारीरिक विभिन्नताओं के समान हैं। जैसे शारीरिक विभिन्नताएं वंशानुगत हस्तांतरित होती हैं, उसी प्रकार ये मानसिकताएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रेषित होती हैं।

समुदाय की ये विशेषताएं केवल कल्पना से ही स्थापित और स्वीकृत नहीं होती हैं। कल्पना के साथ उनकी आध्यात्मिक आवश्यकताएं भी मिल कर उनके लिए सामग्री एकत्र करती हैं, जैसे मस्तिष्क के लिए इंद्रियां सामग्री प्रस्तुत करती हैं। परंतु उसके बाद अमूर्त अवधारणाएं बीच में आकर, उनको सरल बनाकर, एकता के सूत्र में बांधती हैं। इसके फलस्वरूप मस्तिष्क, अनंत को निश्चित ढांचे में अभिव्यक्त कर पाता है।

ये ढांचे सुस्पष्ट और स्थायी होते हैं और इन्हें सरल प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिस पर हम सबकी निष्ठा रहती है। इन प्रतीकों से व्यवहार में स्थिरता प्राप्त होती है जो प्रायः गणित की तरह सुस्पष्ट होती है। इस तरह निर्देशक मस्तिष्क की गणितीय क्षमता, काल्पनिक और आध्यात्मिक तत्वों को प्राप्त करके, उन्हें निश्चित रूप देती है।

जब बच्चा अपने समुदाय के रीति-रिवाज, नैतिकता और धर्म को आत्मसात करता है, तो वह वास्तव में क्या ग्रहण करता है ?

भाषा की तरह, यहां भी बच्चा, व्यवस्था ग्रहण करता है अर्थात वह अमूर्त अवधारणाओं से प्राप्त स्थिरता और सुस्पष्टता ग्रहण करता है, जिन्हें गणितीय मस्तिष्क ने व्यवस्थित किया है। यह व्यवस्था उसका अंग बन जाती है, जैसे शारीरिक अंग, भ्रूण का हिस्सा बन जाते हैं। यह प्रबल और रचनात्मक व्यवस्था होती है, जो व्यक्तित्व को अपना रूप प्रदान करती है, जैसे जीन शरीर को वंशानुगत विशेषताएं देते हैं, या हमारे स्नायु केंद्रों में आचरण के

ढंग गढ़े जाते हैं।

बच्चा जन्मोत्तर काल में अपने परिवेश से, अपने सामाजिक जीवन का विशिष्ट ढांचा ग्रहण करता है—अतः वह शुरू से अपनी जाति की वास्तविक मानसिक उपलब्धियां ग्रहण नहीं करता, वरन केवल वह ढांचा ग्रहण करता है जिसके कारण वे प्राप्त हो सकती हैं। अतः वह उस आधारभूत और निश्चित अंश को ग्रहण करता है जो लोगों के जीवन का अंग बन चुका है और व्यवहार में बार-बार प्रयुक्त होता है। संक्षेप में, वह गणितीय अंश ग्रहण करता है। ये ढंग जब उसके अंदर एक बार स्थापित हो जाते हैं तो वे दृढ़ बने रहते हैं, जैसे उनकी मातृभाषा बनी रहती है।

बाद में चाहे उस व्यक्ति का असीमित विकास हो, परंतु उसका आधार यही रहेगा। इसी तरह उसकी मातृभाषा में बहुत विस्तार हो सकता है, परंतु उसका आधार वही ध्वनियां और व्याकरण के नियम होंगे जो उसने बचपन में ग्रहण किए थे।

बच्चे का गणितीय मस्तिष्क प्रारंभ से ही सक्रिय रहता है, यह हम (जैसा संकेत कर चुके हैं) बच्चे के सुस्पष्टता की ओर आकर्षण में देखते हैं साथ ही इसे हम बच्चे में व्यवस्था की मांग में भी देखते हैं जो बचपन में, उसकी एक बहुत शक्तिशाली प्रेरणा होती है। वह चीजों को व्यवस्थानुसार सजाने के प्रति संवेदनशील होता है, और यह उसमें उसी समय से आंरभ हो जाता है, जब वह अपने परिवेश से प्रथम अनुभूति प्राप्त करता है। अपने उद्देश्यपूर्ण कार्यों में वह तभी जुटा रहेगा, जब प्रक्रिया सुस्पष्ट हो। इसी से उसे अपने कार्य में एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त होती है।

इन सभी बातों पर एक साथ दृष्टि डालने से हमारे अंदर यह विचार आया कि बच्चे के मानसिक व्यक्तित्व का कोई मूलभूत आधार होना चाहिए। बच्चे में मानसिकता का निर्माण एक पूर्व निर्धारित ढांचे के अनुसार होता है। यदि ऐसा न होता, तो बच्चे का मानसिक जीवन उसके तर्क या इच्छा-शक्ति द्वारा निर्मित होता, परंतु ये क्षमताएं तो बहुत बाद में विकसित होती हैं।

जैसे कोई व्यक्ति तर्क से अपने शरीर की रचना नहीं करता, वैसे ही मस्तिष्क की रचना में भी वह तर्क का अनुसरण नहीं करता। यहां रचना से हमारा तात्पर्य उस रहस्यमयी आदिकालीन घटना से है, जिसके कारण वह चीज प्राप्त हुई, जिसका अस्तित्व ही नहीं था। बाद में उसका, जैविक नियमों के अनुसार विस्तार हुआ। परंतु सबकी उत्पत्ति किसी प्रकार की सृजनात्मक क्रिया से होती है। समस्त जीवन अंडे से उत्पन्न होता है।

अतः मानव मस्तिष्क का आधार स्वयं ही सृजनात्मक है, परंतु केवल जन्मोत्तर काल में। इस काल में, आदमी अपने मस्तिष्क का निर्माण उन अनुभूतियों से करता है, जो उसे बाह्य संसार से प्राप्त होती हैं। इनसे वह अपना व्यक्तित्व बनाता है, और इस तरह सभी व्यक्ति, अपनी सामाजिक विशिष्टताओं के अनुरूप बन जाते हैं। इसी कारण विविध मानव समुदायों के मध्य विभिन्नताएं निरंतर बनी रहती हैं। इसी तरह प्रत्येक समुदाय अपनी सभ्यता प्राचीन काल से विकसित करता आया है।

कोई चीज जो प्रकृति ने स्थापित न की हो, पर वह निरंतर बनी रहे, और जो सामाजिक ढंगों की तरह धीरे-धीरे विकसित हो, तो यह तभी संभव है, जब उस समाज में पैदा होने वाले बच्चों में रचनात्मक शक्ति हो, जिससे वे अपने परिवेश के अनुकूल अपने को बना सके। बच्चे का असली जैविक कार्य यही है और इसी के कारण सामाजिक प्रगति संभव है। परंतु चूंकि इस रचनात्मक प्रक्रिया को हम नियंत्रित कर सकते हैं, अतः हमारे लिए इसका बहुत महत्व है।

अध्याय अठारह

बचपन में चारित्रिक दोष

अब हम बच्चे के चरित्र, और उसके निर्माण से संबंधित तथ्यों की बात करेंगे, जिनका बच्चे के प्रारंभिक वर्षों में महत्व है।

पुराने समय के शिक्षा शास्त्र में, चरित्र-निर्माण को सदा महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था, यद्यपि उसने न तो यह स्पष्ट किया था कि चरित्र से उसका क्या तात्पर्य है, और न यह बताया था कि चरित्र-निर्माण कैसे किया जाए। उसने केवल इतना कहा था कि शिक्षा के बौद्धिक और व्यावहारिक पक्ष मात्र ही पर्याप्त नहीं होते। इनके साथ उस अज्ञात तत्व—चरित्र—को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इससे पता चलता है कि शिक्षा शास्त्रियों के पास कुछ अंतर्दृष्टि थी, क्योंकि वे मानव व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण तत्वों को उद्घाटित करना चाहते थे। कुछ सद्गुणों को सदा से बहुत मान्यता मिली है—साहस, लगन, कर्तव्यपालन, दूसरों से अच्छे नैतिक संबंध रखना—और इसके साथ ही, सदा से नैतिक शिक्षा को एक उच्च स्थान दिया गया है।

फिर भी, संसार के अधिकांश भागों में, यह बहुत स्पष्ट नहीं है, कि चरित्र से वास्तव में क्या तात्पर्य है।

प्राचीन काल से दार्शनिकों तथा जीव विज्ञान शास्त्रियों ने इस पर विचार-विमर्श किया है, परंतु वे किसी निश्चित परिभाषा पर नहीं पहुंच सके। यूनानियों से लेकर वर्तमान काल तक, अनेक लोगों ने इस समस्या पर विचार किया पर जैसा रुमके ने कहा था, "हमारे विचार सदा से अस्थायी दशा में रहे हैं।"

कोई ऐसी मूल अवधारणा नहीं है जो सबको स्वीकार हो। फिर भी अंतर्बोध द्वारा, सब उन गुणों को महत्व देते हैं, जिन्हें हमेशा से चरित्र का नाम दिया गया है।

चरित्र पर किए गए आधुनिकतम अध्ययनों के अनुसार उसमें शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक तत्वों के साथ इच्छाशक्ति, व्यक्तित्व और आनुवंशिकता के तत्व होते हैं। वाह्नसेन ने 1876 में सबसे पहले *चरित्र विज्ञान* शब्द प्रस्तावित किया था। उसके बाद से चरित्र के अध्ययन के लिए, विज्ञान की यह नई शाखा विकसित हो रही है। इसके लिए अधिकांश आधुनिक विद्यार्थियों और प्रवर्तकों ने अपना योगदान मुख्यतः जटिल सिद्धांतों के क्षेत्र में किया है, सुस्पष्ट ज्ञान के नहीं। विचित्र बात तो यह है कि सभी अपना अध्ययन वयस्कों से प्रारंभ करते हैं, चाहे वह वयस्क अमूर्त हो या जीवित व्यक्ति हो। शिक्षा का उल्लेख करने

वाले भी (चाहे उनका दृष्टिकोण अनुभवों पर आधारित हो या धर्म पर) छोटे बच्चे पर ध्यान नहीं देते, यद्यपि वे आनुवंशिकता अर्थात, जन्मपूर्व प्रभावों पर—बहुत महत्व देते हैं। फलस्वरूप आनुवंशिकता से वे सीधे छलांग मार कर वयस्क पर आ जाते हैं और बीच में ऐसा अंतराल रह जाता है, जिस क्षेत्र में किसी ने खोज करने का प्रयास नहीं किया है।

पर हमारे अध्ययन इसी अंतराल से संबंधित हैं। हमारे बच्चों ने ही अपनी स्वाभाविक गतिविधियों से, हमें इस अनिर्णीत समस्या पर नए तरीके से सोचने का मार्ग दिखाया। हमने बच्चे के चरित्र के विकास को एक स्वाभाविक घटनाक्रम के रूप में देखा जो बच्चे के अपने प्रयासों का परिणाम है। इसमें बाह्य तत्वों का कोई स्थान नहीं है। यह बच्चे की सक्रिय रचनात्मक शक्ति पर, और उसके दैनिक जीवन में मिलने वाली रुकावटों पर निर्भर करता है। अतः अब हमारी दिलचस्पी उन कार्यों के अवलोकन तथा उनकी व्याख्या की ओर गई, जो आदमी के मानसिक पक्ष की रचना के लिए प्रकृति करती है। हम यह अध्ययन जन्म से प्रारंभ करते हैं, जब चरित्र और व्यक्तित्व शून्य होता है, और उस आयु तक ले जाते हैं जब चरित्र और व्यक्तित्व अपने को प्रकट करना शुरू करते हैं। क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि अचेतन मस्तिष्क में प्राकृतिक नियम होते हैं जो व्यक्ति के मानसिक विकास को निर्धारित करते हैं। वे सब मनुष्यों में समान होते हैं। भिन्नताएं मुख्यतः जीवन के उतार-चढ़ाव के कारण होती हैं—कोई दुर्घटना या मानसिक क्षेत्र में प्रतिगमन, जो व्यक्ति के जीवन में रुकावटों के कारण हुआ हो।

इस तरह की परिकल्पना द्वारा यह संभव होना चाहिए कि हम बचपन से परिपक्वता तक, हर अवस्था के चरित्र की व्याख्या कर सकें। परंतु अभी हम बच्चे के प्रारंभिक जीवन को, अपना आधार बनाएंगे और देखेंगे कि इस काल में बच्चे के अनुकूलन के प्रयासों के कारण मानव चरित्र में कितने असंख्य परिवर्तन होते हैं।

इस दृष्टिकोण से, चरित्र से संबंधित सब चीजों को हम मानव व्यवहार के रूप में देखेंगे। जैसा मैं पहले कह चुकी हूं, व्यक्ति के जन्म से 18 वर्ष तक के जीवन को तीन अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं। पहली 0 से 6 वर्ष, (यह अवस्था इस पुस्तक की विषय वस्तु है) दूसरी, 6 से 12 वर्ष, और तीसरी, 12 से 18 वर्ष। इनमें से प्रत्येक अवस्था को दो उपअवस्थाओं में पुनर्विभाजित किया जा सकता है। यदि इन अवस्थाओं पर पृथक रूप से विचार करें, तो प्रत्येक में बच्चे की विशिष्ट मानसिकता इतनी भिन्न प्रतीत होती है मानो वह भिन्न-भिन्न बच्चों की मानसिकता है।

जैसा हम देख चुके हैं, प्रथम अवस्था रचनात्मक होती है। चरित्र की जड़ें यहीं मिलेंगी, यद्यपि जन्म के समय बच्चे का कोई चरित्र नहीं होता। जन्म से छह वर्ष तक का काल, जीवन का सबसे महत्वपूर्ण काल है, और यही चरित्र के विकास के लिए भी सच है। सभी जानते हैं कि गोद के बच्चे पर, हमारे आदर्श आचरण का, या बाह्य दबाव का कोई असर नहीं पड़ता। अतः चरित्र की नींव प्रकृति द्वारा ही रखी जाती होगी। छोटे बच्चे को सही और गलत की कोई जानकारी नहीं होती। वह हमारी नैतिकता के नियमों के परे होता है।

वास्तव में हम उसे बुरा या दुष्ट नहीं कहते। हम कहते हैं कि वह शैतानी कर रहा है, जिससे हमारा यह तात्पर्य होता है उसका व्यवहार बाल सुलभ है। अतः हम इस पुस्तक में "अच्छा", "बुरा" या "नैतिक" शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे। दूसरी अवस्था (6 से 12 वर्ष) में आने के बाद बच्चे को सही और गलत की चेतना हो जाती है। यह चेतना अपने कार्यों के प्रति ही नहीं, दूसरों के कार्यों के प्रति भी होती है। 'सही' और 'गलत' की समस्याएं इस आयु की विशेषता है। इस समय नैतिक चेतना का निर्माण होने लगता है, और बाद में, इसी से सामाजिक चेतना बनती है। तीसरी अवस्था (12 से 18 वर्ष) में देश के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उनमें यह भावना जाग्रत होती है कि वे राष्ट्र के अंग हैं और राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए वे चिंतित रहते हैं।

जैसा मैं संकेत कर चुकी हूं, प्रत्येक अवस्था, अन्य दोनों अवस्थाओं से भिन्न होती है। फिर भी, प्रत्येक अवस्था, अपने बाद आने वाली अवस्था की नींव रखती है। द्वितीय अवस्था में स्वाभाविक विकास तभी होगा, जब प्रथम अवस्था में अच्छा विकास हुआ हो। तितली और कैटरपिलर (इल्ली) देखने में, तथा व्यवहार में, दो भिन्न जीव लगते हैं, परंतु तितली को अपनी सुंदरता कैटरपिलर से ही मिलती है। वह दूसरी तितली का अनुकरण करके सुंदर नहीं बन सकती। हम वर्तमान की सुरक्षा करके भविष्य की सेवा करते हैं। पहली अवस्था की जरूरतें, जितनी पूर्णता से पूरी की जाएंगी, दूसरी अवस्था में उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी।

जीवन गर्भधारण से प्रारंभ होता है। यदि दो स्वस्थ व्यक्तियों के संयोग से गर्भधारण होता है, शराबी या अपभ्रष्ट से नहीं, तो जन्म लेने वाला बच्चा, कुछ दोषों से मुक्त रहेगा। अतः गर्भ धारण के समय की परिस्थितियां, भ्रूण के विकास को प्रभावित करती हैं। इसके बाद, चारों ओर के वातावरण से गर्भ में बच्चे पर प्रभाव पड़ सकता है, जैसे मां की गर्भावधि में परिस्थितियां। यदि भ्रूण को अनुकूल परिस्थितियां मिलीं, तो जन्म के समय बच्चा स्वस्थ और तगड़ा होगा। अतः गर्भधारण, और गर्भावस्था, दोनों का प्रभाव जन्मोत्तर जीवन पर पड़ता है।

हमने जन्म के मानसिक आघात और उससे उत्पन्न प्रतिगमन के खतरे की बात की थी। ये प्रतिगमन गंभीर हो सकते हैं, परंतु उतने नहीं जितने जन्मपूर्व काल में शराब की लत और वंशानुगत बीमारियों (मिर्गी आदि) के प्रभाव से होते हैं।

जन्म के बाद वे महत्वपूर्ण वर्ष शुरू होते हैं, जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं। प्रारंभ के दो तीन वर्षों में बच्चे पर ऐसे प्रभाव पड़ सकते हैं, जो उसका संपूर्ण भविष्य बदल दें। यदि इस काल में उसको चोट लग जाए, या उसके साथ हिंसा हो, या उसके सामने गंभीर रुकावटें आएं, तो उसका व्यक्तित्व विकृत हो सकता है। उसके जीवन में रुकावटों पर, या विकास के लिए अनुकूल स्वतंत्रता प्राप्त होने पर ही, बच्चे का चरित्र निर्भर करता है। यदि गर्भधारण के समय, गर्भावस्था में, जन्म के समय, और जन्मोत्तर काल में, बच्चे के साथ वैज्ञानिक रूप से व्यवहार किया जाए, तो तीन वर्ष की अवस्था में उसे एक आदर्श बच्चा

होना चाहिए। यह आदर्श कभी प्राप्त नहीं हो पाता, क्योंकि अन्य कारणों के अतिरिक्त कई रुकावटें बीच में आ जाती हैं। तीन वर्ष के होने तक, बच्चों में विभिन्नताएं आ जाती हैं। इन विभिन्नताओं को उत्पन्न करने वाले अनुभवों की तीव्रता पर इनका महत्व निर्भर करता है। साथ ही यह, उस आयु पर भी निर्भर करता है, जिसमें ये अनुभव प्राप्त हुए। जन्मोत्तर काल की कठिनाइयों से इतने तीव्र परिवर्तन नहीं होंगे, जितने गर्भावस्था के समय की कठिनाइयों से होंगे। और ये भी उतने तीव्र नहीं होंगे जितने गर्भधारण के समय के हानिकारक प्रभावों से होंगे।

बच्चों के दोषों को ठीक करने की क्या आशाएं हैं ? जो दोष जन्मोत्तर काल (0 से 3 वर्ष) में उत्पन्न हुए हैं, उनको 3 से 6 वर्ष की आयु में ठीक किया जा सकता है, जब प्रकृति, नई अर्जित क्षमताओं का विकास करके उन्हें पूर्णता की ओर ले जाती है।

हमारे अपने स्कूलों के द्वारा हमें इस काल के कई महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त हुए हैं और उनके द्वारा हम निश्चित सहायता दे सकते हैं। अर्थात, हम शिक्षा द्वारा, दोषों को ठीक करने का प्रयत्न कर सकते हैं। परंतु यदि (उपेक्षा या गलत व्यवहार के कारण) 0 से 3 वर्ष की अवस्था के दोष इस समय ठीक नहीं हो पाए, तो वे सदा बने ही नहीं रहेंगे, वरन और भी बिगड़ जाएंगे। अतः छह वर्ष की अवस्था में, बच्चे में वे दोष भी होंगे जो तीन वर्ष की अवस्था के पहले उत्पन्न हुए थे, तथा वे भी, जो उसके बाद उत्पन्न हुए। छह वर्ष के बाद, इनका प्रभाव, जीवन की दूसरी अवस्था पर पड़ेगा तथा इस काल में विकसित होने वाली सही और गलत की चेतना पर भी पड़ेगा।

इन सभी दोषों का प्रभाव, मानसिक जीवन और बुद्धि पर पड़ता है। यदि बच्चों की पूर्वगामी अवस्था में ऐसी परिस्थितियां नहीं थीं, जो उनकी क्षमताओं को प्रस्फुटित करतीं, तो इस काल में बच्चों को सीखने में अधिक कठिनाई होगी। अतः छह वर्ष के बच्चे में कुछ ऐसे लक्षण दिखाई दे सकते हैं, जो उसके अपने नहीं हैं, वरन उसकी पूर्वगामी खराब परिस्थितियों के परिणाम हैं। जैसे, उसमें वह नैतिक बोध विकसित न हो जो 6 से 12 वर्ष के बच्चे में दिखाई देना चाहिए। या उसकी बौद्धिक क्षमता, सामान्य से कम हो। तब हम देखेंगे कि उस बच्चे में न तो चरित्र है, और न वह कुछ सीख सकता है। अंतिम अवस्था में, उसकी हीनता के कारण, उसमें अन्य दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं और वह निकम्मा बन जाता है, यद्यपि इसमें, उसका कोई दोष नहीं है।

हमारे स्कूलों में (और आजकल अन्य कई स्कूलों में भी) प्रत्येक बच्चे का एक जैविक चार्ट रखा जाता है, जिसमें उसके शारीरिक और मानसिक लक्षण अंकित किए जाते हैं। इससे अध्यापकों को मार्ग दर्शन मिल सकता है। यदि हम यह जानते हों कि बच्चे को, प्रत्येक अवस्था में क्या परेशानियां हुई थीं, तो हम उनकी गंभीरता को समझ कर यह अनुमान लगा सकते हैं कि इन बच्चों में इलाज के प्रति क्या प्रतिक्रिया होगी। इस चार्ट में हम उन वंशानुगत बीमारियों को भी अंकित करते हैं, जो उनके मां-बाप को हैं, और जिनका हमको पता है। बच्चे के जन्म के समय मां-बाप की क्या आयु थी, तथा गर्भावस्था के दौरान, मां के साथ

क्या कोई दुर्घटना घटी थी, बच्चे का जन्म क्या सामान्य हुआ था, और बच्चा, जन्म के समय स्वस्थ था या कुछ समय के लिए वह संकट में था, ये सब सूचनाएं भी चार्ट में रहती हैं। अन्य प्रश्न बच्चे के घर के जीवन से संबंधित होते हैं। क्या मां-बाप बहुत चिंता करते हैं या बहुत सख्त हैं ? क्या बच्चे को कभी बहुत डर लगता था, या कोई आघात लग चुका है ? यदि बच्चा कठिनाई उत्पन्न करता है, या बहुत जिद्दी होता है, तो हम इसका कारण उसके अब तक के जीवन में ढूंढते हैं। जब ये बच्चे तीन वर्ष की आयु में हमारे पास आते हैं, तो प्रायः सभी में कुछ असामान्य तत्व होते हैं, परंतु उनका उपचार किया जा सकता है। अब हम बच्चों की कुछ सामान्य विकृतियों की चर्चा करेंगे।

साधारणतः यह प्रथा है कि बच्चे के दोषों पर एक-एक करके चर्चा की जाए और हरेक के उपचार के लिए अलग-अलग और प्रत्यक्ष उपाय बताया जाए। परंतु हमारा तरीका भिन्न है। यद्यपि दोषों की संख्या बहुत है पर उनका वर्गीकरण दो भागों में करेंगे, पहले भाग में सशक्त और मजबूत बच्चे हैं, जो अपनी रुकावटों का मुकाबला करके उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे भाग में कमजोर बच्चे हैं, जो प्रतिकूल परिस्थितियों से हार जाते हैं।

सशक्त बच्चों के दोष

सशक्त बच्चों में अक्सर ये दोष पाए जाते हैं—उच्छृंखलता, हिंसा की प्रवृत्ति, क्रोध के दौरे, आदेश की अवहेलना और आक्रामकता। वे कहना नहीं मानते हैं, और उनकी तोड़-फोड़ करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उनमें सामान्यतः स्वामित्व की भावना होती है जो स्वार्थ और ईर्ष्या को जनम देती है (इनकी ईर्ष्या निष्क्रिय नहीं होती, वरन वे दूसरों की चीजें छीन लेते हैं)। वे अपने उद्देश्य में स्थिर नहीं होते (सबसे छोटे बच्चे में आम बात है), उनका ध्यान किसी जगह केंद्रित नहीं होता, हाथ की क्रियाओं के समन्वय में कठिनाई होती है—अतः अक्सर चीजें हाथ से गिरती और टूटती हैं—उनका दिमाग कई तरफ दौड़ता है, मानसिक उलझाव रहता है, उनकी कल्पनाशक्ति अति तीव्र होती है। ऐसे बच्चे चीखते-चिल्लाते हैं और सामान्यतः शोर करते हैं। वे कमजोर बच्चों और जानवरों के प्रति अक्सर निर्दयता दिखाते हैं। वे जीभ के चटोरे होते हैं।

कमजोर बच्चों के दोष

कमजोर बच्चे स्वभाव से अकर्मण्य होते हैं और उनके सब दोष नकारात्मक होते हैं। वे निष्क्रिय और आलसी होते हैं। अपनी इच्छानुसार वस्तु प्राप्त करने के लिए रोते हैं और कोशिश करते हैं कि दूसरे उनकी सेवा करें । उनकी इच्छा होती है कि पूरे समय उनका दिल बहलाव होता रहे। वे बहुत जल्दी उकता जाते हैं। उन्हें हर चीज से डर लगता है और

वे बड़ों से चिपके रहते हैं। वे अक्सर सच नहीं बोलते (अपनी सुरक्षा का निष्क्रिय मार्ग) या चोरी करते हैं (यह भी मानसिक क्षतिपूर्ण का एक रूप है) आदि-आदि।

यह भी संभव है कि उनमें कुछ शारीरिक दोष दिखाई दें, जो वास्तव में मानसिक कारणों से उत्पन्न हुए हैं। जैसे, वे खाना न खाएं क्योंकि उन्हें भूख नहीं लगती, या वे बिना सोचे-समझे आवश्यकता से अधिक खा लें, जिसके कारण उन्हें हाजमे की शिकायत हो जाए। उनको डरावने सपने आते हैं, अंधेरे में डर लगता है, नींद ठीक से नहीं आती, और इसके कारण उन्हें शारीरिक कष्ट रहता है जिससे उनमें खून की कमी हो जाती है। (यह निश्चित है कि कुछ प्रकार की खून की कमी और जिगर के दोष मानसिक कारणों से ही होते हैं) उन्हें स्नायु संबंधी शिकायतें भी होती हैं। मानसिक कारणों से उत्पन्न ये तकलीफें, सामान्य इलाज द्वारा ठीक नहीं की जा सकतीं।

चरित्र और नैतिकता की समस्या

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य नैतिक आचरण और चरित्र पर, इन विकृतियों, दोषों और कमियों का प्रभाव पड़ता है, जो सामान्य और स्वस्थ विकास की उपयुक्त परिस्थितियों के न होने से, व्यक्तित्व में उत्पन्न हो जाती हैं।

ऐसे बहुत से बच्चे (विशेषतः सशक्त वर्ग वाले), घर वालों को बहुत परेशान करते हैं। मां-बाप उनसे पीछा छुड़ाने के लिए उन्हें आया के सुपुर्द कर देते हैं, या उन्हें स्कूल भेज देते हैं। मां-बाप के जीवित होने पर भी मानो वे अनाथ हों। यद्यपि उनके शरीर स्वस्थ रहते हैं, फिर भी मानसिक रूप से वे बीमार होते हैं, जिसके कारण वे बुरे आचरण की ओर प्रवृत्त होते हैं। मां-बाप की समझ में नहीं आता कि क्या करें। कुछ दूसरों की सलाह मांगते हैं, कुछ स्वयं ही समस्या से निबटने का प्रयास करते हैं। कभी वे सोचते हैं कि सख्ती करने से सब ठीक हो जाएगा। अतः वे उन्हें मारते हैं, उन पर चिल्लाते हैं, उन्हें भूखा रखते हैं, आदि। परंतु बच्चे और बिगड़ते जाते हैं तथा परेशान करते हैं, या उनका व्यवहार निष्क्रिय हो जाता है। फिर समझाने-बुझाने का प्रयास किया जाता है। उनसे तर्क किया जाता है, या प्यार की मनुहार की जाती है, "तुम अपनी मम्मी को इतना दुखी क्यों करते हो ?"

फिर अंत में मां-बाप हार मान लेते हैं और चिंता करना बंद कर देते हैं।

निष्क्रिय और प्रतिगामी बच्चों की ओर इतना ध्यान आकर्षित नहीं होता। उनके व्यवहार से कोई समस्या पैदा नहीं होती। मां सोचती है कि मेरा बच्चा बहुत अच्छा और आज्ञाकारी है, क्योंकि वह कुछ गलत काम नहीं करता। वह मां से चिपका रहता है और मां सोचती है कि यह उसका प्यार है। वह कहती है कि बच्चा मुझे इतना प्यार करता है कि मेरे बिना सोता भी नहीं है। पर बाद में वह देखती है कि उसकी क्रियाओं में, और बोलने में, ठीक प्रगति नहीं हो रही है। उसमें आत्मविश्वास नहीं है। वह कहती है, "उसका स्वास्थ्य तो बहुत अच्छा है, परंतु वह बहुत संवेदनशील है। उसे हर चीज से डर लगता है। उसे खाने

में भी दिलचस्पी नहीं है। वह पूरा आध्यात्मिक है। उसे खाना खिलाने के लिए मुझे कहानी सुनानी पड़ती है। लगता है कि वह या तो संत बनेगा या कवि।" परंतु अंत में मां को समझ में आता है कि वह बीमार है और वह डाक्टर को बुलाती है। बच्चे के विशेषज्ञ, इस मानसिक बीमारी से खूब धन कमाते हैं।

इसका इलाज

इन सब समस्याओं का इलाज हो सकता है, यदि हम रचनात्मक गतिविधियों का चक्र समझ लें, जिसे प्रत्येक बच्चे को, प्रकृति के अनुसार, पूरा करना पड़ता है। यह अब स्पष्ट हो गया है कि बच्चे के प्रत्येक दोष का कारण, शुरू के वर्षों में, उसके साथ हुआ कोई गलत व्यवहार होता है। यदि उस काल में बच्चे की उपेक्षा हुई हो, तो उसका मस्तिष्क रिक्त रह जाता है, क्योंकि उसे अपने मस्तिष्क की रचना का कोई अवसर नहीं मिला। यह रिक्त मस्तिष्क (जिस पर अब मनोवैज्ञानिक बहुत ध्यान दे रहे हैं) कई दोषों का मूल कारण है। एक और कारण है, रचनात्मक प्रवृत्ति से उत्पन्न बच्चे की स्वाभाविक गतिविधियों को अवसर न मिलना। ऐसे बच्चों को, पूर्ण विकास के लिए बहुत कम उपयुक्त परिस्थितियां मिल पाती हैं। बहुधा वे बिलकुल अकेले रहते हैं, अतः सोने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकते। या बड़े लोग उनका सारा काम कर देते हैं, जिससे वे अपने स्वयं की गतिविधियों के चक्र को पूरा नहीं कर पाते। इसका परिणाम, निष्क्रियता और आलस होता है। उससे सब चीजें छीन ली जाती हैं, अतः वे कोई चीज अपने हाथ में नहीं ले पाते, यद्यपि उन्हें बहुत सी चीजें, जो वे देखते हैं, लेने की चाह होती है। आखिरकार जब उन्हें कोई फूल या कीड़ा मिल जाता है तो उन्हें समझ में नहीं आता कि उसका क्या करें। अतः वे उसे कुचल देते हैं । अकारण डर की उत्पत्ति भी इसी प्रारंभिक काल में होती है।

हमारे स्कूलों के विस्तार का एक मुख्य कारण यह है कि जैसे ही बच्चों को ऐसा स्थान मिलता है जहां उन्हें अपने परिवेश में सक्रिय अनुभव प्राप्त करने की अनुमति रहती है, और वे अपनी क्षमताओं का खुला उपयोग करके अपने मस्तिष्क का विस्तार कर सकते हैं, वैसे ही उनके दोष मिटते हुए दिखाई देते हैं। उनके चारों ओर, करने के लिए दिलचस्प चीजें रहती हैं और वे अपनी इच्छानुसार जैसा चाहें, कर सकते हैं। अतः उनका ध्यान, एक के बाद एक काम में लगने लगता है। एक बार बच्चा जब इस अवस्था में पहुंच जाता है जिसमें वह अपनी पसंद का काम, ध्यान लगाकर कर सके, तो उसके दोष मिट जाते हैं। जो उच्छृंखल थे, वे अनुशासित होने लगते हैं, जो निष्क्रिय थे वे सक्रिय होने लगते हैं और जो बच्चा परेशान रहता था, वही अब कक्षा में सहायता करने लगता है। इन परिणामों से हमें यह समझ में आया कि बच्चों में जो पहले के दोष थे, वे अर्जित किए हुए थे और स्वाभाविक नहीं थे। ये बच्चे एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं थे, यद्यपि हो सकता है उनमें से एक झूठ बोलता हो और दूसरा कहना न मानता हो। परंतु इन सब दोषों का एकमात्र कारण था—मस्तिष्क के लिए अपर्याप्त आहार।

माताओं को सलाह

हम माताओं को क्या सलाह देंगे ? उनके बच्चों को कोई रोचक काम करने की जरूरत है। बच्चों की अनावश्यक सहायता नहीं करनी चाहिए। यदि वे कुछ समझदारी का काम करें तो उन्हें रोकना नहीं चाहिए। यदि बच्चा मानसिक रूप से भूखा है, तो प्यार, सख्ती, दवा आदि कोई भी बच्चे की सहायता नहीं कर सकते। यदि कोई व्यक्ति भोजन के अभाव में भूखा हो, तो हम उसे बेवकूफ नहीं कहते हैं, और न उसे मारते हैं और न उसकी उच्चतर भावनाओं से अपील करते हैं। उसे तो भोजन चाहिए, और कुछ नहीं। यही बात यहां भी है। सख्ती या नरमी से समस्या हल नहीं होगी। आदमी बौद्धिक जीव है। शारीरिक भोजन से अधिक उसे मानसिक भोजन चाहिए। वह अपने व्यवहार का निर्माण अपने आप करता है, जैसा जानवर नहीं करते। यदि बच्चा ऐसे मार्ग पर चल रहा है, जहां वह अपना आचरण व्यवस्थित कर सकता है, और अपने मानसिक जीवन की रचना करता है, तो सब ठीक होगा। उसकी परेशानियां समाप्त हो जाएंगी। उसके दुःस्वप्न मिट जाएंगे, उसकी पाचन क्रिया ठीक रहेगी, और उसका लालच भी कम हो जाएगा। चूंकि उसके मस्तिष्क का विकास सामान्य होता है; अतः उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो जाएगा।

अतः ये नैतिक शिक्षा की समस्याएं नहीं हैं, वरन चरित्र-निर्माण की हैं। चरित्र का अभाव, या चरित्र में दोष स्वयं मिट जाते हैं। उसके लिए बड़ों के प्रवचन की, या बड़ों के आदर्श उपस्थित करने की जरूरत नहीं होती। हमें धमकाने या फुसलाने की आवश्यकता नहीं है, वरन बच्चों की परिस्थितियों को सामान्य बनाने की है।

अध्याय उन्नीस

बच्चे का समाज को अनुदान : सामान्यीकरण

बच्चों के चारित्रिक दोषों (पिछले अध्याय में, सशक्त और कमजोर बच्चों के दोषों में भेद बताते समय जिनका हमने उल्लेख किया था) को समाज सदा बुरा नहीं मानता। कुछ दोषों को तो उपयोगी समझा जाता है। निष्क्रिय बच्चों को लोग अच्छा मानते हैं, परंतु सजीव कल्पना शक्ति वाले और नटखट, शोर मचाने वाले बच्चों को, विशेष प्रतिभाशाली, या बेहतर माना जाता है।

हम कह सकते हैं कि समाज उनका वर्गीकरण इस प्रकार करता है :

1. जिनके दोषों को सुधारने की आवश्यकता है।
2. जो अच्छे (निष्क्रिय) माने जाते हैं और जिन्हें अनुकरणीय माना जाता है।
3. जो उत्कृष्ट समझे जाते हैं।

इनमें अंतिम दो वर्गों के बच्चे बहुत अच्छे माने जाते हैं, और उनके मां-बाप को उन पर बहुत गर्व होता है, यद्यपि (जैसा अंतिम वर्ग के बच्चे के साथ होता है) इनके साथ रहना लोगों को कोई खास अच्छा नहीं लगता।

मैं इस वर्गीकरण की ओर आपका ध्यान इसलिए आकर्षित कर रही हूं क्योंकि यह सदियों से चला आ रहा है। फिर भी, मैंने अपने सबसे पहले और उसके बाद के सभी स्कूलों में यही देखा है, कि जैसे ही बच्चे किसी काम के प्रति आकर्षित होकर उसमें लीन हो जाते हैं, तो उनके ये दोष समाप्त हो जाते हैं। उनके तथाकथित बुरे, साथ ही अच्छे तथा श्रेष्ठ गुण, *सब विलुप्त हो जाते हैं* और केवल एक प्रकार का बच्चा रह जाता है। उस बच्चे में ऐसे कोई लक्षण नहीं होते।

इसका यह अर्थ है कि संसार अभी तक बच्चे के चरित्र में अच्छे और बुरे गुणों का, मूल्यांकन नहीं कर पाया है। हम सदा से जो सोचते आ रहे हैं, वह गलत साबित हुआ है। जैसा एक रहस्यवादी कथन है "हे परमेश्वर, सत्य केवल तुम्हीं में है, और सब माया है।" हमारे स्कूल के बच्चों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि बच्चों की वास्तविक इच्छा यही होती है कि वे सदा काम करते रहें। इसका, पहले किसी को अंदाज नहीं था, जैसे पहले किसी ने यह नहीं सोचा था कि बच्चे में अपना काम स्वतः चुनने की क्षमता होती है। अपने आंतरिक मार्गदर्शक का अनुसरण करके, वे किसी ऐसे कार्य में व्यस्त हो जाते थे (प्रत्येक भिन्न कार्य

चुनता था) जिससे उन्हें आनंद और शांति मिलती थी।

फिर एक और बात हुई जो पहले कभी बच्चों के समूह में नहीं देखी गई थी। उनमें स्वतः *अनुशासन* उत्पन्न हुआ। लोगों को सबसे अधिक इसी बात ने प्रभावित किया। स्वतंत्र होने के साथ-साथ बच्चे अनुशासित भी रहें, यह तो समस्या का ऐसा हल था जो असंभव प्रतीत होता था। हमारा तरीका था—स्वतंत्रता देकर, अनुशासन प्राप्त करना। इन बच्चों ने स्वतंत्रता से अपना काम चुना, और प्रत्येक बच्चा अलग-अलग प्रकार के कार्य में लीन हो गया। ये सब बच्चे एक ही वर्ग के थे और ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनमें पूर्ण अनुशासन हो। पिछले चालीस वर्षों से संसार के सबसे ज्यादा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, यह बात सत्य प्रमाणित हो चुकी है। इससे पता चलता है कि यदि बच्चों को ऐसे परिवेश में रखा जाए, जहां उन्हें व्यवस्थित क्रियाकलापों का अवसर मिले, तो उनमें यह नया लक्षण आ जाता है। दूसरे शब्दों में, समस्त मानव जाति के बच्चों में ऐसी ही मानसिकता विकसित होती है। इस पर अभी तक ध्यान नहीं गया था, क्योंकि बच्चे के अन्य अनुपयुक्त लक्षणों से यह तथ्य छिपा हुआ था।

यह परिवर्तन, जिससे सब बच्चे प्रायः एकरूप हो जाते हैं, क्रमशः धीरे-धीरे नहीं होता, वरन अकस्मात प्रकट होता है। यह परिवर्तन निश्चित रूप से किसी भी ऐसे बच्चे में होता है जो किसी कार्यकलाप के प्रति आकर्षित होकर, उसमें पूरी एकाग्रता से जुट जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अध्यापिका आलसी बच्चे से काम करने के लिए आग्रह करे। उसके लिए तो यही पर्याप्त है कि वह बच्चे को, उन उद्देश्यपूर्ण क्रियाकलापों के संपर्क में लाए, जो बच्चे के लिए तैयार किए गए परिवेश में उसके उपयोग के लिए उपस्थित रहते हैं। बच्चे को जैसे ही अपने लिए काम मिल जाता है, उसके दोष दूर हो जाते हैं। बच्चों के साथ तर्क करने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके अंदर से कुछ प्रस्फुटित होकर वाह्य क्रियाकलाप से जुड़ गया है। बच्चे की ऊर्जा इस ओर आकर्षित होती है, और इस अविरल क्रियाकलाप के पुनरावर्तन में बनी रहती है।

अपने आप में मानव पूर्ण इकाई है, पर उसकी एकता का निर्माण वास्तविक संसार में उन सक्रिय अनुभवों द्वारा होता है, जिनकी ओर, प्रकृति उसे प्रेरित करती है।

जन्म से तीन वर्ष की अवस्था तक, बच्चे के सब अंगों का विकास पृथक-पृथक होता है परंतु अंत में सब एकीकृत होकर ऐसे संगठित हो जाते हैं, कि सब अंग एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। दूसरी अवस्था अर्थात 3 से 6 वर्ष तक में यही होता है जब हाथ के काम का संचालन मस्तिष्क करता है।

यदि वाह्य परिस्थितियां इस एकीकरण को होने से रोकती हैं, तो यही ऊर्जाएं, सभी अर्ध निर्मित अंगों को, अपनी पृथक गतिविधियों को जारी रखने की ओर प्रेरित करती हैं। परिणामस्वरूप सबका विकास समान नहीं होता है जिससे उचित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती।

हाथ की क्रियाएं निरुद्देश्य हो जाती हैं, मस्तिष्क वास्तविकता से बहुत दूर विचरण करने लगता है; भाषा स्वांतः सुखाय होती है, शरीर की क्रियाएं बेढंगी हो जाती हैं। अतः इन पृथक

ऊर्जाओं को जब अपनी संतुष्टि के लिए कोई लक्ष्य नहीं मिलता, तब वे विकारपूर्ण और असामान्य वृद्धि उत्पन्न करती हैं, जिनसे संघर्ष और निराशा फैलती है।

ये दोष स्वयं व्यक्तित्व के दोष नहीं हैं। ये व्यक्तित्व को संगठित न कर पाने से उत्पन्न होते हैं।

ये दोष अस्थायी होते हैं, परंतु इनका इलाज नहीं हो सकता। ये तभी ठीक हो सकते हैं जब शरीर की सभी क्षमताएं, संपूर्ण व्यक्ति के उद्देश्यों के लिए मिल कर काम करें।

परंतु जब नए परिवेश के आकर्षण बच्चे को मोहित करते हैं जिससे बच्चे को रचनात्मक क्रियाकलापों के लिए प्रेरणा मिलती है, तब ये सब ऊर्जाएं, एकजुट होकर काम करने लगती हैं और ये दोष दूर हो सकते हैं। तब एक 'निराला बच्चा' अवतरित होता है, एक 'नया बच्चा' जन्म लेता है, परंतु वास्तव में बच्चे का यही असली 'व्यक्तित्व' है जिसे अपनी सामान्य रचना करने का अवसर मिला है।

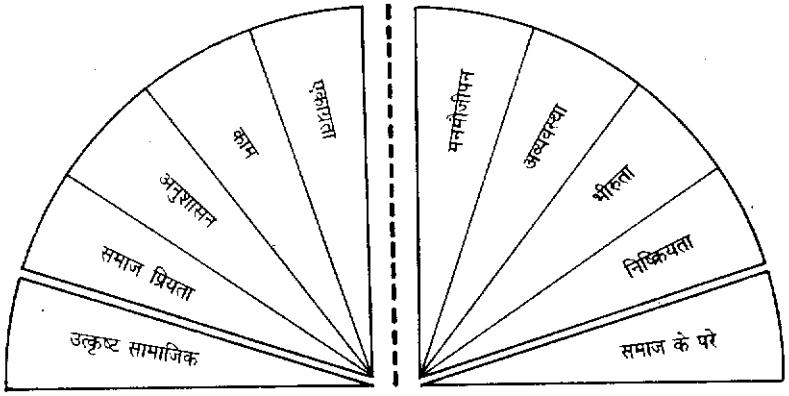

चित्र 10. बच्चों में सामान्य और विचलित चारित्रिक लक्षण

चित्र 10 में दाईं ओर, बच्चे की वे विशेषताएं लिखी हुई हैं जिनसे हम पहले परिचित थे। इन्हें उन रेखाओं से अंकित किया गया है जो पंखे की तरह, बाहर की ओर खुलती हैं। बीच में जो खड़ी चौड़ी लाइन है, वह किसी विशेष चीज पर एकाग्रता की प्रतीक है। वह सामान्यता लक्षित करती है। बच्चा जब एक बार एकाग्र होने लगता है, तब बीच की इस चौड़ी लाइन के दाहिने ओर की सब रेखाएं लुप्त हो जाती हैं। तब केवल वह एक प्रकार का बच्चा रह जाता है जिसकी विशेषताएं बाईं ओर की रेखाओं से दर्शाई गई हैं। इन समस्त सतही दोषों को दूर करने में वयस्क का कोई हाथ नहीं होता, वरन स्वयं बच्चा ही इन्हें दूर करता है। बच्चे का जब पूरा व्यक्तित्व, बीच की रेखा में केंद्रित हो जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि अब उसने सामान्यता प्राप्त कर ली है।

हमारे सभी स्कूलों में, जहां सब सामाजिक वर्गों, सब जातियों और सब सभ्यताओं के

बच्चे आते हैं, यह तथ्य निरापवाद साबित हो चुका है

यह हमारे कार्य का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम है।

जब मानसिक एकाग्रता के साथ, हाथ वास्तविक चीजों से काम करते हैं, तब बच्चा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण करता है।

बड़ों के मस्तिष्क का, मनोविश्लेषण द्वारा इलाज होने की मनोवैज्ञानिक घटना को तकनीकी शब्दावली में हम 'सामान्यीकरण' कहते हैं।

आज इतने वर्षों और इतने विस्तृत अनुभवों के बाद यह तथ्य पूर्णतः स्थापित हो चुका है। आज "कठिन बच्चों" के लिए अनेक "निदान केंद्र" खुल गए हैं। वे बच्चों को ऐसा परिवेश प्रदान करते हैं जहां बच्चों को अनेक प्रकार के काम करने की प्रेरणा मिलती है। इनमें से बच्चे अपनी पसंद का कार्य चुनकर, उसे करते हैं। इस चुनाव में, वे अध्यापक या अन्य किसी बड़े के नियंत्रण से मुक्त रहते हैं।

"खेल चिकित्सा" में भी बच्चा अनेक खिलौनों या अनुकरणीय खेलों में से अपनी पसंद का चुनाव करता है। उसके सामने विविध प्रकार के खेल रहते हैं और खेलों की ऐसी विविधता उसे घर में प्राप्त नहीं हो सकती।

यह पता चला है कि इस प्रकार की चिकित्सा से, तथा इसकी मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्याख्या से, (जिनकी सलाह से, बच्चे के घर के इलाज में सुधार हो सकता है) बच्चे के चरित्र में सुधार हो सकता है। परंतु यह भी, उस बच्चे के दूसरे बच्चों के साथ सामाजिक जीवन पर निर्भर करेगा।

परंतु इन निदान संस्थाओं का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। वे केवल "इलाज" कराने के स्थान होते हैं, जैसे नर्सिंग होम में बीमार जाते हैं। फिर भी समझने की आवश्यकता है कि यदि कार्य और स्वतंत्रता से बच्चों के दोष दूर हो गए हैं, तो बच्चे के सामान्य विकास के लिए भी कार्य और स्वतंत्रता की आवश्यकता होनी चाहिए।

ऐसा अक्सर देखा गया है कि पूरी तरह से या कुछ ठीक हो जाने के बाद यदि बच्चे वापस अपनी उन्हीं पुरानी परिस्थितियों में जाते हैं, जिनके कारण उनमें दोष उत्पन्न हुए थे, तो उनका सुधार अस्थायी होता है, क्योंकि उन्हें सामान्य बने रहने के अवसर नहीं मिलते।

कुछ देशों ने अपने स्कूलों में भी स्वतंत्रता और कार्यशीलता को अपनाने का प्रयास किया है, परंतु उन्होंने स्वतंत्रता और कार्यशीलता की बहुत अस्पष्ट व्याख्या की है।

स्वतंत्रता को उन्होंने बहुत सीमित ढंग से या प्राथमिक तरीके से समझा है। उनके अनुसार स्वतंत्रता के अर्थ हैं असह्य बंधनों से तत्काल मुक्ति अर्थात डांट-डपट और अधीनता का अंत। यह नकारात्मक अवधारणा है। अर्थात इसमें केवल दबाव और जबरदस्ती को हटाने की बात है। इससे बहुधा एक सरल प्रतिक्रिया होती है—बच्चे के आवेग फूट कर बाहर आते हैं जिन पर अब बड़ों का पहले जैसा नियंत्रण नहीं होता। बच्चे में जब तक आत्म नियंत्रण की क्षमता विकसित न हो, तब तक उसे अपने मनमाफिक कार्य करने देना, स्वतंत्रता की अवधारणा के साथ विश्वासघात होगा।

इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे उपद्रवी हो जाते हैं, क्योंकि उन पर अनुशासन थोपा गया था, बच्चे आलसी हो जाते हैं क्योंकि उनसे जबरदस्ती काम कराया जाता था : और वे कहना नहीं मानते, क्योंकि पहले उन्हें आज्ञापालन के लिए बाध्य किया जाता था।

इसके विपरीत सच्ची स्वतंत्रता, विकास का एक परिणाम है। यह बच्चे में, उसका संचालन करने की अंतर्निहित क्षमता का विकास है जो शिक्षा की सहायता से होता है। विकास में सक्रियता है। यह अपने प्रयास तथा अनुभवों द्वारा व्यक्तित्व की रचना करना है। यह वह लंबा मार्ग है जिस पर बच्चे को परिपक्वता प्राप्त करने के लिए चलना जरूरी है।

कमजोर और दबे हुए बच्चे पर कोई भी रोब जमा सकता है परंतु कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के विकास का कारक नहीं बन सकता। विकास सिखाया नहीं जा सकता।

यदि स्वतंत्रता से हम यह समझें, कि बच्चे जैसा चाहें उन्हें करने दिया जाए, और वे उपलब्ध चीजों का जैसे चाहे उपयोग या दुरुपयोग करें, तो स्पष्ट है कि इससे उनके विकार और बढ़ जाएंगे।

किसी कार्य को एकाग्र होकर करने से सामान्यीकरण आता है। अतः हमें क्रियाकलापों के लिए ऐसी प्रेरणा प्रस्तुत करनी होगी, जिसके प्रति बच्चे में इतनी रुचि हो कि उसका ध्यान पूर्णतः केंद्रित हो सके। यदि इस उद्देश्य के लिए हम ऐसी चीजों का प्रयोग करें, जो बच्चे की "मानसिक व्यवस्था" में भी सहायक हो, तो हमें सफलता अवश्य मिलेगी। यदि उनका सावधानी से, और उचित रूप में उपयोग हो तो इससे बच्चे की क्रियाओं में समन्वय स्थापित होगा।

मानसिक व्यवस्था और वैज्ञानिक ढंग से क्रियाओं में समन्वय आ जाने से, एकाग्रता प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप बच्चा अपने कार्यों में स्वतंत्रता प्राप्त करता है और इसके कारण उसके दोष दूर हो जाते हैं। यहां हम एकाग्रता की बात कर रहे हैं, व्यस्तता की नहीं। यदि बच्चा पूरे समय किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहे, पर उसका मन उन कार्यों में न लगे, तो चाहे वह उन्हें उचित ढंग से करे, पर उसके दोष दूर नहीं होंगे।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्य में बच्चे की इतनी रुचि जाग्रत हो कि उसका समस्त व्यक्तित्व उसमें लीन हो जाए।

"कठिन बच्चों" के निदान केंद्रों का उद्देश्य बच्चों के दोषों को दूर करना है, परंतु हमारे स्कूलों का उद्देश्य इन दोषों को दूर करना मात्र नहीं है। इन दोषों के दूर होने के बाद, "कार्य करने की स्वतंत्रता" से बच्चा अपने व्यक्तित्व को संगठित करता है, तथा उसका विकास करता है।

जिन बच्चों का सामान्यीकरण हो जाता है, वे ही अपने परिवेश की सहायता से, अपने आगे के विकास में उन गुणों को प्रदर्शित करते हैं जिनका हमने पहले वर्णन किया है—स्वाभाविक अनुशासन, निरंतर और प्रसन्नतापूर्वक कार्य करना, दूसरों की सहायता और उनके प्रति सहानुभूति की सामाजिक भावनाएं।

स्वतंत्रतापूर्वक चुनी गई गतिविधियां, उनकी नियमित जीवनचर्या बन जाती हैं। उनके दोषों के निदान से इस नए जीवन का प्रारंभ होता है।

इस जीवन की मुख्य विशेषता कभी नहीं बदलती—वह है काम करने की प्रवृत्ति। यदि कार्य रोचक हो, स्वतंत्रता से चुना गया हो, और उसके कारण एकाग्रता उत्पन्न होती हो, थकान नहीं; तो वह बच्चे की शक्ति और मानसिक क्षमताओं में वृद्धि करता है और बच्चा उसमें प्रवीणता प्राप्त कर लेता है।

ऐसे विकास में सहायता के लिए, हम बच्चे के सामने अव्यवस्थित ढंग से चीजों को प्रस्तुत नहीं करते वरन हम उत्तरोत्तर विकसित होती हुई रुचि के अनुसार, चीजों की व्यवस्था करते हैं। इसके परिणामस्वरूप, शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली स्थापित होती है, जो बालविकास के मनोविज्ञान पर आधारित है।

हमारे स्कूलों में बच्चों का चरित्र भी सुदृढ़ होता जाता है, और ज्ञान की खोज में बच्चों की बुद्धि और रुचि में भी वृद्धि हो जाती है।

हम कह सकते हैं कि ये बच्चे आध्यात्मिक कार्य कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने अपने व्यक्तित्व की पूर्णता, तथा अपनी आत्मा के विकास का मार्ग पहचान लिया है।

अपने विकास के लिए वे जो कार्य करते हैं, उनसे हमें गीता के एक सिद्धांत की याद आती है।

"उचित काम प्रदान करना बहुत महत्वपूर्ण है। मस्तिष्क को निरंतर कार्य करने की आवश्यकता है। आध्यात्मिक विकास के अर्थ हैं—सदा किसी सत्कार्य में व्यस्त रहना। आलसी मस्तिष्क में शैतान प्रवेश करता है। आलसी आदमी कभी आध्यात्मिक नहीं हो सकता।"

हम खलील जिब्रान से भी सहमत हैं : "प्रेम का प्रत्यक्ष रूप कर्म है।"

अध्याय बीस

बच्चा अपना चरित्र-निर्माण स्वयं करता है

जैसा हमने पिछले अध्याय में बताया, बच्चे स्वयं अपने चरित्र की रचना करते हैं और अपने अंदर उन गुणों का निर्माण करते हैं, जिनकी हम प्रशंसा करते हैं। ये गुण बच्चे में हमारे आचरण के अनुकरण से, या डांटने-फटकारने से नहीं आते, वरन केवल उन गतिविधियों से आते हैं जो बच्चा 3 से 6 वर्ष की आयु में करता है।

इस काल में, बच्चों को चरित्र के गुण कोई सिखा नहीं सकता। हम बस इतना ही कर सकते हैं कि बच्चों को वैज्ञानिक आधार पर शिक्षा दें, जिससे बच्चे बिना विघ्न और रुकावट के अपना कार्य ठीक से कर सकें।

सिर्फ बाद में ही यह संभव होता है कि हम बच्चे के मस्तिष्क पर, तर्क और उपदेश द्वारा प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकें। छह वर्ष की आयु के बाद ही हम बच्चे को नैतिकता की शिक्षा दे सकते हैं क्योंकि छह से बारह वर्ष की अवस्था में उसका सद्विवेक जाग्रत होता है और वह अच्छे और बुरे का भेद समझने लगता है। 12 से 18 वर्ष की आयु में, जब बच्चे में देशभक्ति, सामाजिक, धार्मिक आदि आदर्शों का प्रारंभ होता है तो उस पर और अधिक प्रभाव डाला जा सकता है, और तब हम उसको वयस्कों के समान उपदेश दे सकते हैं। दुख इस बात का है कि छह वर्ष के बाद बच्चे में चरित्र का तथा उसके गुणों का स्वाभाविक विकास नहीं होता। उसके बाद, बच्चे को उपदेश देने वाले, जो स्वयं आदर्श व्यक्ति नहीं होते, कई कठिनाइयों का सामना करते हैं। मानो वे असली तत्व को नहीं, वरन उसके प्रतिबिंब को प्रभावित करने का प्रयास कर रहे हैं।

युवा वर्ग को शिक्षा देने वाले, अक्सर शिकायत करते हैं कि यद्यपि वे विज्ञान, साहित्य आदि विषय पढ़ाते हैं, परंतु उनके विद्यार्थी इन्हें नहीं सीख पाते। ऐसा नहीं है कि उनमें बुद्धि का अभाव है, वरन वे चरित्र की कमी के कारण नहीं सीख पाते हैं। चरित्र के बिना उनमें कोई प्रेरणा नहीं होती। केवल उन बच्चों में, जो शुरू में बदमिजाजी और बुरे व्यवहार के बावजूद, चरित्र के कुछ मूल गुणों को बचाने में सफल हुए हैं, थोड़ा व्यक्तित्व शेष रहता है। अक्सर अधिकांश बच्चों में कोई व्यक्तित्व नहीं होता।

इन बच्चों से ध्यान लगाने के लिए कहना व्यर्थ है, क्योंकि इनमें यह क्षमता नहीं होती। हम उनसे यह आशा कैसे करें कि वे अपना काम सावधानी से और धैर्यपूर्वक करेंगे, जबकि ये दोनों ही गुण (सावधानी और धैर्य) उनमें लुप्त हो चुके हैं। मानो हम किसी बिना पांव

वाले व्यक्ति से कहें, "अच्छी तरह चलो।"

ऐसे गुण अभ्यास द्वारा विकसित होते हैं, आदेश देने से नहीं आते।

तो फिर क्या किया जाए ?

समाज कहता है, "आप स्वयं बच्चों के प्रति सहनशीलता दिखाएं। हम उन्हें केवल अपने अच्छे आदर्श, और सद्भाव से प्रभावित कर सकते हैं।" समाज को आशा रहती है कि समय और धीरज से, शायद उन्हें कुछ उपलब्धि हो। परंतु वास्तव में उन्हें कुछ उपलब्धि नहीं होती। समय बीतने से हमारी आयु बढ़ती जाती है परंतु उससे हमें प्राप्त कुछ नहीं होता। समय और धीरज स्वयं अपने आप कुछ नहीं कर सकते। हमें जो अवसर रचनात्मक अवस्था में मिलता है, उसका हमें लाभ उठाना चाहिए।

यदि हम समस्त मानव जाति पर विचार करें, तो एक और बात स्पष्ट होती है। बच्चों की तरह, वयस्क भी, *मुख्यतः अपने दोषों के द्वारा* ही एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। परंतु उनके व्यक्तित्व की गहराई में कोई ऐसा तत्व छिपा रहता है जो सब वयस्कों में एक जैसा होता है। सभी में यह प्रवृत्ति होती है, चाहे वह कितनी ही अस्पष्ट और अचेत हो, कि वे अपने को ऊंचा उठाएं, अर्थात वे किसी प्रकार की आध्यात्मिकता की आकांक्षा करते हैं। इस प्रवृत्ति का, व्यक्ति के चरित्र के दोषों पर चाहे कितना ही कम प्रभाव पड़े, परंतु कभी न कभी यह व्यक्ति पर, सुधार के लिए दबाव डालती है। व्यक्ति और समाज, दोनों में ही प्रगति के लिए निरंतर प्रवृत्ति होती है।

मानव जाति के अचेतन में, प्रकाश की एक छोटी सी किरण रहती है जो उसे बेहतर चीजों की ओर प्रेरित करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का आचरण, जानवरों की तरह अपरिवर्तनीय नहीं होता। उसमें प्रगति हो सकती है और मनुष्य में आगे बढ़ने की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

अगले पृष्ठ पर चित्र 11 में, एक घेरा सबसे मध्य में स्थित है जो आदर्श आचरण अंकित करता है। इसके चारों ओर जो क्षेत्र है, वह अधिक सशक्त और संतुलित प्रकार के मनुष्य को दर्शाता है, जो लगभग आदर्श के निकट होते हैं या "सामान्य" होते हैं। इसके चारों ओर की जगह उस विशाल मानव समूह की ओर संकेत करती है, जो विभिन्न मात्राओं में, सामान्यता नहीं प्राप्त कर पाए हैं। बाहरी परिधि में एक छोटे क्षेत्र का घेरा है जो मानव के उन वर्गों को दर्शाता है जो सामान्य नहीं हैं—वे या तो समाज के परे हैं या असामाजिक लोग हैं। समाज के परे व्यक्ति पागल होते हैं, और असामाजिक व्यक्ति अपराधी होते हैं। पागल और अपराधी, अपने को सामाजिक जीवन के अनुकूल नहीं बना पाते हैं। शेष सब थोड़ा-बहुत अनुकूलन कर लेते हैं। शिक्षा की समस्याओं का संबंध उन्हीं से है जो किसी मात्रा में इस अनुकूलन की परिधि में आते हैं।

अपने संसार के प्रति यह अनुकूलन प्रथम छह वर्षों में होता है। इसी अवधि में चरित्र की जड़ें उग आती हैं। अनुकूलन प्राप्त करना भी कितनी बड़ी समस्या है। मध्य घेरे के बाहर वाले घेरे में वे व्यक्ति आते हैं, जो आदर्श के काफी निकट पहुंच गए हैं। वे सबसे

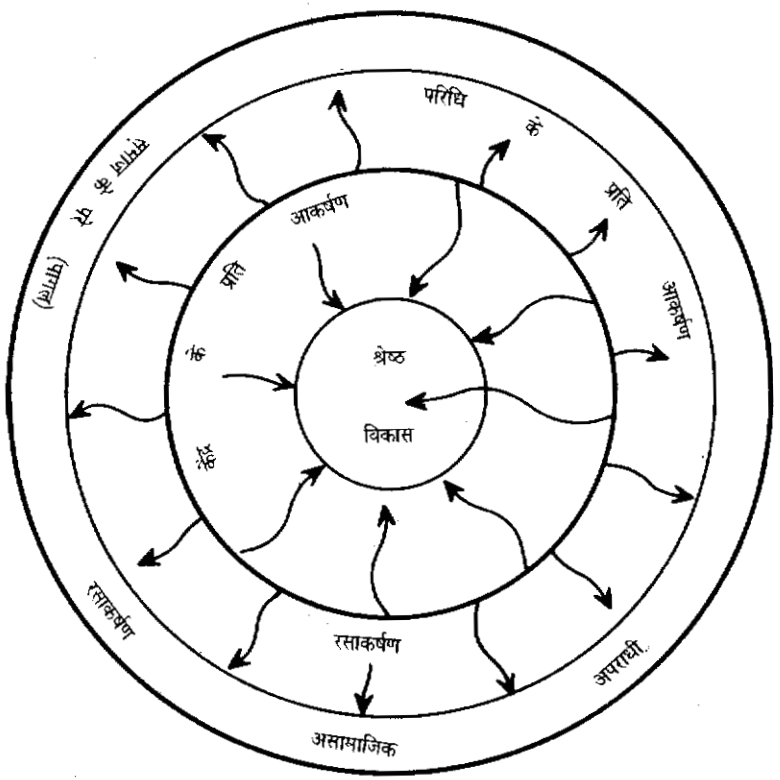

चित्र 11. अच्छे और बुरे सामाजिक प्रकारों के लिए आकर्षण वृत्त

सशक्त होते हैं, क्योंकि या तो उनमें अधिक ऊर्जा थी, या उन्हें बेहतर परिवेश मिला। इसके बाहर के घेरे में वे व्यक्ति हैं, जिनमें ऊर्जा कम थी या जिन्हें अधिक रुकावटें मिलीं। सामाजिक जीवन में प्रथम श्रेणी वाले व्यक्ति सबसे दृढ़ चरित्र के माने जाते हैं और इसके बाहर के घेरे वाले व्यक्ति कमजोर चरित्र के समझे जाते हैं। प्रथम श्रेणी वाले व्यक्तियों को, केंद्र की ओर—आदर्श की ओर—एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। दूसरी श्रेणी वालों में, असामाजिक तथा समाज के परे वाली बाह्य परिधि की ओर, चले जाने की प्रवृत्ति होती है। ये सदा प्रलोभन का शिकार हो जाते हैं, और यदि ये निरंतर प्रयत्न न करें, तो ये घटिया किस्म के व्यक्ति बन जाते हैं। अतः इन्हें प्रलोभन से बचाने के लिए नैतिक सहारे की आवश्यकता होती है। यह प्रलोभन उन्हें किसी सुख की ओर आकर्षित नहीं करता है क्योंकि अपराधी और पागल बनने का विचार किसी को सुखी नहीं बना सकता । परंतु गुरुत्वाकर्षण के समान यह ऐसा आकर्षण है जिसका मुकाबला करना प्रायः असंभव है। इसके विरुद्ध निरंतर संघर्ष करने की और अपनी सुरक्षा करने की आवश्यकता है। बुराई का मुकाबला करना, सद्गुण माना

जाता है क्योंकि यह हमें नैतिक पतन से बचाता है। ये पीड़ित व्यक्ति, इस पतन से बचने के लिए अपने ऊपर कई नियम आरोपित करते हैं। वे किसी बेहतर व्यक्ति से, अपने को जोड़ लेते हैं। वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें प्रलोभन से बचाएं। वे अधिकाधिक प्रयास करते हैं, कि वे सद्गुणों को अपनाएं। परंतु यह जीवन बड़ा कठिन होता है। तपस्या, आनंदमयी नहीं होती। जैसे कोई पर्वतारोही, संतुलन बनाए रखने के लिए किसी बाहर निकली हुई चट्टान से चिपटा हुआ हो। युवा वर्ग को इस रीतेपन के संत्रास से बहुत भय लगता है, और शिक्षक उन्हें समझा कर, तथा उनके सामने दूसरों का आदर्श प्रस्तुत करके, उनकी सहायता करने का प्रयास करते हैं। वे स्वयं को अनुकरण के लिए आदर्श के तौर पर प्रस्तुत करते हैं यद्यपि कभी-कभी उनमें भी वही प्रवृत्ति और भय उत्पन्न होते हैं। कितनी बार वे खुद सोचते हैं, "मुझे एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। वरना मेरे शिष्यों का क्या होगा ?" और यह चिंता उनके लिए बोझ बन जाती है। छात्र और शिक्षक, दोनों ही तीसरे घेरे वाले वर्ग के व्यक्ति हैं। आज हम इसी वातावरण में चरित्र और नैतिकता की शिक्षा देते हैं। चूंकि अन्य कोई पद्धति नहीं मालूम, यही ग्रहण कर ली गई है। अधिकांश लोग सदा इन सीमाओं में रहते हैं और मानव जाति प्रलोभन से सुरक्षा की कार्यवाही को स्वाभाविक मानती है।

अंदर के घेरे में अपेक्षाकृत सशक्त लोग हैं जो आदर्श की ओर आकर्षित होते हैं। यहां गुरुत्वाकर्षण की तरह का कोई अनिवार्य आकर्षण नहीं होता किंतु बेहतर बनने की सच्ची लालसा होती है। बहुधा, पूर्णता की संभावना के बिना भी आकांक्षा होती है। चाहे जो हो, ये लोग स्वभावतः और अनायास आदर्श स्थिति की ओर आकर्षित होते हैं। ऐसा नहीं है कि जेल जाने का डर उन्हें चोरी करने से रोकता है, या दूसरों की संपत्ति प्राप्त करने के प्रलोभन से वे संघर्ष करते हैं, या वे हिंसात्मक कार्यों की ओर आकर्षित होते हैं, लेकिन सद्गुणों का ढोंग रच कर अपने को रोकते हैं। उनको दूसरों की चीजें लेने की इच्छा ही नहीं होती और हिंसा से वे घृणा करते हैं। पूर्णता उन्हें आकर्षित करती है क्योंकि वह उनके स्वभाव में होती है। उसकी खोज में, उन्हें कोई त्याग नहीं करना पड़ता वरन उससे उनकी स्वाभाविक इच्छाओं को संतोष मिलता है।

यह भिन्नता कुछ वैसी ही है जैसी सामिष और निरामिष भोजन करने वालों के मध्य होती है। मांस खाने वाले कई व्यक्ति, सप्ताह में कुछ दिन, इससे परहेज करते हैं। 'लेंट' के अवसर पर वे चालीस दिनों का उपवास रखते हैं या उन दिनों मांस तथा अन्य भोगविलास की वस्तुओं का उपयोग नहीं करते। उन्हें अपना यह कार्य एक तपस्या जैसा लगता है जिसमें कमाए गए पुण्य द्वारा वे प्रलोभन से बच सकेंगे।

ये लोग, दूसरों के बनाए हुए, या उनके आध्यात्मिक गुरु के द्वारा दिए गए, नियमों का पालन करते हैं। परंतु ये अदर के घेरे में शामिल नहीं किए जाएंगे। उस घेरे में वे व्यक्ति आएंगे जो दिव्य पुरुष हों, या शाकाहारी हों, जिन्हें मांस प्रलोभित न करता हो। ये मांस से दूर रहते हैं। उन्हें किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे पूरी लगन से,

अपनी स्वाभाविक प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं।

एक दूसरा उदाहरण, अच्छे और बुरे स्वास्थ्य वाले व्यक्तियों का है। जिसको श्वास का पुराना रोग है, उसे सदा अपनी छाती की रक्षा के लिए गरम कपड़ा पहनना होगा, तथा गरम पानी से नहाना होगा और अच्छे रक्त-संचार के लिए मालिश करवानी होगी। यद्यपि वह दिखने में सामान्य लगता है परंतु उसे सदा सावधानी की जरूरत है। जिस रोगी की पाचन-क्रिया बिगड़ी हुई हो उसे नियमित समय पर विशेष प्रकार का भोजन करना पड़ेगा जिससे वह स्वस्थ बना रहे। ऐसे व्यक्ति दूसरों की तरह सक्रिय तो रहते हैं, लेकिन बहुत सावधानी के साथ। उनके मन में सदा अस्पताल या मृत्यु का डर बना रहता है। वे सदा अपने डॉक्टरों पर आश्रित रहते हैं, अपने लिए नर्स रखते हैं या अपने परिवार वालों से निरंतर सहायता की मांग करते हैं। परंतु जरा उन व्यक्तियों पर नजर डालिए जिनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वे नियमों की परवाह किए बिना, जो मन में आता है खाते हैं, हर प्रकार के मौसम में बाहर घूमते हैं, यहां तक कि ऐसी झील में भी तैरने को तैयार हो जाते हैं जिसमें बर्फ जम गई हो। परंतु दूसरे व्यक्ति घर को बंद करके अंदर रहते हैं और बाहर निकलने में डरते हैं। तीसरे घेरे में जो कमजोर व्यक्ति हैं, उन्हें हर स्थिति में आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता होती है। ये गुरु उन्हें प्रलोभन और पतन के गड्ढे में गिरने से बचाते हैं। परंतु अंदर के घेरे वाले व्यक्तियों को ऐसी किसी सहायता की इस मात्रा में जरूरत नहीं होती। उनके लिए आनंद के दरवाजे खुले रहते हैं जिनकी अन्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकते।

अब हम इस केंद्रीय घेरे की बात करें जो पूर्णता का घेरा है। हमारी कोशिश तथ्यों के आधार पर चरित्र को रखने की हो। पूर्णता क्या है ? क्या इसका यह अर्थ है कि हम समस्त गुणों को उनके उच्चतम स्तर तक प्राप्त करें ? यदि इसका अर्थ यही है तो इस प्राप्ति के बाद हमें क्या मिलेगा ? यहां भी हमें अपने विचारों को स्पष्ट करना चाहिए। चरित्र से हमारा तात्पर्य मनुष्य के उस आचरण से है, जो वह प्रगति की ओर प्रेरित होकर (यद्यपि अधिकतर अचेतन रूप से) करता है। सामान्य प्रवृत्ति यही है। मानवता तथा समाज की प्रगति विकास की ओर होनी चाहिए। भगवान की ओर भी एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। परंतु यहां हम पूर्णता के केवल मानवीय केंद्र अर्थात—मानव जाति की प्रगति पर विचार करेंगे। कोई व्यक्ति नई खोज करता है, और समाज उस कारण प्रगति की ओर बढ़ता है। यही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी होता है। एक व्यक्ति ऊंचा स्तर प्राप्त करता है और समाज को आगे की ओर ले जाता है। हम आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षेत्र में, जो कुछ भी जानते हैं, वह किसी न किसी व्यक्ति की उपलब्धि रही है। हमें इतिहास और भूगोल में जो कुछ भी मालूम है, यदि उस पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि इतनी निरंतर प्रगति का कारण यही है कि प्रत्येक युग में कोई न कोई मनुष्य इस पूर्णता के घेरे से प्रेरित होकर काम करता रहा है। यह मनुष्य अंदर के घेरे में था, पर उसे प्रलोभन के खिलाफ संघर्ष करने में अपनी ऊर्जा खर्च नहीं करनी पड़ी, क्योंकि उसमें आत्मविश्वास था। इन्हीं ऊर्जाओं को वह किसी ऐसे कार्य में लगा सकता है जो स्वयं से संघर्ष करने वाले दुखी लोगों की

दृष्टि में असंभव होता है। एडमिरल बायर्ड ने दक्षिणी ध्रुव की खोज के अभियान के लिए, धन जमा करने का अपमानजनक कार्य किया। फिर उसने ध्रुव की यात्रा की समस्त यातनाएं झेलीं। परंतु वह तो केवल ऐसा काम करने का आकर्षण अनुभव कर रहा था जिसे पहले कभी किसी ने नहीं किया था। अतः उसने पूर्णता के क्षेत्र में अपना झंडा गाड़ दिया।

अंत में हम कह सकते हैं कि चरित्र की दृष्टि से, मानव जाति में, तीसरे घेरे वाले लोग सबसे अधिक हैं। अधिकांश लोगों को, खड़े होने के लिए बैसाखी की जरूरत होती है। यदि संसार में वर्तमान शिक्षा प्रणाली चलती रही, तो मानव जाति का स्तर और नीचे गिरेगा।

मान लीजिए कि तीसरे घेरे से एक धर्म उपदेशक को आकर अंदर के घेरे के बच्चों को प्रवचन देना है। वह कहेगा, "मांस मत खाओ। इससे पाप लग सकता है।" बच्चे उत्तर देंगे, "ठीक है। हमें मांस अच्छा ही नहीं लगता।" या वह धर्मोपदेशक किसी अन्य से कहे, "तुम्हें इन कपड़ों में सर्दी लग जाएगी। कुछ और गरम कपड़े पहनो।" इस पर उत्तर मिलेगा, "हमें सर्दी नुकसान नहीं करती। हम काफी गरम हैं।" स्पष्ट है कि तीसरे घेरे के शिक्षक बच्चों को पूर्णता के घेरे की ओर ले जाने के बजाए, उनका स्तर और नीचे गिराते हैं।

यदि हम उन कार्यक्रमों का परीक्षण करें, जो स्कूलों के लिए बनाए जाते हैं, तो हम देखेंगे कि वे कितने अपूर्ण और नीरस हैं। वर्तमान शिक्षा बहुत ही निम्न स्तर की है। वह हीन भावना उत्पन्न करती है और सप्रयास, मनुष्य की क्षमता कम करती है। उसका संगठन ही ऐसा है कि वह हमारे ज्ञान को सीमाबद्ध करती है, जो स्वाभाविक स्तर से बहुत नीचे है। शिक्षा मनुष्यों को बैसाखी पकड़ाती है, जबकि वे अपने पांवों पर भाग सकते हैं। यह दिशा मनुष्य की निम्नतर क्षमताओं पर आधारित है, उच्चतर क्षमताओं पर नहीं। यदि अधिकांश मनुष्य निम्न श्रेणी के हैं, तो इसमें गलती आदमी की ही है, क्योंकि उनके रचनात्मक काल के दौरान, उनके चरित्र-निर्माण को रोका गया था। हमें वास्तविक मानव स्तर फिर से प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना होगा, और अपने बच्चों को उनकी रचनात्मक क्षमताओं के प्रयोग का अवसर देना होगा। तब शायद दूसरा घेरा, जो पूर्णता का नहीं है लेकिन जिसकी प्रवृत्ति उस ओर है जो सदा अपनी सुरक्षा में रत नहीं रहता वरन विजय का अवसर ढूंढता है, समस्त तीसरे घेरे पर छा जाएगा। यदि मनुष्य के पूरे जीवन में, मानसिक रचना का केवल एक अवसर आता है, और यदि उस समय वह रचना न हो सके, या दोषपूर्ण परिस्थितियों के कारण रचना दोषपूर्ण हो, तो निस्संदेह अधिकांश मानव जाति अविकसित रह जाएगी। पर यदि स्वाभाविक रूप से चरित्र का विकास होने दिया जाए, और हम नैतिक प्रवचन देने के बजाए उन्हें रचनात्मक कार्यों का अवसर दें, तो इसके लिए संसार को एक नितांत भिन्न प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होगी।

कृत्रिम प्रतिबंध समाप्त हो जाएंगे और महान कार्य करने का मनुष्य को अवसर मिलेगा। हम संपूर्ण इतिहास और संपूर्ण दर्शन शास्त्र पढ़ने के बाद भी अक्षम बने रह सकते हैं। परंतु यदि हमें वे साधन दे दिए जाएं, जो हमें महान प्रयत्नों के लिए प्रेरित करें, तो परिणाम बहुत

भिन्न होगा। परंतु इसके लिए हमें उन चीजों का प्रयोग करना चाहिए जिनके प्रति मनुष्य में आकर्षण हो। हमें उन्हीं गुणों को प्रोत्साहित करना चाहिए जिनका निर्माण रचनात्मक काल में होता है। यदि उस काल में उन्हें विकसित होने का अवसर नहीं मिला, तो वे बाद में प्रकट नहीं होंगे। उपदेश से या आदर्श आचरण से वे पुनर्जीवित नहीं हो सकते।

पुरानी और नई शिक्षा-प्रणाली में यही भेद है। हम उचित समय पर, मनुष्य के आत्म-निर्माण में सहायता करना चाहते हैं जिससे मानव जाति महानता की ओर आगे बढ़े। समाज ने दीवालें और रुकावटें खड़ी कर रखी हैं। नई शिक्षा इन्हें गिरा कर, स्वतंत्र क्षितिज को उद्घाटित करेगी। यह एक अहिंसात्मक क्रांति होगी। यदि यह सफल हो गई, तो उसके बाद हिंसात्मक क्रांति सदा के लिए असंभव हो जाएगी।

अध्याय इक्कीस

बच्चों में स्वत्व की भावना और उसका रूपांतरण

हमारे प्रयोगों के फलस्वरूप जो तथ्य सामने आए हैं, उन पर सामान्य अवलोकन के बाद, अब हम उनका अलग-अलग अध्ययन करेंगे और उनकी व्याख्या करेंगे। बच्चों की आयु और चीजों में उनकी गहरी दिलचस्पी से हमें काफी विचारणीय सामग्री मिली है, क्योंकि विशेषतः उनके कार्यकलापों में मानव जाति की उच्चतम विशेषताएं परिलक्षित होती हैं।

इन सभी क्रियाकलापों में हमें निर्माण की एक प्रक्रिया दिखाई देती है। जैसे कैटरपिलर जब विकास की एक विशेष अवस्था में पहुंचता है तो वह पत्तियों पर रेंगना बंद कर देता है और दो डंठलों के जोड़ की जगह, अपनी विशेष रहस्यमय गतिविधि शुरू करता है। कुछ समय बाद हमें वहां बहुत बारीक और पारदर्शी धागा निकलता दिखाई देगा जिससे 'ककून' की उत्पत्ति होती है। इसी तरह, बच्चों में जो बात हमें सबसे पहले दिखाई देती है, वह है उनका एकाग्र होकर किसी चीज पर ध्यान केंद्रित करना। हमारे प्रथम स्कूल में एक साढ़े तीन वर्ष की लड़की थी, जिसमें यह लक्षण बहुत आश्चर्यजनक मात्रा में था। चारों ओर रोचक चीजें होने पर भी, उसका अपने काम से, ध्यान भंग नहीं होता था। इतनी गहरी एकाग्रता वयस्कों के अतिरिक्त कहीं और कम दिखाई देती है और वयस्कों में भी यह असाधारण व्यक्तियों में होती है। सामान्यतः इसे हम अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्तियों का लक्षण मानते हैं। स्वाभाविक है कि इतनी छोटी लड़की में, इसे उस श्रेणी का लक्षण तो नहीं माना जा सकता। लेकिन हमने देखा कि सभी बच्चों में यह लक्षण उपस्थित रहता है अतः हम इसे एक मूल तत्व मानने को बाध्य हुए। जैसे परकाल (कंपास) के प्रयोग में, बीच के बिंदु को निर्धारित करने के बाद ही घेरा खींचा जा सकता है, उसी तरह बच्चे के निर्माण में, ध्यान की एकाग्रता से ही आगे का विकास होता है। कोई यह नहीं कह रहा है कि सदा ध्यान को समान रूप से केंद्रित होना चाहिए या समान चीजों पर केंद्रित होना चाहिए, लेकिन जब तक एकाग्रता नहीं होगी, आगे निर्माण नहीं हो सकता। जब तक उसका ध्यान केंद्रित नहीं होता चारों ओर की चीजें बच्चे पर हावी होती हैं। उसे हर चीज के प्रति आकर्षण होता है, और वह एक से दूसरी चीज की ओर लपकता रहता है। परंतु एक बार उसका ध्यान केंद्रित हो जाने के बाद, वह अपने पर, तथा अपनी दुनिया पर, नियंत्रण रखने में समर्थ हो जाता है।

हम सब जानते हैं कि जो आदमी अपना धंधा बार-बार बदलता है, वह कभी किसी उत्तरदायी पद के योग्य नहीं हो सकता। परंतु जिस व्यक्ति को स्पष्टतः अपना लक्ष्य मालूम है, और जो अपने काम का उचित संगठन कर सकता है वह अवश्य जीवन में सफल होगा। हम इसको इतना महत्व देते हैं कि विश्वविद्यालयों के छात्रों को बार-बार अपने में एकाग्रता लाने के लिए कहते हैं। परंतु उसका कोई असर नहीं होता। केवल अच्छी सलाह देना पर्याप्त नहीं होता। यदि यह बात वयस्कों के लिए सच है, तो कोई अध्यापक, साढ़े तीन वर्ष के बच्चे में एकाग्रता उत्पन्न करने की आशा कैसे कर सकता है ? एक बात निश्चित है कि कोई बच्चा, अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयत्न से अपना ध्यान केंद्रित नहीं करता।

हमारे छोटे बच्चों ने जो चित्त की एकाग्रता प्रदर्शित की, उससे बाल मनोविज्ञान के एक नए तत्व पर प्रकाश पड़ा है। इससे हमें पता चलता है कि प्रकृति किस प्रक्रिया से चरित्र का निर्माण करती है, उसका तरीका यह है कि उसने बच्चे को विशेष अभिरुचियां प्रदान की हैं—विशेष रचनात्मक कार्य करने के लिए अति तीव्र अभिरुचियां—जिनसे वह अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक अंग का विकास कर सके।

चित्त की एकाग्रता के बाद, दूसरी अवस्था अध्यवसाय या निरंतर प्रयत्न की है। यह चरित्र की एक और विशेषता है, जो इस समय प्रकट होती है। मैं पहले ही इस पर चर्चा कर चुकी हूं कि बच्चा अपनी क्रियाओं में कैसे पुनरावर्तन करता है, जिनका चूंकि कोई बाह्य उद्देश्य नहीं होता, अतः उनका अवश्य कोई आंतरिक उद्देश्य होना चाहिए। ध्यान के सर्वप्रथम केंद्रित होने के बाद यह पुनरावर्तन की क्रिया आरंभ होती है। इससे मानव चरित्र के निर्माण में एक दूसरी अवस्था आरंभ होती है। यहां पर भी, बच्चे की इच्छा-शक्ति नहीं, वरन प्रकृति की इच्छा-शक्ति ही क्रियाशील होती है। इसके द्वारा प्रकृति, मनुष्यों में उस क्षमता का निर्माण करती है जिसके कारण वे अपने आयोजनों को पूरा करने योग्य बन जाते हैं। अपनी क्रियाओं में पुनरावर्तन के साथ-साथ, बच्चा एक और तथ्य भी प्रदर्शित करता है। यह है, अपने द्वारा आरंभ किए गए कार्य को पूरा करने की योग्यता। हमारे स्कूल के बच्चे अपने कार्यों को स्वतंत्रतापूर्वक चुनते हैं और इस क्षमता को स्पष्टतः प्रदर्शित करते हैं। वे वर्षों तक इसका रोज अभ्यास करते हैं। यदि वयस्कों की दुनिया में हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिन्हें यह नहीं मालूम होता कि वे चाहते क्या हैं, तो हम यही कहते हैं कि उनके पास कोई संकल्प शक्ति नहीं है। पर जिन व्यक्तियों को इसका स्पष्ट बोध होता है कि वे क्या चाहते हैं और उसके लिए उन्हें कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए तो हम उन्हें दृढ़ संकल्प वाला योग्य व्यक्ति कहते हैं।

बच्चे प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने कार्यों का निर्णय करते हैं; वयस्क, सोच-विचार कर निर्णय करते हैं। यदि हम चाहते हैं कि बच्चा अपनी इस क्षमता का प्रयोग करे, तो यह स्पष्ट है कि हर क्षण कोई दूसरा उसका संचालन न करता रहे। बच्चे के अंदर का मार्गदर्शक उसके निर्णय को प्रभावित करता है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति इस कार्य को करने लगे, तो बच्चे को अपनी संकल्प शक्ति और चित्त की एकाग्रता का विकास करने का अवसर

नहीं मिलेगा। अतः यदि हम चाहते हैं कि बच्चा इन गुणों को प्राप्त करे, तो हमें सर्वप्रथम उसे वयस्क के चंगुल से मुक्त करना होगा। इसके अतिरिक्त, बच्चे की सबसे प्रबल स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि वह वयस्कों के नियंत्रण से स्वतंत्र हो और यह तर्कसंगत भी है, क्योंकि इससे बच्चे के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। परंतु बच्चा तर्क के अनुसार नहीं, अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है। प्रकृति ने उसके लिए मार्ग निर्धारित कर रखा है। यहां पर हम आदमी के विकास में, और जानवरों के जीवन में कितनी आश्चर्यजनक समानता देखते हैं। जानवरों के जीवन का मार्ग भी प्रकृति पहले से निर्धारित कर देती है, और अपनी जाति के वयस्कों से स्वतंत्र होकर, वे इस मार्ग का अनुसरण करते हैं। विकास और निर्माण का संचालन करने के लिए प्राकृतिक नियम हैं और यदि व्यक्ति अपने चरित्र का, अपने आंतरिक व्यक्ति का, निर्माण करना चाहता है तो उसे इन नियमों का पालन करना होगा।

यदि हम मनुष्य के मानसिक पक्ष के प्रत्येक पृथक भाग के निर्माण के बाद, उनका अवलोकन करें, तो इस बात की पुष्टि होगी कि यह निर्माण केवल शिक्षा के कारण नहीं, वरन उन प्रबल और जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा होता है जो स्वयं ब्रह्मांड का संचालन करती हैं। यह प्रकृति की इच्छानुसार होता है, हमारे करने से नहीं। यह सृष्टि का अंश है, शिक्षा का नहीं।

इन्हीं के साथ एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन भी होता है जो हमारे इस कथन की पुष्टि करता है। रुकावटों के कारण जिन बच्चों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, उनमें कुछ चारित्रिक विकार प्रकट होते हैं। काम करने से ये विकार दूर हो जाते हैं और बच्चे सामान्य हो जाते हैं।

एक आम विकार स्वत्व अर्थात स्वामित्व की भावना है। जो बच्चा सामान्यतः स्वामित्व प्राप्त कर चुका है और जिसे सब चीजों में रुचि की स्वतंत्रता है, उसका ध्यान उन चीजों पर नहीं, वरन उनसे प्राप्त ज्ञान पर केंद्रित होता है। अतः उन चीजों को प्राप्त करने की उसकी इच्छा में रूपांतरण हो जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिस बच्चे को किसी चीज के प्राप्त करने की तीव्र लालसा थी, वह उसको पाते ही या तो उसे खो देता है, या उसे तोड़ देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे पाने की तीव्र इच्छा के साथ-साथ उसे नष्ट करने का भी उसमें प्रबल आवेग है। फिर भी हम इसे आसानी से समझ सकते हैं, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें, कि बच्चे की रुचि, किसी भी चीज के लिए चिरस्थायी नहीं होती। एक क्षण के लिए उसे वह चीज आकर्षित करती है और फिर दूसरे ही क्षण उसे अलग उठा कर रख दिया जाता है। जैसे घड़ी को लीजिए। यह समय बताने के लिए लाई गई है और यही उसका वास्तविक महत्व है। परंतु एक छोटा बच्चा, जो यह भी नहीं जानता कि समय का क्या अर्थ होता है, घड़ी को नहीं समझ सकता। अतः यदि उसे घड़ी मिल जाए तो वह प्रायः उसे तोड़ देगा। एक बड़ा बच्चा, जो जानता है कि घड़ी किस लिए है शायद यह देखने में लीन हो जाए कि वह किस प्रकार बनी है। वह सावधानी से उसे खोल कर उसके पुरजों को देखेगा, कि वे कैसे चलते हैं। इसका यह अर्थ है कि अब उसे

घड़ी में रुचि नहीं रही। उसकी रुचि अब घड़ी के जटिल यंत्र में है। उसे अब वस्तु की चाह नहीं वरन उस वस्तु को समझने की चाह है।

यह स्वामित्व की भावना की दूसरी अवस्था है। इसमें बच्चे की इच्छा यह जानने की होती है कि चीजें कैसे काम करती हैं। इसको हम कई रूपों में देख सकते हैं। जो बच्चे फूलों को केवल इसलिए तोड़ते हैं, क्योंकि उन्हें फूलों की चाह होती है, वे शीघ्र ही उन्हें फेंक देते हैं या उनके टुकड़े कर देते हैं। यहां फूल को पाने के साथ-साथ, उसको नष्ट करने का भी आवेग होता है। परंतु यदि बच्चे को फूल के सब अंगों का ज्ञान है, उसकी पत्ती कैसी है, या उसके डंठल किस प्रकार से निकलते हैं, तो वह कभी उसे न तो तोड़ेगा न नष्ट करेगा। वह उसका अध्ययन करना चाहेगा। उसकी रुचि अब बौद्धिक हो गई है, और उसकी स्वामित्व की भावना ने ज्ञान प्राप्त करने की भावना का रूप ले लिया है। इसी तरह वह तितली को मार सकता है, क्योंकि वह उसे प्राप्त करना चाहता है। परंतु यदि कीटों के जीवन में, और प्रकृति में उनकी भूमिका के बारे में उसकी रुचि है, तो वह तितली का अध्ययन करेगा, उसे पकड़ेगा मारेगा नहीं। जब बच्चा अपने परिवेश के प्रति इतना आकर्षित होता है कि वह उससे प्रायः प्रेम करने लगता है, तब उसमें बौद्धिक स्वामित्व की भावना प्रदर्शित होती है। अपने परिवेश के प्रति इस प्रेम के कारण बच्चा उसकी बड़ी परवाह करता है और प्रत्येक चीज के साथ अति कोमलता से व्यवहार करता है।

यदि बौद्धिक रुचि के कारण किसी चीज पर स्वामित्व पाने की प्रबल इच्छा होती है, तो हम कहते हैं कि यह रुचि उच्च स्तर की है और इसके कारण बच्चे के ज्ञान में वृद्धि होगी। इस उच्च श्रेणी की रुचि में स्वामित्व की भावना नहीं होती वरन कुछ जानने की, प्यार करने की और सेवा की आकांक्षा होती है। इसी तरह से वैज्ञानिक अनुसंधान में हम जिज्ञासा का परिष्करण पाते हैं। जिज्ञासा खोज को प्रेरित करने वाली प्रेरणा है। यदि बच्चा किसी एक वस्तु से मोहित होता है, तो वह सभी वस्तुओं के संरक्षण में उत्साह दिखाएगा। हमारे सबसे पहले स्कूल में, बच्चों में जो परिवर्तन हुआ उससे हमने देखा कि उनमें स्वामित्व की भावना के स्थान पर उन चीजों के लिए प्यार और देखरेख की भावना उत्पन्न हो गई, जो हमने उनके सुपुर्द की थी। उनके प्रयोग के लिए जो कॉपियां दी गई थीं, उनका कोई पन्ना नहीं मुड़ा था, न किसी जगह स्याही का धब्बा था और न कहीं पर काट-छांट हुई थी। वे साफ सुथरी, सुव्यवस्थित रहती थीं, और बहुधा बच्चे उन पर सजावट कर देते थे।

जब हम मानव की महानता पर विचार करते हैं, जो इतिहास और विकास से प्रकट होती है, तो हम देखते हैं कि सर्वोत्तम की आकांक्षा उसकी प्रवृत्ति है। वह हर प्रकार से जीवन को समझने का प्रयास करता है, जिससे वह उसकी सुरक्षा कर सके, तथा उसमें सुधार कर सके और अंत में अपनी बुद्धि की प्रेरणा से जीवधारियों की सहायता कर सके। क्या किसान अपना सारा समय पेड़ पौधों और जानवरों की देखरेख में नहीं बिताता ? क्या वैज्ञानिक अपना समस्त समय माइक्रोस्कोप और लेंस के साथ व्यतीत नहीं करता ? मानवता का प्रारंभ छीनने और नष्ट करने से होता है, पर उसकी बुद्धि के फलस्वरूप उसका अंत

प्यार और सेवा में होता है। जिन बच्चों ने पहले बगीचे के पौधों को उखाड़ दिया था, वे अब उनका बढ़ना देखते हैं, उनकी पत्तियां गिनते हैं और उनकी ऊंचाई नापते हैं। वे अब "मेरा पौधा" नहीं कहते वरन "वह पौधा" कहते हैं। उनके मस्तिष्क में एक नई चेतना के उदय होने से उनमें यह उत्कृष्ट भावना और प्यार उत्पन्न हुआ है। विध्वंसक कार्यवाही का इलाज कभी उपदेश देने से नहीं हो सकता। यदि कोई बच्चा अपने लिए किसी चीज की मांग इसलिए करे, जिससे वह दूसरों को न मिल पाए, तो हम उसे उपदेश द्वारा या उसकी उच्च भावनाओं से अपील करके उसे सुधारने का प्रयास करते हैं। वह थोड़े से समय के लिए शायद रुक जाए पर शीघ्र ही फिर अपनी जिद शुरू कर देगा। केवल काम और एकाग्रता द्वारा ज्ञान और प्रेम प्राप्त होता है, जिससे बच्चे का रूपांतरण हो सकता है और उसका आध्यात्मिक पक्ष, जो अब तक छुपा हुआ था, प्रकट होता है।

ज्ञान, प्रेम और सेवा, सभी धर्मों के ये तीन आधार हैं। परंतु हमारी आध्यात्मिकता का सच्चा निर्माता बच्चा है। हमारे आचरण और चरित्र के निर्माण की जो योजना प्रकृति ने बनाई है, उसका बोध हमें बच्चे के द्वारा होता है। जीवन के नियमों के अनुसार, प्रकृति की सुविस्तृत योजना, हर आयु और कार्य के लिए उपस्थित है, परंतु उसे वह आजादी चाहिए जिसमें वह कार्य कर सके। महत्व भौतिक विज्ञान, या जीव विज्ञान या हस्त कौशल का नहीं है, वरन संकल्प-शक्ति तथा मानव व्यक्तित्व के घटकों का है जिनकी रचना कार्य द्वारा होती है। बच्चा ही मानवता की आत्मा का निर्माण करता है। बच्चे के स्वतंत्र विकास में रुकावटें डालने से हम मानव की आत्मा को बंदी बना लेते हैं।

अध्याय बाईस

सामाजिक विकास

परिवेश

बच्चे के विकास के लिए सर्वप्रथम एकाग्रता की आवश्यकता है। उसका चरित्र और सामाजिक व्यवहार पूर्णतया इसी पर आधारित है। उसे यह मालूम होना आवश्यक है कि ध्यान को कैसे केंद्रित किया जाए और इसके लिए उसे ऐसी चीजों की जरूरत है, जिन पर ध्यान केंद्रित हो सके। इसीलिए परिवेश की इतनी महत्ता है, क्योंकि बच्चे के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति बच्चे का ध्यान केंद्रित नहीं करा सकता। बच्चा ही अपने मानसिक जीवन को संगठित कर सकता है। हम लोगों में से कोई भी उसके लिए यह कार्य नहीं कर सकता। इसीलिए हमारे स्कूलों का महत्व है। ये ऐसे स्थान हैं जहां बच्चे को इस प्रकार का काम मिल सकता है जिन पर वह ध्यान केंद्रित कर सके।

जगह अलग-अलग होने से ध्यान केंद्रित करने में सहायता मिलती है। सारे विश्व में, जब लोग ध्यान लगाना चाहते हैं तो वे उसके लिए एक अलग जगह नियत कर देते हैं। हम किसी समाधि या मंदिर में जाकर क्या करते हैं ? वहां पर ध्यान लगाने के लिए उचित वातावरण बनाया जाता है। ये ऐसे स्थान हैं जो आपको चरित्र-निर्माण के लिए बाध्य करते हैं। बच्चों को बहुधा पांच वर्ष की अवस्था के बाद स्कूल में भरती किया जाता है। उस समय तक उनके निर्माण का सर्वाधिक काल समाप्त हो जाता है। परंतु हमारे स्कूल, बहुत छोटे बच्चों को, ऐसा आश्रय स्थल प्रदान करते हैं जहां उनके चरित्र के प्रथम तत्वों का निर्माण होता है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी महत्ता है।

जब मैंने सबसे पहले ऐसे वातावरण की उपयोगिता पर ध्यान आकर्षित किया जो विशेष रूप से बच्चों की जरूरतों को ध्यान में रख कर बनाया गया हो, तो वास्तुकारों, कलाकारों और मनोवैज्ञानिकों ने इसमें बहुत रुचि दिखाई। उनमें से कइयों ने मेरे साथ बैठकर कमरों का समुचित आकार, और ऊंचाई, और सजावट की बातें तय कीं जो ऐसे स्कूलों के लिए जहां एकाग्रता की सुविधा हो, बहुत जरूरी है। ऐसी इमारत का उद्देश्य केवल रक्षात्मक नहीं था और उसे लगभग मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। परंतु इसकी महत्ता, केवल उसकी लंबाई, चौड़ाई और रंग के कारण नहीं थी, वरन उन चीजों के कारण थी जो बच्चों के उपयोग के लिए प्रस्तुत की गई थीं। बच्चों को अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए ठोस

चीजें चाहिए। इन चीजों का निर्णय मनमाने ढंग से नहीं किया गया था, वरन बच्चों के साथ लंबी अवधि तक, प्रयोगों के आधार पर किया गया था।

प्रारंभ में हमने बच्चे के परिवेश में, थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सब प्रकार की चीजें रखीं, जिनमें से बच्चा अपनी इच्छानुसार किसी का भी चुनाव कर सकता था। हमने देखा कि उन चीजों में बच्चे कुछ विशेष चीजों को चुनते थे, और बाकी पर ध्यान नहीं देते थे। अतः बाद में हमने उन चीजों को निकाल दिया। आज हमारे स्कूलों में जो चीजें प्रयोग में आती हैं, वे केवल शुरू के कुछ परीक्षणों का परिणाम नहीं हैं, जिनके बाद हमने कुछ चीजों को हटा दिया था, वरन ये पूरे संसार के स्कूलों में परीक्षणों के बाद चुनी गई हैं। अतः हमारा यह कहना सही है कि इन चीजों को स्वयं बच्चों ने चुना है। हमने देखा कि कुछ चीजें ऐसी हैं जो सभी बच्चों को अच्छी लगती हैं। और इनको हम अत्यावश्यक मानते हैं। कुछ अन्य चीजें ऐसी थीं, जिन्हें वयस्कों की धारणा के विरुद्ध, बच्चे बहुत कम उपयोग में लाते थे और यह बात हमने सभी देशों में देखी। जहां भी हमारे सामान्यीकृत बच्चों को स्वतंत्रता से चुनने का अवसर मिलता था, सदा परिणाम समान होते थे। मैं उन कीड़ों के बारे में सोचती थी जो केवल और सदा उन्हीं फूलों के पास जाते हैं जो उनके लिए उपयुक्त हैं। यह स्पष्ट था कि बच्चों को इन्हीं चीजों की जरूरत थी। बच्चा उन्हीं चीजों का चुनाव करता है जो उसके विकास में सहायक होती हैं। शुरू में हमारे पास बहुत खिलौने थे, पर बच्चों ने सदा उनकी उपेक्षा की। रंगों को प्रदर्शित करने के लिए भी कई उपकरण थे, परंतु बच्चों ने केवल एक ही को चुना। यह थी चपटी चरखियां जिन पर रेशम का धागा लिपटा रहता है। आजकल हम सब जगह इन्हीं का उपयोग करते हैं। यही बात सभी देशों में देखी गई। रंग वाले क्षेत्र की शकल और रंग की तीव्रता के लिए भी हमने बच्चों की इच्छा को ही माना। बच्चों की चीजों का इतनी सूक्ष्मता से निर्माण करने का प्रभाव कक्षा के सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है। यदि चीजें बहुत ज्यादा होती हैं या तीस या चालीस बच्चों के बीच में एक पूरे सेट से अधिक सेट होता है, तो इससे गड़बड़ी होती है। अतः हम कम चीजें रखते हैं, चाहे बच्चों की संख्या अधिक हो।

प्रत्येक वस्तु का केवल एक ही नमूना रखते हैं। यदि एक बच्चा किसी चीज का उपयोग कर रहा है और दूसरा बच्चा भी वही चीज चाहता है, तो दूसरा बच्चा—यदि वह सामान्य हो चुका है—उस चीज के खाली होने तक इंतजार करेगा। इससे महत्वपूर्ण सामाजिक गुण व्युत्पन्न होते हैं। बच्चे को यह समझ में आ जाता है कि उसे दूसरे के कार्य का भी सम्मान करना चाहिए—इसलिए नहीं क्योंकि किसी ने उससे ऐसा कहा है, वरन इसलिए कि वह रोज इस वास्तविकता को देखता है। अनेक बच्चों के बीच में केवल एक चीज होने के कारण, उसके लिए इंतजार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। और चूंकि यह वर्षों तक, प्रतिदिन, प्रतिघंटे, होता है, अतः दूसरों के कार्य का सम्मान करना, और अपनी बारी का इंतजार करना, उसकी आदत बन जाती है, और इस तरह वह परिपक्वता की ओर बढ़ता है।

इससे बच्चे में एक परिवर्तन होता है, एक अनुकूलन होता है, और यही सामाजिक जीवन का आरंभ है। समाज का आधार व्यक्तिगत इच्छा नहीं है वरन वे संयुक्त गतिविधियां हैं जिनमें समन्वय होना जरूरी है। अपने अनुभवों से बच्चों में एक और गुण का विकास होता है—धैर्य, अर्थात अपने आवेगों पर रोक लगाना। इस तरह उनमें स्वभावतः सद्गुण विकसित हो जाते हैं। हम तीन वर्ष के बच्चे को यह नैतिकता सिखा नहीं सकते परंतु अनुभव से वे इसे सीख लेते हैं। चूंकि हमारे स्कूल के अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों में, रुकावटों के कारण बच्चे का सामान्यीकरण नहीं हो पाता, अतः संसार के सभी लोगों को, सदा बच्चे आपस में चीजों के लिए लड़ते हुए दिखाई देते हैं। जब उन्होंने देखा कि हमारे स्कूल के बच्चे अपनी बारी का इंतजार करते हैं और लड़ते नहीं, तो वे बहुत प्रभावित हुए। मुझसे एक बार पूछा गया, "आप क्या करती हैं जिससे कि बच्चे इतना अच्छा व्यवहार करते हैं ?" "आप इन्हें अनुशासन कैसे सिखाती हैं ?" अनुशासन मैं नहीं सिखाती थी, वह तो उनका परिवेश सिखाता था, जिसे हमने इतना सोच विचार कर तैयार किया था और वह स्वतंत्रता सिखाती थी, जो उन्हें इस परिवेश में प्राप्त हुई थी। इन परिस्थितियों में उनमें ऐसे गुण प्रदर्शित हुए जो तीन से छह वर्ष के बच्चों में पहले नहीं पाए जाते थे।

सामाजिक जीवन की तैयारी के इस प्रथम चरण में जब वयस्क हस्तक्षेप करते हैं तो प्रायः सदा गलतियां करते हैं। जब बच्चे लाइन बना कर चल रहे हों तो हो सकता है कि उनमें से एक बच्चा विपरीत दिशा में चलने लगे तो दूसरे से उसके टकराने की पूरी आशंका हो जाएगी। उस समय वयस्क की प्रतिक्रिया यह होती है कि बच्चे को पकड़ कर, उसे सही दिशा में घुमा दें। पर बच्चा अपने आप अपनी कठिनाई का समाधान ढूंढ़ लेता है और यद्यपि सदा एक ही समाधान नहीं होता परंतु वह सदा संतोषजनक होता है। ऐसी समस्याएं हर कदम पर आती हैं पर बच्चे बड़े उत्साह से उनका सामना करते हैं। हमारे दखल देने से वे चिढ़ जाते हैं और यदि उन्हें अपने पर छोड़ दिया जाए तो वे कोई रास्ता ढूंढ लेते हैं। यह सब सामाजिक अनुभव है और इनके कारण परिस्थितियों से निबटने का निरंतर अभ्यास हो जाता है जिसे कोई शिक्षिका सिखा नहीं सकती। परंतु साधारणतः वह हस्तक्षेप करती है और उसका समाधान बच्चों के समूह के समाधान से भिन्न होता है। अतः इसके कारण समूह का समन्वय बिगड़ जाता है। सामान्य समस्याओं को छोड़ कर, हमें ऐसी समस्याओं का हल बच्चों के ऊपर ही छोड़ देना चाहिए। तब हम उनके आचरण का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन कर सकेंगे। हमें इसके बारे में अभी तब बहुत कम मालूम है। इन दैनिक अनुभवों के द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था स्थापित होती है।

जो शिक्षक प्रत्यक्ष तरीकों का उपयोग करते हैं, उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि मांटेसरी स्कूल में सामाजिक व्यवहार का विकास कैसे होता है। वे सोचते हैं कि स्कूल में शैक्षिक साम्रगी तो मिलती है परंतु सामाजिक सामग्री नहीं मिलती। वे कहते हैं, "यदि बच्चा सब काम अपनी मरजी से करेगा, तो सामाजिक जीवन कैसे विकसित होगा ?" परंतु क्या सामाजिक समस्याएं सुलझाना, उचित व्यवहार करना और ऐसे उद्देश्यों के लिए कार्य

करना जो सबको स्वीकार हों, सामाजिक जीवन नहीं है ? उन लोगों के अनुसार सामाजिक जीवन का अर्थ है पास बैठ कर दूसरों की बात सुनना। परंतु यह सामाजिक जीवन के बिलकुल विपरीत है।

साधारण स्कूलों में बच्चों को केवल खेलने के समय, और सैर के लिए जाने के समय, सामाजिक जीवन की झलक मिलती है। हमारे स्कूलों में वे सदा सक्रिय समाज में रहते हैं।

सामाजिक जीवन

जब कक्षा में बहुत से बच्चे होते हैं, तो चरित्र की भिन्नताएं अधिक स्पष्ट दिखाई देती हैं और अधिक व्यापक अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। छोटी कक्षाओं में यह इतना सरल नहीं होता। सामाजिक जीवन से ही पूर्णता के उच्चतर स्तर प्राप्त होते हैं।

बच्चों के इस समाज का संगठन कैसा है ? ये बच्चे संयोग से यहां इकट्ठे हैं, परंतु आकस्मिक संयोग से नहीं। यहां पर एक कक्षा में मिश्रित आयु के बच्चे हैं (तीन से छह वर्ष तक)। सामान्यतः अन्य स्कूलों में एक कक्षा में एक ही आयु के बच्चे होते हैं या बड़ी आयु के कुछ ऐसे बच्चे होते हैं जो मानसिक रूप से पिछड़े होते हैं। सामान्यतः कक्षाओं का संगठन आयु के आधार पर होता है और बहुत कम स्कूलों में हमारा वाला वर्गीकरण अपनाया गया है।

जब हमारी अध्यापिकाओं ने आयु के अनुसार कक्षाओं का संगठन करना चाहा, तो बच्चों ने खुद, उनकी कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। घर में भी यही होता है। छह बच्चे वाली मां अपना घर सरलता से चला सकती है, परंतु जब जुड़वां बच्चे होते हैं, या उसी आयु के दूसरे बच्चे आ जाते हैं, तब कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। ऐसे बच्चों को संभालना बहुत मुश्किल होता है जो एक ही समय एक ही चीज की मांग करते हैं। विभिन्न आयु के छह बच्चों की मां की स्थिति एक बच्चे की मां से बेहतर होती है। इकलौते बच्चे हमेशा कठिनाई उत्पन्न करते हैं, इसलिए नहीं कि उन्हें लाड़-प्यार से बिगाड़ दिया जाता है, वरन इसलिए कि उन्हें कोई साथी नहीं मिलता। मां-बाप को अक्सर बाद के बच्चों की अपेक्षा पहली संतान में अधिक परेशानी होती है। वे सोचते हैं कि यह उनकी अनुभव की कमी से होता है परंतु वास्तव में बाद के बच्चों को खेलने के साथी मिल जाते हैं।

सामाजिक जीवन का आकर्षण यही है कि हम विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलते हैं। "वृद्धों के निवास" से अधिक नीरस और कोई स्थान नहीं हो सकता। वृद्धों को अलग कर देना, एक बहुत ही क्रूर और अमानवीय कार्य है और यही बात बच्चों के लिए भी सच है। इससे सामाजिक जीवन के बंधन छूट जाते हैं, और समाज पनप नहीं सकता। अधिकांश स्कूलों में पहले तो लड़के और लड़कियों को अलग कर दिया जाता है और फिर प्रायः प्रत्येक आयु के बच्चों को अलग-अलग कमरे में रखा जाता है। यह बड़ी भारी गलती है और इस कारण कई अनर्थ होते हैं। उनका विभाजन कृत्रिम है और इससे सामाजिक भावना के विकास

में रुकावट आती है। हमारे स्कूल में लड़के-लड़कियां दोनों कक्षा में एक साथ रहते हैं, परंतु वास्तव में लड़के-लड़कियों का साथ रहना इतना महत्वपूर्ण नहीं है। वे अलग-अलग स्कूलों में भी जा सकते हैं। खास बात यह है कि कक्षा में सब आयु के बच्चों का मिश्रण होना चाहिए। हमने अपने स्कूलों में देखा है कि विभिन्न आयु के बच्चे, एक दूसरे की सहायता करते हैं। छोटे बच्चे, बड़े बच्चों को काम करते देखते हैं और उनसे उस काम के बारे में पूछते हैं। बड़े बच्चे उन्हें फौरन समझाते हैं और उनका समझाना वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण है। पांच वर्ष के बच्चे का मस्तिष्क, हमारी अपेक्षा, तीन वर्ष के बच्चे के अधिक निकट है। जिस चीज को समझाने में हमें कठिनाई लगती है, उसे छोटा बच्चा अधिक सरलता से, दूसरे बच्चों से सीख लेता है। दो बच्चों के बीच में जो संचार और समन्वय होता है, वह वयस्क और छोटे बच्चे के बीच में नहीं हो सकता।

कई बातें ऐसी हैं, जिन्हें तीन वर्ष के बच्चे को, कोई अध्यापक नहीं समझा सकता, लेकिन पांच वर्ष का बच्चा उसे बड़ी आसानी से समझा सकता है। उनके बीच एक स्वाभाविक मानसिक आकर्षण होता है। इसी तरह तीन वर्ष का बच्चा, पांच वर्ष के बच्चे के कार्यों में बहुत रुचि लेगा, क्योंकि ये कार्य उसकी क्षमता से बहुत परे नहीं हैं। तब बड़े बच्चे, प्रशंसा के पात्र और शिक्षक बन जाते हैं, और छोटे बच्चे उनके प्रशंसक बन जाते हैं। छोटे बच्चे, बड़े बच्चों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अपना काम करते हैं। दूसरे प्रकार के स्कूलों में, जहां एक कक्षा में समान आयु के बच्चे रहते हैं, अधिक बुद्धिमान बच्चे, दूसरों को आसानी से पढ़ा सकते हैं। परंतु उन्हें इसकी अनुमति नहीं मिलती। वे केवल इतना ही कर सकते हैं कि अध्यापक के प्रश्नों का उत्तर दें, जो कम बुद्धि वाले बच्चे नहीं दे पाते। परिणाम यह होता है कि उनकी बुद्धिमानी से दूसरों को ईर्ष्या होने लगती है। छोटे बच्चों में ईर्ष्या की भावना नहीं होती है। उनको इस बात से लज्जा नहीं आती कि बड़े बच्चों का ज्ञान उनसे अधिक है, क्योंकि उन्हें यह पता है कि जब वे बड़े होंगे तो उनका भी अवसर आएगा। दोनों ही ओर प्रेम और प्रशंसा की भावना रहती है—असली भाई-चारे की भावना। पुराने प्रकार के स्कूलों में प्रतिस्पर्धा द्वारा ही कक्षा का स्तर ऊंचा किया जा सकता था। परंतु इसके कारण ईर्ष्या, घृणा और अपमान की निराशाजनक और असामाजिक भावनाएं उत्पन्न होती थीं। होशियार बच्चों में अहंकार आ जाता था और वे दूसरों पर रोब जमाते थे। परंतु हमारे स्कूलों में पांच वर्ष का बालक अपने को छोटे बच्चों का संरक्षक समझता है। संरक्षण और प्रशंसा का यह वातावरण, व्यवहार में बच्चों को कितना अधिक प्रभावित करता है, इस पर विश्वास नहीं होता। कक्षा प्रेम के बंधनों से जुड़ा हुआ एक समूह बन जाती है। अंत में सब बच्चे एक दूसरे के व्यक्तित्व से परिचित हो जाते हैं और एक दूसरे की योग्यता के प्रशंसक हो जाते हैं। पुराने स्कूलों में केवल यही बात कही जाती थी, "उसको प्रथम पुरस्कार मिला है" या "उस लड़के को शून्य मिला है।" इस रीति से सच्ची सहानुभूति का विकास नहीं होता। यही वह आयु है जब बच्चे के परिवेश के अनुसार, उसमें सामाजिक या असामाजिक गुणों का विकास होता है। उनके गुणों की उत्पत्ति इसी समय होती है।

लोगों को कभी-कभी ऐसी आशंका होती है कि यदि पांच वर्ष का बच्चा, छोटे बच्चों को सिखाएगा, तो स्वयं उसकी प्रगति में बाधा पड़ेगी। पहली बात तो यह है कि उसका सारा समय शिक्षण में ही नहीं व्यतीत होता और उसकी स्वतंत्रता को भी मान्यता मिलती है। दूसरी बात यह है कि दूसरों को सिखाने से, उसे स्वयं उन चीजों का बेहतर बोध हो जाता है। दूसरों को सिखाने के पहले वह अपने थोड़े से ज्ञान का विश्लेषण करके उसे क्रमबद्ध कर तैयार करता है। अतः दूसरों के लिए अपना समय देने का, उसे पुरस्कार भी मिल जाता है।

तीन से छह वर्ष के बच्चों की कक्षा और सात से नौ वर्ष के बच्चों की कक्षा के बीच में हम बहुत बड़ा विभाजन नहीं करते। अतः छह वर्ष के बच्चे, अपने से ऊंची कक्षा से भी विचार प्राप्त कर सकते हैं। हमने दोनों कक्षाओं के बीच की दीवारें, केवल कमर तक ऊंची बनाई हैं और एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाने की सदा सुविधा रहती है। यदि एक तीन वर्षीय बच्चा, सात, आठ या नौ वर्ष के बच्चों की कक्षा में चला जाता है, तो वह वहां बहुत देर नहीं ठहरता, क्योंकि उसे शीघ्र ही पता चल जाता है कि यहां उसके लायक कोई चीज नहीं है। कक्षाओं के बीच सीमा रेखाएं तो हैं, पर उनका पृथक्करण नहीं किया गया है और सभी समूहों में परस्पर संचार बना रहता है।

सभी का स्थान नियत है, पर कोई भी एकाकी नहीं रहता। सभी ज्ञान प्राप्त करने के लिए इधर-उधर घूम सकते हैं। शायद एक तीन वर्ष के बच्चे को एक नौ वर्ष का बच्चा दिखाई दे, जो मनकों से गणित में वर्गमूल निकाल रहा हो। छोटा बच्चा उससे पूछेगा कि वह क्या कर रहा है ? यदि उसे उत्तर समझ में नहीं आएगा, तो वह अपनी कक्षा में वापस लौट आएगा जहां उसके लिए अधिक रोचक चीजें हैं। परंतु छह वर्ष के बच्चे को शायद थोड़ा बहुत समझ में आ जाए कि नौ वर्षीय बच्चा क्या कर रहा है और वह उसे देखने को थोड़ी देर रुक जाए और उससे कुछ सीख ले। इस प्रकार की स्वतंत्रता से, देखने वाले बच्चे को, अपनी आयु की सीमाओं का बोध हो जाता है। सच तो यह है कि इसी प्रकार से हमने यह अनुभव किया कि आठ या नौ वर्ष के बच्चे वर्गमूल निकालना समझ सकते हैं, क्योंकि उन्होंने बारह से चौदह वर्ष के बच्चों को वर्गमूल निकालते देखा था। इसी तरह, हमने यह देखा कि आठ वर्ष के बच्चों को बीज गणित में रुचि हो सकती है। बच्चे की प्रगति, केवल उसकी आयु पर निर्भर नहीं करती, वरन उसके चारों तरफ देखने की स्वतंत्रता पर भी निर्भर करती है।

हमारे स्कूल बड़े सजीव हैं। बड़े बच्चे जो करते हैं, उसको समझने का छोटे बच्चों में बड़ा उत्साह रहता है। बड़े बच्चों को अपना ज्ञान दूसरों को सिखाने में खुशी होती है। किसी को हीन भावना नहीं होती। सभी बच्चे पारस्परिक आदान-प्रदान एवं आध्यात्मिक ऊर्जा द्वारा स्वस्थ सामान्यता प्राप्त करते हैं।

इन सबसे यह प्रदर्शित होता है कि हमारे स्कूल की जिन उपलब्धियों ने सबको पहले इतना आश्चर्यचकित कर दिया था, वे वास्तव में प्राकृतिक नियमों के पालन का परिणाम थीं।

स्वतंत्र वातावरण में इन बच्चों के व्यवहार और उनके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करने से हमारे सामने समाज के वास्तविक रहस्य उद्घाटित हुए। ये तथ्य इतने सूक्ष्म और परिष्कृत हैं कि इन्हें समझने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि चाहिए। ये अत्यंत रोचक हैं, क्योंकि इन्हीं में मनुष्य का वास्तविक स्वभाव प्रकट होता है। अतः हम अपने इन स्कूलों को मनोवैज्ञानिक अनुसंधान की प्रयोगशालाएं मानते हैं, यद्यपि इससे हमारा तात्पर्य साधारण अर्थ में अनुसंधान से नहीं है। ये स्कूल, ऐसे उपयुक्त स्थान हैं जहां बच्चों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जा सकता है। अब हम कुछ और महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं।

जैसा हमने कहा, बच्चे अपनी समस्याओं को, स्वयं हल कर लेते हैं, लेकिन हमने अभी यह नहीं बताया कि वे इसे कैसे हल करते हैं। यदि हम बिना हस्तक्षेप किए उनका निरीक्षण करें, तो हमें एक बड़ी विचित्र बात दिखाई देगी। वह यह है कि, वे हमारी तरह के दूसरे की सहायता नहीं करते हैं। यदि एक बच्चा भारी बोझ उठा कर चल रहा हो, तो कोई दूसरा बच्चा उसकी सहायता के लिए दौड़ा नहीं आएगा। वे एक-दूसरे के प्रयत्नों का सम्मान करते हैं और जरूरत होने पर ही सहायता करते हैं। इससे हमें पता चलता है कि बच्चे को बचपन के इस विशेष लक्षण का अंतर्बोध होता है कि बच्चा अनावश्यक सहायता नहीं चाहता। एक दिन एक छोटे बच्चे ने, लकड़ी की सभी ज्यामितिक (ज्योमेट्रिक) आकृतियां तथा उनके कार्ड, जमीन पर फैला दिए थे (इनकी संख्या करीब 100 थी)। इतने में एक बैंड बजाता हुआ जुलूस, स्कूल की खिड़की के सामने वाली सड़क से निकला। इस बच्चे को छोड़ कर, सभी उस जुलूस को देखने के लिए भागे, यह बच्चा इतने फैले हुए काम को छोड़ कर जाने की बात सोच भी नहीं सकता था। उसे सब चीजें वापस ठीक जगह जमानी थीं और कोई बच्चा उसकी सहायता के लिए नहीं आया। उसकी आंखों में आंसू आ गए क्योंकि वह भी जुलूस देखना चाहता था। दूसरे बच्चों ने जैसे ही यह देखा, वे उसकी सहायता के लिए वापस लौट आए। वयस्कों में पहचानने की यह उत्कृष्ट क्षमता नहीं होती कि वास्तविक जरूरत कब है। अधिकतर वे बिना जरूरत सहायता करते हैं। जब कोई महिला खाने की मेज के सामने होती है, तो कितनी ही बार भद्र पुरुष शिष्टाचार के नाते उसकी कुर्सी आगे खिसकाते हैं, यद्यपि वह महिला अच्छी तरह से यह काम खुद कर सकती है। या सीढ़ी से उतरती हुई महिला को सहारे के लिए वे अपना हाथ पकड़ाते हैं, जबकि उसे इस सहारे की जरूरत नहीं होती। परंतु जब वास्तविक आवश्यकता होती है, तब स्थिति बिलकुल बदल जाती है। सहायता की घोर आवश्यकता के समय कोई दौड़ कर नहीं आता, परंतु बिना जरूरत के सब सहायता के लिए तैयार रहते हैं। अतः इस विषय में वयस्क लोग, बच्चों को कुछ नहीं सिखा सकते। मेरा विश्वास है कि बच्चे के अचेतन में, अधिकतम प्रयत्न करने की उसकी प्रारंभिक इच्छा की स्मृति रहती है, और इसीलिए वह दूसरे की उस समय सहायता नहीं करता जब उसे प्रतीत होता है कि यह सहायता बाधक बनेगी।

बच्चों के आचरण के एक अन्य रोचक पहलू का संबंध, उनकी कक्षा में विघ्न डालने वालों से है। मान लीजिए, स्कूल में एक नया बच्चा भरती हुआ है जिसका अभी तक स्कूल

से अनुकूलन नहीं हो पाया है। वह कक्षा में बेचैन रहता है, उपद्रव करता है और सबको परेशान करता है। अध्यापिका साधारणतः यही कहती है, "यह नहीं चलेगा। यह ठीक नहीं है" या "तुम बहुत शैतान लड़के हो।"

परंतु उसके सहपाठियों की प्रतिक्रिया बिलकुल भिन्न होती है। उनमें से एक उस नए छात्र के पास जाकर शायद यह कहे, "तुम वास्तव में बड़े शैतान हो, परंतु चिंता न करो। जब हम यहां आए थे, तो हम भी ऐसे ही थे।"

उसके हृदय में, नए छात्र के प्रति करुणा है, वह उसके बुरे व्यवहार को दुर्भाग्य समझता है, और उसे सांत्वना देने का प्रयास करता है और इस तरह उसकी सारी अच्छी क्षमताओं को उभारता है।

यदि बुराई के प्रति सदा करुणा उत्पन्न हो, और अपराधी से भी हम सहानुभूति प्रदर्शित करने का प्रयत्न करें, उसे दिलासा दें, तो संसार कितना बदल सकता है। वैसे भी, बुरा काम करना एक रोगात्मक लक्षण है जो घर की बुरी परिस्थितियों, जन्म के समय किसी दुर्भाग्य या किसी और दुर्घटना के कारण उत्पन्न हो सकता है। उसके प्रति हमें सहानुभूति और सहायता की इच्छा होनी चाहिए। केवल इसी से हमारे समाज का स्तर ऊंचा उठेगा।

हमारे बच्चों के साथ जब कोई दुर्घटना होती है, जैसे फूलदान का टूट जाना, तो फूलदान गिराने वाले बच्चे को अधिकांशतः बहुत दुख होता है। उसे चीजें तोड़ने में मजा नहीं आता है बल्कि मन में बहुत ग्लानी होती है कि वह उसे सुरक्षित नहीं पहुंचा सका।

वयस्क की स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि वह उसे डांटे, "तो तुमने उसे तोड़ दिया? मैंने कितनी बार कहा है कि चीजों को मत छुआ करो।" हो सकता है कि वयस्क उसे फूलदान के टूटे टुकड़े उठाने को कहे क्योंकि उसका ख्याल है कि इससे बच्चे पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। परंतु हमारे बच्चे क्या करते हैं ? वे उसकी सहायता के लिए फौरन उसके पास जाते हैं और उसे सांत्वना देते हुए कहते हैं, "कोई बात नहीं, हम जल्दी ही दूसरा फूलदान ले आएंगे।" फिर कोई बच्चा उसके टुकड़े उठाता है, और कोई जमीन पर गिरा पानी पोंछता है। कमजोरों की सहायता करना उनका स्वभाव है। वे उन्हें प्रोत्साहित करते हैं और दिलासा देते हैं और वास्तव में इसी से सामाजिक प्रगति होती है। मानव विकास में, सबसे बड़ा कदम तब उठाया गया जब समाज ने, कमजोर और गरीब लोगों को सताने, और उनसे घृणा करने के बजाए, उनकी सहायता करनी शुरू की।

संपूर्ण चिकित्सा शास्त्र का विकास इसी सिद्धांत से हुआ है। इसी से यह भावना उत्पन्न हुई है कि करुणा जगाने वाले पात्रों की ही नहीं, वरन समस्त मानव जाति की सहायता करनी चाहिए। कमजोर और निम्न श्रेणी के लोगों को प्रोत्साहित करके हम गलती नहीं करते हैं वरन इससे समाज की प्रगति होती है। बच्चों में यह भावना, उनके सामान्य होते ही आ जाती है और वे एक दूसरे के प्रति ही नहीं वरन जानवरों के प्रति भी इसे प्रदर्शित करते हैं।

साधारणतः हम यह सोचते हैं कि बच्चों को, जानवरों के प्रति सम्मान करना सिखाना

पड़ता है, क्योंकि हमारे ख्याल से बच्चे स्वभावतः क्रूर और भावशून्य होते हैं। परंतु यह सच नहीं है। सामान्यता-प्राप्त बच्चों में जानवरों के प्रति संरक्षण की भावना होती है। हमारे एक स्कूल में एक बकरी थी जिसे मैं रोज दाना व चारा देती थी। मैं अपना हाथ इतना ऊंचा उठा लेती थी, कि बकरी को खाना प्राप्त करने के लिए अपने पिछले दो पांवों पर खड़ा होना पड़ता था। मुझे बकरी के इस तरह खड़े होने में मजा आता था और ऐसा प्रतीत होता था कि बकरी का भी इससे मनोरंजन हो रहा है। परंतु एक दिन एक बहुत छोटा बच्चा आया और उसने बकरी के पेट के नीचे अपना हाथ लगा कर उसे सहारा देना चाहा। उसके चेहरे पर चिंता का भाव था मानो उसे डर है कि इस तरह दो पांव पर खड़े होने से बकरी का कोई नुकसान न हो जाए। निस्संदेह यह एक बहुत दयावान और स्वाभाविक विचार था।

एक और असामान्य बात जो हमारे स्कूलों में दिखाई देती है, वह है—श्रेष्ठ की प्रशंसा। इन बच्चों में ईर्ष्या नहीं होती, और जब कोई अच्छा काम करता है तो ये बड़े उत्साह से उसकी प्रशंसा करते हैं। जब बच्चों ने लिखना प्रारंभ किया तब भी कुछ ऐसा ही हुआ। जब उनमें से एक बच्चे ने पहला शब्द लिखा तो सबने प्रसन्नता और हंसी से उसका स्वागत किया। सबने प्रशंसापूर्वक उस "लेखक" को देखा और उसका अनुकरण करने के लिए प्रेरित हुए। उन्होंने कहा, "हम भी यह कर सकते हैं।" एक की सफलता से, सभी को जोश आया। यही बात वर्णमाला के अक्षरों के साथ हुई थी। एक बार तो वे इतने उत्तेजित हो गए कि अक्षरों के कार्ड के झंडे बना कर, पूरी कक्षा ने जुलूस निकाला। वे इतने आनंदित थे और इतनी जोर से चिल्ला रहे थे कि नीचे की मंजिल से (हमारा स्कूल छत पर था) लोग ऊपर यह देखने को दौड़े हुए आए कि क्या हो रहा है। अध्यापिका को समझाना पड़ा कि अक्षरों को सीखने के कारण वे इतने खुश हैं।

बच्चों में स्पष्टतः सामुदायिक चेतना दिखाई देती है। इसका आधार उच्चतम भावनाएं हैं और इसके कारण समूह में एकता स्थापित होती है। उक्त उदाहरणों से हमें पता चलता है कि जब ऐसी परिस्थितियां हों जिनसे भावनाओं का स्तर ऊंचा उठे, और बच्चों के व्यक्तित्व का सामान्यीकरण हो, तो उनमें एक प्रकार का परस्पर आकर्षण उत्पन्न होता है। जैसे बड़े बच्चे, छोटे बच्चों की ओर आकर्षित होते हैं, और छोटे, बड़ों की ओर। उसी प्रकार, सामान्यीकृत बच्चे, स्कूल में आने वाले नए बच्चों की ओर आकर्षित होते हैं, और नए आने वाले उनकी ओर, जिनका अनुकूलन हो चुका है।

अध्याय तेईस

सामाजिक इकाई में संगति

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में एकता, मूलतः अवशोषक यानी ग्रहणशील मस्तिष्क द्वारा आती है, और सचेत मस्तिष्क की भूमिका, इसमें कम होती है। यदि हम समाज की रचना के ढंग का अवलोकन करें, तो उसकी तुलना, जीव के विकास में, कोशिकाओं के कार्य से की जा सकती है। स्पष्ट है कि समाज की भी एक अविकसित अवस्था होती है, जिसे हम छोटे बच्चों के विकास के दौरान देख सकते हैं। यह देखना बड़ा रोचक है कि ये छोटे बच्चे, कैसे धीरे-धीरे अपने को समुदाय का अंग समझने लगते हैं और समुदाय के रूप में कार्य करते हैं। वे समुदाय के लिए अपने कार्यकलाप समर्पित करते हैं। वे समूह में केवल रुचि ही नहीं लेते, वरन पूरा दिल लगा कर उसके लिए कार्य करते हैं। इस स्तर पर पहुंच जाने के बाद बच्चे, बिना सोचे-समझे कार्य नहीं करते, वरन हमेशा समूह को प्रथम स्थान देते हैं और उसके लाभ के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

सामाजिक चेतना की प्रथम अवस्था हमें "परिवार या जाति की भावना" में मिलती है। जैसा हम अच्छी तरह जानते हैं, आदिकालीन जातियों में, उनके समूह का व्यक्ति, अपने समूह से प्रेम करता था, उसकी रक्षा करता था और समूह को ही अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य मानता था। जब हमारे बच्चों में इस तथ्य का प्रथम संकेत मिला, तो हम बहुत विस्मित हुए, क्योंकि इसके घटित होने में हमारा कोई भी प्रभाव नहीं था। वह विकास के अन्य लक्षणों की तरह अकस्मात प्रकट हुआ, जैसे प्रकृति द्वारा निर्धारित आयु में बच्चे का पहला दांत निकलता है। बच्चों में, उनकी स्वाभाविक जरूरतों के कारण यह जो एकता उत्पन्न होती है, जिसका संचालन एक अचेत शक्ति करती है और सामाजिक मनोभावना जिसमें जीवन फूंकती है, उस तथ्य का नाम मैंने "सामाजिक इकाई में संगति" रखा है।

बच्चे के स्वाभाविक आचरण से हमारा ध्यान हठात इस ओर गया और हम आश्चर्यचकित हो, अवाक रह गए। एक उदाहरण देती हूं। जब अर्जेंटीना के राजदूत ने यह सुना कि हमारे स्कूलों में चार और पांच वर्ष के बच्चे बिना संचालन के काम करते हैं, स्वतः लिखते और पढ़ते हैं, और हमारे यहां डांट-डपट के बिना भी बहुत बढ़िया अनुशासन रहता है, तो उन्हें इस पर विश्वास नहीं हुआ। अतः उन्होंने सोचा कि वे एक दिन अचानक हमारे स्कूल आएंगे। दुर्भाग्य से, वे छुट्टी के दिन आए, अतः उन्होंने स्कूल को बंद पाया। यह स्कूल जिस भूखंड में था वहीं सब श्रमिकों के घर थे, जहां स्कूल के बच्चे अपने मां-बाप के साथ रहते थे।

संयोग से एक बच्चा वहीं अहाते में खेल रहा था, और उसने सुना कि राजदूत, स्कूल को बंद देख कर दुखी हैं। उसने यह समझ लिया कि यह राजदूत स्कूल देखने आए हैं। अतः उसने कहा, "आप स्कूल के बंद होने की चिंता न करें। स्कूल के रखवाले के पास वहां की चाभी है, और हम सब बच्चे यहीं हैं।" शीघ्र ही स्कूल का दरवाजा खोला गया और सब बच्चे अंदर जाकर काम करने लगे। यह समूह के लिए कार्य करने का उदाहरण है। प्रत्येक बच्चे ने, बिना इनाम की आशा के, अपनी-अपनी भूमिका निभाई। अपने समुदाय की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने मिल कर काम किया। शिक्षक को दूसरे दिन इस घटना का पता चला।

बच्चों में यह एकत्व की भावना किसी आदेश के द्वारा नहीं उत्पन्न हुई थी, और न इसमें किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा या वैयक्तिक लाभ का विचार था। यह तो प्रकृति की देन थी। बच्चे स्वयं अपने प्रयास से इस स्थिति तक पहुंचे थे। जैसा कॉगहिल का कथन है, "बच्चों के प्रारंभिक आचरण को प्रकृति स्वयं निर्धारित करती है, परंतु उसका विकास, केवल चारों ओर के संसार से संपर्क द्वारा ही हो सकता है।" इतना तो स्पष्ट है कि बच्चों के व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन, दोनों की रचना के लिए प्रकृति एक योजना निर्धारित करती है। परंतु यह योजना केवल बच्चों की उन गतिविधियों से कार्यान्वित होती है, जिन्हें वे ऐसे परिवेश में करते हैं जो इनके कार्यान्वयन के अनुकूल हो। इन गतिविधियों से, बच्चे, सामाजिक जीवन के विकास की अवस्थाएं प्रदर्शित करते हैं। अमेरिका के शिक्षा शास्त्री वॉशबर्न ने ऐसे सामूहिक जीवन को, जो एक समूह को एकीकृत करके उसका संचालन करता है, "सामाजिक एकीकरण" कहा है। उसके अनुसार समाज-सुधार इसी से हो सकता है और इसी को समस्त शिक्षा का आधार बनाना चाहिए। सामाजिक एकीकरण में व्यक्ति, अपने को उस समूह का अभिन्न अंग मानता है, जिसका वह सदस्य है। ऐसा होने पर व्यक्ति अपनी वैयक्तिक सफलता की उतनी चिंता नहीं करता जितनी वह समूह की सफलता की करता है।

अपने सिद्धांत का स्पष्टीकरण करने के लिए वे ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज की नौका दौड़ का दृष्टांत देते हैं—"सभी व्यक्ति नाव चलाने में कठिनतम मेहनत करते हैं यद्यपि वे अच्छी तरह जानते हैं कि इससे उन्हें कोई व्यक्तिगत प्रशंसा या कोई विशेष पुरस्कार नहीं मिलेगा। यदि इसी रीति से सभी सामाजिक प्रयत्नों में काम हो, चाहे वे पूरे देश के लिए हो या छोटे से छोटे उद्योगों के लिए हों और यदि सभी इस इच्छा से प्रेरित हों कि उनकी नहीं, उनके समूह की प्रशंसा हो, तो समस्त मानव जाति का मानो पुनर्जन्म हो जाएगा। व्यक्ति का समूह से एकीकरण का विकास स्कूल में होना चाहिए, क्योंकि हम लोगों में इसी की कमी है और इसी के कारण हमारी सभ्यता असफलता और विनाश की ओर जा रही है।"

हम एक ऐसे मानव समाज का दृष्टांत देते हैं, जहां यह एकीकरण उपस्थित है। यह छोटे बच्चों का समाज है जिसका संचालन प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियां करती हैं। हमें इस समाज की महत्ता को समझना चाहिए क्योंकि चरित्र और सामाजिक भावनाएं, अध्यापकों

से प्राप्त नहीं हो सकतीं। वे जीवन से उत्पन्न होती हैं।

परंतु बच्चों की यह स्वाभाविक सामाजिक संबद्धता, वयस्कों के समाज से बहुत भिन्न है, जिसका संगठन मनुष्यों के जीवन के संचालन के लिए होता है। बच्चों में संबद्धता उनके विकास का अंतिम चरण है जिसमें उनकी प्राकृतिक प्रवृत्ति उन्हें सामाजिक एकता के लिए प्रेरित करती है।

संगठित समाज

छह वर्ष की आयु के बाद, बच्चे के विकास की दूसरी अवस्था प्रारंभ होती है, जिसमें समूह का संगठन पूर्णतया सचेत स्तर पर होता है। बच्चे उन प्रथाओं और नियमों को जानना चाहते हैं, जिन्हें मनुष्यों ने, उनके निर्देशन के लिए बनाए हैं। वे एक ऐसे व्यक्ति को चाहते हैं जो उनके समुदाय का संचालन करे। समुदाय के प्रधान की आज्ञा का पालन तथा समुदाय के नियमों का पालन स्पष्टतः ऐसे तत्व हैं जो पूर्वगामी स्वाभाविक समाज को इस नए समाज से जोड़ते हैं। हम जानते हैं कि इस आज्ञापालन की तैयारी, इससे पूर्व अवस्था में हो चुकी थी।

अंग्रेज मनोवैज्ञानिक मैकडुगल ने इस प्रकार के समाज का वर्णन किया है जिसकी स्थापना हमारे बच्चे, छह या सात वर्ष की अवस्था में शुरू कर देते हैं। वे अपने आपको, अपने से बड़े बच्चों के अधीनस्थ कर देते हैं, मानो उनकी "सामाजिक अतःप्रेरणा" उन्हें इसके लिए प्रेरित कर रही हों। परित्यक्त बच्चे, अक्सर अपने को समूहों में संगठित करके सत्ता और मानवनिर्मित नियमों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। ये बच्चों की स्वाभाविक आवश्यकताएं हैं, जिनके पूरा न होने पर प्रायः विद्रोही भावनाएं उत्पन्न होती हैं। स्काउट आंदोलन द्वारा इनको परिष्कृत भावनाओं में परिवर्तित किया गया है। इस प्रकार युवा और किशोरों की प्रकृति में निहित, सामाजिक विकास की आवश्यकताएं पूरी की गई हैं।

परंतु मैकडुगल की "सामाजिक अंतःप्रेरणा" और छोटे बच्चों को समुदाय में जोड़ने वाली संबद्धता की भावना में अंतर है। बच्चों में, वयस्क होने तक, जितने भी सामाजिक रूप बाद में विकसित होते हैं, उन सबका संगठन सचेत प्रयास से होता है। उनमें मानवनिर्मित नियमों की, और एक ऐसे प्रधान की भी आवश्यकता होती है जिसका सब आदर करें।

मनुष्यों का मिलकर रहना एक प्राकृतिक तथ्य है और मानव स्वभाव का लक्षण है। यह समाज एक जीव की तरह विकसित होता है और इस प्रक्रिया में, कई विभिन्न विशेषताएं प्रकट होती हैं। इनकी तुलना हम भारत में ग्रामीणों के हथकरघा गृह उद्योग से कर सकते हैं।

हम शुरू से प्रारंभ करेंगे। सबसे पहले कपास का पौधा, अपने बीज के चारों ओर सफेद रूई पैदा करता है। सामाजिक जीवन में हमें सबसे पहले बच्चे, और जिस परिवार में उसका जन्म होता है, उस पर विचार करना चाहिए। रूई को तोड़ने के बाद सबसे पहले उसकी

सफाई की जाती है और उसमें चिपके हुए काले बीज अलग किए जाते हैं। गांधीजी के ग्रामीण स्कूलों में यही काम सबसे पहले किया जाता है। यही हमारे उस काम के समरूप है जब हम बच्चों को उनके घरों से लाकर, उनके दोष दूर करके उनमें ध्यान केंद्रित करने की क्षमता उत्पन्न करते हैं और उन्हें सामान्यीकृत करते हैं।

अब कातने को देखें। हमारे दृष्टांत के अनुसार यह बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण के समरूप है, जो कार्य करने से और समूह में रहने से बनता है। यही सबका आधार है। यदि धागा अच्छी तरह काता गया है और मजबूत है, तो कपड़ा भी मजबूत बनेगा। हम जो कपड़ा बुनते हैं वह उसी कोटि का होगा, जिस कोटि का सूत है। यही बात सबसे पहले समझनी चाहिए क्योंकि कमजोर धागे का कपड़ा किसी काम का नहीं होगा।

फिर उन धागों को चौखटे पर बांधा जाता है और उनसे कपड़ा बुनने के लिए ताना-बाना तैयार किया जाता है। परंतु अभी कपड़ा नहीं बना है। फिर भी, ताने-बाने के बिना कपड़ा नहीं बुना जा सकता। यदि धागा टूट जाए, या जगह से हट जाए क्योंकि वह ठीक से अटकाया नहीं गया था, तो उनके बीच में से शटल (ढरकी—एक औजार जिससे बाने का सूत फेंकते हैं) नहीं जा सकती। यह ताना-बाना सामाजिक संबद्धता के समान है। मानव समाज की तैयारी, बच्चों की उन गतिविधियों पर निर्भर है जो वे स्वभावतः अपने सीमित संसार में करते हैं। यह सीमित संसार, बुनकर का चौखटा है। परिणामस्वरूप वे एक दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं और उनके उद्देश्य समान हो जाते हैं।

अब असली बुनाई शुरू होती है जब शटल को धागों के बीच में से निकाल कर उन्हें बाने (वेफ्ट) के द्वारा पक्की तरह गूंथ दिया जाता है। यह अवस्था, आदमी के संगठित समाज की तरह है जिस पर नियमों और शासन का नियंत्रण होता है, और जिसका सब पालन करते हैं। जब कपड़ा बुन कर तैयार हो जाता है, तो चौखटे से हटाने के बाद भी वह साबुत बना रहता है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और उसे उपयोग में लाया जा सकता है। हम उसे असीमित मात्रा में बना सकते हैं। आदमी अपना समाज उस ढंग से नहीं बनाते जैसे हमारे स्कूल के बच्चे बनाते हैं, जिसमें बच्चे अपना-अपना लक्ष्य स्थापित करके अपने-अपने काम में लग जाते हैं। मानव समाज का अंतिम रूप संगठन पर आधारित है।

परंतु ये दोनों एक दूसरे में व्याप्त होते हैं। समाज पूर्णरूप से केवल संगठन पर आधारित नहीं होता वरन संबद्धता पर भी होता है। इन दोनों में संबद्धता मूल तत्व है और उसी के आधार पर संगठन बनता है। अच्छे कानून और शासन, किसी मानव समूह को जोड़ कर उनसे समन्वित ढंग से काम नहीं करा सकते, जब तक उस समूह के व्यक्ति स्वयं इस तरह के संगठन की ओर प्रेरित न हों। जनसमूह की शक्ति और गतिशीलता, उनके विकास के स्तर, और समूह के व्यक्तियों के दृढ़ चरित्र, पर निर्भर करती है।

यूनानियों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था व्यक्तित्व के निर्माण पर आधारित की थी। उनके सिकंदर महान थे जिन्होंने केवल कुछ व्यक्तियों की सहायता से, सारे फारस को जीत लिया था। मुसलमानों में भी गजब की एकता है। यह उनके राजा या कानूनों के कारण नहीं,

वरन उनके सामान्य आदर्शों के कारण है। समय-समय पर बहुत बड़ा जनसमूह तीर्थयात्रा करने, मक्का जाता है। एक दूसरे के लिए अजनबी, ये तीर्थयात्री किसी व्यक्तिगत लाभ या महत्वाकांक्षा के लिए यह यात्रा नहीं करते। कोई उन्हें वहां जाने को नहीं कहता, न कोई उन्हें आदेश देता है, परंतु अपने धर्म के लिए उनमें बड़े से बड़ा त्याग करने की क्षमता होती है। ये तीर्थयात्राएं संबद्धता का उदाहरण हैं।

मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में यूरोप के राष्ट्रों में जो वास्तविक एकता स्थापित हुई थी, वह आज, युद्ध के ध्वंस के बाद, हमारे नेताओं के अथक प्रयासों के बावजूद संभव नहीं हो पा रही है। पहले यह कैसे संभव हुई थी ? इसका रहस्य यही है कि धर्म की भावना ने समस्त यूरोप के लोगों को संबद्धता के महान आकर्षण से बांध लिया था। उस समय यूरोप के जितने भी राजा थे (जो अपने-अपने ढंग से शासन करते थे) वे वास्तव में ईसाई धर्म के अधीनस्थ थे और उनको उसी से बल प्राप्त होता था।

परंतु केवल संबद्धता से ही ऐसा समाज नहीं बन सकता जो व्यावहारिक हो, और जिसमें सभ्य जीवन के कार्य और विचार पनप सकें। हमारे सामने यहूदियों का उदाहरण है जो हजारों वर्षों से संबद्धता द्वारा जुड़े हुए थे, परंतु अब जाकर एक राष्ट्र बन रहे हैं। वे ऐसे ताने-बाने की तरह हैं जिसमें अभी समाज बुना नहीं गया है। आधुनिक इतिहास में एक और उदाहरण है। मुसोलिनी और हिटलर ने सर्वप्रथम इस बात को समझा था कि जो शासक एक नई सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए बचपन से लोगों को प्रशिक्षित करना पड़ेगा। उन्होंने वर्षों तक बच्चों और युवकों को कठोर अनुशासन में रखा और उनको एकीकृत करने के लिए एक बाह्य आदर्श, उन पर अध्यारोपित किया। इसकी नैतिकता के बारे में चाहे जो भी कहा जाए, पर यह प्रक्रिया, तर्क संगत और वैज्ञानिक थी। इन राज्याध्यक्षों ने "संबद्ध समाज" की आवश्यकता को समझा था, और इसीलिए उसकी जड़ों को मजबूत किया था।

परंतु संबद्ध समाज एक प्राकृतिक तथ्य है, और प्रकृति की रचनात्मक प्रेरणा से ही उसका सहज निर्माण होना चाहिए। कोई भगवान का स्थान नहीं ले सकता और जो ऐसा करने का प्रयास करता है, वह शैतान बन जाता है। उसी तरह एक दबंग वयस्क, बच्चे के व्यक्तित्व की रचनात्मक शक्तियों को दबाता है। वयस्कों में भी, संबद्धता के बंधनों को, किसी आदर्श की ओर आकर्षित करने की जरूरत होती है, अर्थात केवल संगठन के तंत्र से कुछ अधिक आवश्यक है। दो समाजों का आपस में सम्मिश्रण होना चाहिए। एक की जड़ें तो मस्तिष्क के अचेतन रचनात्मक क्षेत्र में हों, और दूसरे की उत्पत्ति सचेत क्रियाकलाप से हो। दूसरे शब्दों में, एक तो शैशवकाल में प्रारंभ हो, और दूसरा, वयस्कों द्वारा इस बुनियाद पर निर्मित हो। जैसा हम इस किताब के आरंभ में देख चुके हैं, बच्चे का अवशोषक मस्तिष्क अपनी जाति की विशेषताएं ग्रहण करता है। बच्चा इस काल में जो भी विशेषताएं ग्रहण करता है, वह न बुद्धि से और न मानव प्रयास से आती हैं, वरन ये वे मानसिक क्षमताएं हैं जो हम समाज को संबद्ध करने वाले तत्वों में पाते हैं। बच्चा उन्हें संकलित करके उन्हें

आत्मसात करता है और इस तरह स्वयं अपने व्यक्तित्व की रचना करता है। अतः वह ऐसा व्यक्ति बन जाता है जिसकी अपनी विशेष भाषा, विशेष धर्म और विशेष सामाजिक रीति-रिवाज हैं। सामाजिक व्यवस्था, जो निरंतर परिवर्तनशील है, उसमें जो कुछ भी स्थायी और आधारभूत है, वह उसको संबद्ध करने वाले तत्व हैं। हमारी वैयक्तिक और सामाजिक शक्ति का रहस्यमय भेद हमारी समझ में तब आता है जब हम बच्चे को विकसित होने का अवसर देते हैं और देखते हैं कि वह प्रकृतिदत्त आधार पर अंततः वयस्क बन जाता है। इसके विपरीत हम अपने चारों ओर देखते हैं कि आदमी केवल समाज के संगठित और सचेत भाग से ही अपने जीवन का संचालन करते हैं। अपने संगठन को मजबूत और स्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं, मानो वे ही संगठन के एकमात्र निर्माता हैं। वे संगठन के अनिवार्य और आवश्यक आधार पर ध्यान नहीं देते, परंतु उसके मानवीय नियंत्रण की चिंता करते हैं। उनकी उच्चतम आकांक्षा एक नेता की खोज होती है।

कितने लोगों की आशाएं एक नए मसीहा, एक ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व की ओर केंद्रित रहती हैं जो अपनी शक्ति से उन सबकी व्यवस्था करे। महायुद्ध के बाद एक प्रस्ताव किया गया था कि नेताओं के लिए प्रशिक्षण केंद्र खोला जाए क्योंकि ऐसा प्रतीत होता था कि किसी भी विद्यमान नेता में आवश्यक गुण नहीं हैं और वे घटनाक्रम पर काबू नहीं पा सकते। इन श्रेष्ठ व्यक्तियों को खोजने के लिए, वास्तव में प्रयत्न किए गए थे। ऐसे नवयुवकों का मानसिक परीक्षण किया गया था, जिनके स्कूली जीवन में उचित मनोवृत्ति प्रदर्शित हुई थी और उनको सत्ता के लिए तैयार करने का प्रयास किया गया था। और यदि सत्ता के उपयुक्त कोई नहीं पाया गया, तो उन्हें प्रशिक्षण कौन देता ?

नेताओं की कमी नहीं है। परंतु समस्या केवल इतनी ही नहीं है, वरन इससे कहीं विशाल है। हमारी सभ्यता में, लोग स्वयं सामाजिक जीवन के लिए पूर्णतया तैयार नहीं हैं। अतः समस्या जनसमूह को शिक्षित करने की, उनके चरित्र का पुनर्निर्माण करने की, और प्रत्येक के अंदर छिपी हुई क्षमताओं का विकास करने की है। राज्य का कोई अध्यक्ष अकेला इसे नहीं कर सकता चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली हो। अर्धविकसित लोगों की भीड़ में से, कोई इस समस्या को नहीं सुलझा सकता।

हमारे समय की सबसे अत्यावश्यक और दुखदायी समस्या यही है कि हमारे अधिकांश लोग उस स्तर के नहीं हैं जैसा उन्हें होना चाहिए। हमने पहले ही चित्र 11 में दो आकर्षक शक्तियों को दिखाया है—एक जो केंद्र की ओर खींचती है, और दूसरी जो परिधि की ओर खींचती है। शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य यही है कि वह बच्चे को सामान्यता की ओर ले जाए क्योंकि सामान्यता स्वयं अपनी प्रकृतिवश पूर्णता के केंद्र की ओर आकर्षित होती है। इसके विपरीत, हम आज कृत्रिम तरीकों से ऐसे आदमियों को तैयार कर रहे हैं जो असामान्य और कमजोर हैं, जिनमें मानसिक बीमारियों की संभावना है, और जिन्हें परिधि की ओर फिसलने से रोकने के लिए निरंतर सहायता की आवश्यकता है। परिधि में एक बार चले जाने के बाद वे समाज से बहिष्कृत हो जाते हैं। आज जो कुछ भी हो रहा है, वह वास्तव में मानव

जाति के प्रति विश्वासघात है और उसकी प्रतिक्रिया से हम सबका विनाश हो सकता है। संसार के आधे से अधिक निरक्षर लोग, वास्तव में समाज के लिए इतने हानिकारक नहीं हैं। हानिकारक बात यह है कि हम, अनजाने में, मानव की रचना की अवहेलना करके, बच्चे की उन क्षमताओं को कुचल रहे हैं जो भगवान ने स्वयं उसको प्रदान की हैं। इन्हीं में, उन नैतिक और बौद्धिक मान्यताओं का स्रोत है, जो समस्त संसार का स्तर ऊंचा कर सकती हैं। हम मृत्यु आने पर रोते हैं और मानवता को उससे बचाना चाहते हैं परंतु हमें मृत्यु की नहीं, वरन स्वयं के उत्पादन की, और मानव के रूप में अपनी नियति की, चिंता करनी चाहिए। हमारा दुख मृत्यु के भय का नहीं, वरन हमारी खोई हुई क्षमता के बोध का हो।

सबसे बड़ा खतरा, हमारी अज्ञानता में है। हम सीप के अंदर से मोती निकालना जानते हैं, पहाड़ों से सोना, तथा पृथ्वी के अंदर से कोयला निकाल सकते हैं, परंतु हमें बच्चे की जन्मजात रचनात्मक क्षमता का बोध नहीं है।

हमने संगठन के जिन स्वाभाविक रूपों का अभी वर्णन किया है, उन्हें यदि साधारण स्कूल स्वीकार कर लें तो आश्चर्यजनक परिवर्तन हो सकते हैं। परंतु हमारे अध्यापक यह नहीं मानते कि बच्चे स्वतः ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। वे उन्हें कार्य के लिए बाध्य या प्रोत्साहित करते हैं, या दंड और इनाम देते हैं। वे प्रयत्न को बढ़ाने के लिए प्रतियोगिताओं का उपयोग करते हैं। हम कह सकते हैं कि वे बुराई ढूंढ़ने का सचेत प्रयत्न करते हैं जिससे वे उसका मुकाबला कर सकें। वयस्क का यही विशेष रवैया होता है, कि वह बच्चों की बुरी आदतों पर नजर रखे, जिससे वह उन आदतों को दबा सके। परंतु गलतियों को ठीक करना बहुधा अपमानजनक और निराशाजनक होता है, और चूंकि वर्तमान शिक्षा का आधार यही है, अतः इससे हमारे सामाजिक जीवन का स्तर नीचे गिरता है। वर्तमान स्कूलों में किसी दूसरे के काम की कोई नकल नहीं कर सकता, और किसी अन्य की सहायता करना अपराध समझा जाता है। सहायता स्वीकार करना भी उतना ही बड़ा अपराध है, जितना सहायता देना। अतः जिस एकता की हमने चर्चा की, उसका निर्माण संभव नहीं हो पाता। मनमाने नियमों को लादने से, सामान्य आदर्श दूषित हो जाते हैं। प्रत्येक कदम पर यही सुनाई पड़ता है, "इधर-उधर मत खेलो", "शोर मत करो", "दूसरों के काम में उनकी सहायता मत करो", "जब तक तुमसे बात न की जाए, तब तक मत बोलो"। सदा आदेश नकारात्मक होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाए ? यदि कोई अध्यापिका अपनी कक्षा की उन्नति करने का प्रयास करती भी है, तो उसका प्रयत्न वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा बच्चे स्वयं करते। वह यही कहती कि "अगर कोई तुमसे बेहतर काम करता है, तो उससे ईर्ष्या मत करो" या "यदि कोई तुम्हें चोट पहुंचाता है, तो उससे बदला मत लो।" यहां भी प्रयत्न निषेधात्मक हैं। सामान्य विचार यही है कि सभी कुटिल हैं और यथासंभव, हमें उनका सुधार करना चाहिए। परंतु बहुधा बच्चे ऐसी बातें करते हैं, जिनकी, शिक्षक कल्पना भी नहीं कर

सकते। वे, अपने से अच्छा काम करने वालों की प्रशंसा करते हैं। यह केवल ईर्ष्या न करना नहीं है, वरन उससे कहीं अधिक हैं। कुछ आध्यात्मिक गुण ऐसे हैं कि जब तक वे पहले से विद्यमान न हों, उन्हें उजागर नहीं किया जा सकता। परंतु यदि वे पहले से विद्यमान हैं, और सहज स्वाभाविक हैं (जैसे सचमुच में वे होते हैं) तो यह और भी जरूरी है कि उन्हें प्रोत्साहित किया जाए, और उनका विकास किया जाए। बदला न लेने के लिए भी यही कहा जा सकता है। बच्चा, बहुधा, अपने शत्रु से दोस्ती कर लेता है परंतु आप उसे, इसके लिए बाध्य नहीं कर सकते। गलत काम करने वाले के प्रति भी, प्रेम और सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो सकती है। परंतु इस सहानुभूति को कोई जबरदस्ती किसी पर थोप नहीं सकता। किसी की इच्छा हो सकती है कि वह अपने से कम बुद्धि वाले साथी की सहायता करे, परंतु इसके लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। ये स्वाभाविक भावनाएं हैं, जिन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। परंतु अधिकांशतः हम उन्हें दबा देते हैं और स्कूलों के सारे काम ऐसे निम्न स्तर (यानी तीसरे घेरे में—चित्र 11) पर होते हैं, जहां व्यक्ति असामाजिकता और बहिष्कृति की परिधि की ओर बढ़ने लगता है। शुरू में अध्यापिका यह सोचती है कि बच्चा अयोग्य है और उसे सिखाना चाहिए। फिर वह सोचती है कि बार-बार यह कहते रहने से इसे लाभ होगा कि "यह मत करो, वह मत करो।" दूसरे शब्दों में, "परिधि की ओर मत लुढ़को।" परंतु सामान्यीकृत बच्चों को, अच्छाई की ओर सबसे बड़ा आकर्षण दिखता है। उन्हें "बुराई से बचने" की आवश्यकता नहीं महसूस होती।

एक अन्य निषेधात्मक कार्य यह है कि दैनिक कार्यक्रम के अनुसार नियत समयों पर काम बंद कर दिया जाता है। वे बच्चों से कहते हैं, "एक ही काम को बहुत देर तक मत करो। इससे तुम थक जाओगे।" परंतु बच्चा अपना सर्वोत्तम प्रयास करना चाहता है। वर्तमान स्कूल, बच्चे की रचनात्मक क्षमताओं की सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि बच्चों को क्रियाकलाप में वास्तविक आनंद प्राप्त होता है। उन्हें मेहनत करने में प्रसन्नता मिलती है, वे कार्य की सुंदरता को समझते हैं, और दुखी लोगों को दिलासा देते हैं तथा कमजोरों की सहायता करते हैं।

मैं साधारण स्कूलों और सामान्यीकृत स्कूलों के संबंध की तुलना, बाइबिल के पूर्व विधान (ओल्ड टेस्टामेंट) और नए विधान (न्यू टेस्टामेंट) के संबंध से करना चाहूंगी। पूर्व विधान के दस आदेशों में से कुछ आदेश इस प्रकार हैं, "तुम हत्या न करो," "तुम चोरी मत करो।" यहां हम निषेध करने वाले नियम देखते हैं। ये उस समय के लोगों के लिए आवश्यक थे, क्योंकि उनके विचारों में स्पष्टता नहीं आई थी। परंतु नए विधान में प्रभु यीशु बच्चों की तरह, सुस्पष्ट निश्चित आदेश देते हैं, "अपने शत्रुओं से प्रेम करो"। जिनके पास सत्ता है और जो अपने को श्रेष्ठ समझते हैं, उनसे प्रभु यीशू कहते हैं, "मैं पापियों को प्रायश्चित कराने के लिए आया हूं।"

परंतु लोगों को केवल नीति के उपदेश देना पर्याप्त नहीं होता। "अपने शत्रुओं से प्रेम करो" कहना व्यर्थ है यदि हम केवल गिरजाघर में ही इसे कहें, और युद्ध स्थल पर नहीं,

जहां इसके विपरीत कार्य हो रहा है। जब हम कहते हैं "हत्या मत करो", तो हम पूरा ध्यान उस बुराई की ओर केंद्रित करते हैं, जिससे हम बचना चाहते हैं, मानो व्यवहार में अच्छाई संभव नहीं है। अपने शत्रुओं को प्यार करना इतना असंभव प्रतीत होता है कि वह निरर्थक आदर्श रहा है।

लेकिन क्यों ? क्योंकि आदमी के हृदय में अब अच्छाई का स्थान नहीं रहा। शायद वह पहले था, परंतु अब वह समाप्त हो चुका है। यदि शिक्षा की समस्त अवधि के दौरान प्रतिद्वंद्विता, होड़ और महत्वाकांक्षा को ही प्रोत्साहित किया जाता है, तो हम यह आशा कैसे करें कि वे बीस, या तीस वर्ष की अवस्था में अच्छाई के उपदेशों को सुनकर अच्छे बन जाएंगे। मैं कहती हूं कि वह असंभव है क्योंकि आध्यात्मिक जीवन की कोई तैयारी नहीं की गई है।

महत्ता उपदेशों की नहीं, वरन स्वाभाविक प्रकृति की है, क्योंकि वही यथार्थ है। बच्चे अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं, शिक्षकों के उपदेशों के अनुसार नहीं। पारस्परिक सहायता से, तथा आध्यात्मिक संबद्धता से प्राप्त एकता से, परिणाम अवश्य अच्छा होगा। बच्चों का, संबद्धता द्वारा रचा गया समाज, जो हमारे सामने प्रकट हुआ है, वही समस्त सामाजिक संगठन का आधार है। इन्हीं कारणों से मेरा यह विचार है कि तीन से छह वर्ष के बच्चों को, हम वयस्क, कुछ नहीं सिखा सकते। हम उनके प्रतिदिन और प्रतिघंटे के अनंत प्रयोगों का बुद्धिमानी से अवलोकन करके, उनके विकास पर दृष्टि रख सकते हैं। बच्चों को जो प्रकृति से मिला है, उसका विकास, कार्य से होता है। प्रकृति उनका आंतरिक निर्देशन करती है। पर किसी भी क्षेत्र में, विकास के लिए निरंतर प्रयत्न और अनुभव की आवश्यकता होती है। इसके बिना उपदेशों का कोई असर नहीं होता। क्रियाकलापों से विकास होता है, बौद्धिक समझ से नहीं। छोटे बच्चों की, विशेष रूप से 3 से 6 वर्ष के बच्चों की शिक्षा इसीलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी समय चरित्र और समाज का निर्माण प्रकृतिवश होता है (जैसे जन्म से तीन वर्ष की अवस्था में मस्तिष्क का निर्माण होता है और जन्मपूर्व अवस्था में शरीर का निर्माण होता है)। बच्चा 3 से 6 वर्ष में जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह उपदेशों पर नहीं, वरन उस दैनिक संचालन पर निर्भर करता है, जिससे वह अपने चरित्र का निर्माण करता है। मानव आचरण के यही आदि स्रोत हैं और उनका विकास स्वतंत्रता और व्यवस्था के परिवेश में ही हो सकता है।

अध्याय चौबीस

गलतियां और उनका सुधार

हमारे स्कूल में बच्चे स्वतंत्र होते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वहां व्यवस्था नहीं है। सच तो यह है कि यदि बच्चों को काम करने की स्वतंत्रता दी जाए, तो वहां की व्यवस्था, साधारण स्कूल से भी कहीं अधिक अच्छी होनी चाहिए। बच्चे, हमारे परिवेश में अनुभव प्राप्त करके, अपने को पूर्ण बनाते हैं। परंतु उनके लिए कुछ विशेष कार्य करना अनिवार्य होता है। जब उनका ध्यान केंद्रित होना प्रारंभ हो जाता है, तो वे कई प्रकार के कार्यों द्वारा ध्यान केंद्रित रखना सीखते हैं। बच्चों की गतिविधियां जितनी बढ़ती जाती हैं, उतनी ही अध्यापक की गतिविधियां कम होती जाती हैं। शायद अंत में अध्यापक के पास कुछ भी काम बाकी न रहे।

जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं, इस मार्ग पर चलने वाले बच्चे, एक ऐसे सामाजिक समूह में बंध जाते हैं जो हमारे समाज से बहुत श्रेष्ठ है। इसीलिए हमारी यही इच्छा होती है कि उन्हें हमेशा वयस्कों के हस्तक्षेप से अलग रखें। बच्चों का मिलजुल कर रहना, भ्रूण जीवन की तरह का एक ऐसा सजीव और कोमल तथ्य है, जिसे हम बिगड़ने नहीं देना चाहते। एक बार जब हम ऐसा परिवेश बना देते हैं, जिसमें बच्चों के विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल सब चीजें उपस्थित हों, तो हम बच्चों के मिलजुल कर रहने के लिए सब आवश्यक व्यवस्था कर देते हैं।

इस नए परिवेश में, अध्यापक और बच्चों के बीच एक सुस्पष्ट संबंध विद्यमान होता है। अध्यापक के कार्य का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे, परंतु एक काम उसे कभी नहीं करना चाहिए—बच्चों के कार्यों की प्रशंसा करके उनके कार्य में बाधा डालना, या उनकी गलती पर उन्हें दंड देना। उसे तो बच्चे की गलतियां भी नहीं सुधारनी चाहिए। यह सुनने में बड़ा बेतुका लगता है और बहुतों को यह बिलकुल गलत भी लगेगा।

वे कहते हैं, "यदि आप बच्चे की गलतियां नहीं सुधारेंगे, तो उसकी प्रगति कैसे होगी ?"

अधिकांश अध्यापक सोचते हैं कि उनका मुख्य काम यही है कि वे सदा आलोचना करें। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो या नैतिक क्षेत्र हो, वे आलोचना ही करते हैं। उनके विचार से बच्चे को पुरस्कार और दंड के द्वारा ही प्रशिक्षित किया जा सकता है।

परंतु यदि बच्चे को पुरस्कार या दंड देना आवश्यक है, तो इसका यह अर्थ है कि

उसमें आत्मनिर्देशन की क्षमता नहीं है। अतः अध्यापक को उसका निर्देशन करना चाहिए। परंतु मान लीजिए बच्चा स्वयं कार्य करने लगे, तब पुरस्कार और दंड अनावश्यक होंगे। उनसे उसकी आंतरिक स्वतंत्रता को ठेस पहुंचेगी। अतः हमारे जैसे स्कूलों में, जो स्वाभाविकता को समर्पित हैं, और जिनका उद्देश्य बच्चों को स्वतंत्र करना है, पुरस्कार और दंड का कोई स्थान नहीं होगा। यदि बच्चा स्वयं स्वतंत्रता से अपना काम चुनता है, तो उसके लिए पुरस्कार या दंड की कोई महत्ता नहीं होती।

यदि पुरस्कार की प्रथा समाप्त करने की बात उठाई जाए, तो कोई अधिक विरोध नहीं प्रकट करता। उससे पैसे की बचत होती है, थोड़े से ही बच्चों पर उसका प्रभाव पड़ता है, और वह भी वर्ष में एक बार। लेकिन दंड! वह तो प्रतिदिन दिए जाते हैं। कॉपियां जांचने का क्या अर्थ है ? उसका अर्थ है 0 से 10 तक नंबर देना। किसी को शून्य देने से उसके दोष कैसे दूर हो जाएंगे ? अध्यापक कहता है, "तुम बार-बार वही गलती दोहराते हो। तुम मेरी बात ध्यान से नहीं सुनते। इस तरह तुम कभी परीक्षा में पास नहीं हो सकते।"

बच्चे के लिखित कार्य में अध्यापक द्वारा काट-छांट करने से, तथा बच्चे को बार-बार डांटने से, उसके उत्साह और रुचि में कमी होती जाती है। बच्चे को शैतान और बेवकूफ कहने से, वह अपमानित अनुभव करता है, और उसका सुधार भी नहीं होता। यदि हम चाहते हैं कि बच्चा गलतियां न करे, तो उसकी दक्षता बढ़ानी चाहिए। परंतु वह अधिक दक्ष कैसे हो सकता है, जबकि उसका स्तर पहले से ही नीचे है, और फिर उसे हतोत्साहित भी किया जाता है। पुराने जमाने में अध्यापक बेवकूफ बच्चों के कानों में, गधे के कान बना कर बांध देते थे और खराब लिखाई के लिए उनकी उंगलियों पर थप्पड़ मारते थे। परंतु वे चाहे संसार भर के कागजों से गधे के कान बना देते, या उनकी उंगलियों को मार-मार कर गूदा बना देते, फिर भी वे उनमें नई क्षमता नहीं उपजा सकते थे। केवल अभ्यास और अनुभव से ही कोई अयोग्यता ठीक हो सकती है और विविध प्रकार के हुनर सीखने के लिए लंबे अभ्यास की जरूरत होती है। अनुशासनहीन बच्चे में, दूसरे बच्चों के साथ काम करने से अनुशासन आता है, दूसरों द्वारा शैतान कहे जाने से नहीं। यदि आप किसी छात्र से कहें कि उसमें किसी काम को करने की योग्यता नहीं है तो वह शायद पलट कर यही कहे, "फिर उसकी बात क्यों करते हैं ? यह तो मुझे भी मालूम है।"

यह सुधार करना नहीं है। यह तो एक तथ्य का कथन है। सुधार तभी हो सकता है जब बच्चा स्वेच्छा से, लंबी अवधि तक अभ्यास करे।

ऐसा हो सकता है कि बच्चा अनजान में कोई गलती कर दे, पर अध्यापकों से भी अचेतन में भूल हो सकती है। दुर्भाग्य से अध्यापकों की ऐसी धारणा है कि उन्हें खुद कभी गलती नहीं करनी चाहिए, नहीं तो वे बच्चों के लिए बुरा उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। अतः यदि कभी भूल से अध्यापक द्वारा कोई चूक हो जाए तो वह निश्चय ही बच्चे के सामने उसे स्वीकार नहीं करेगा। उसकी प्रतिष्ठा इसी पर आधारित है कि वह कभी गलती नहीं करता। उसे आदर्श बनना ही पड़ता है। परंतु इसमें पूर्णरूप से अध्यापकों की गलती नहीं है। दोष

तो समस्त स्कूल प्रणाली का है जो गलत आधार पर टिकी हुई है।

मान लीजिए कि हम गलती के तथ्य का अध्ययन करें तो हम यह देखते हैं कि सभी गलतियां करते हैं। यह जीवन की एक वास्तविकता है और गलती कबूल कर लेना, एक बहुत बड़ा कदम है। सच्चाई और वास्तविकता यही है, कि हम सभी गलती कर सकते हैं; नहीं तो हम सब आदर्श व्यक्ति होते। अतः हमें गलती के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए और उसे अपने जीवन का ऐसा अभिन्न अंग मान लेना चाहिए जो किसी उद्देश्य के लिए होता है जैसा वह वास्तव में है।

कई गलतियां जीवन के साथ स्वतः ठीक हो जाती हैं। छोटा बच्चा चलना शुरू करते समय पहले लड़खड़ाता है, गिरता है, और अंत में सरलता से चलने लगता है। वह बड़ा होने की प्रक्रिया से तथा अनुभव से अपनी गलतियां सुधार लेता है। यदि हम यह सोचते हैं कि हमारा जीवन निरंतर पूर्णता की ओर प्रगति कर रहा है, तो यह हमारी भ्रांति है। सच यह है कि हम गलती पर गलती करते जाते हैं और अपना सुधार नहीं करते। हमें अपनी गलतियों का एहसास नहीं होता। हम वास्तविकता से दूर, एक भ्रम में डूबे रहते हैं। ऐसी अध्यापिका जो यह सोचती है कि वह आदर्श है और अपनी गलती कभी नहीं देखती, वह अच्छी अध्यापिका नहीं है। हम जिधर भी दृष्टि डालें, कोई न कोई गलती अवश्य दिखाई देगी। यदि हम स्वयं पूर्णता की आशा करते हैं तो हमें अपने दोषों पर दृष्टि डालनी होगी, क्योंकि इन्हें दूर करने से ही हम अपना सुधार कर सकेंगे। हमें इन दोषों के अस्तित्व को, जीवन के एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करना होगा।

ऐसे विज्ञानों में भी, जिनका ज्ञान सुनिश्चित होता है, (जैसे गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि) गलतियों की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि उनका ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्यक्ष विज्ञान के आगमन के कारण, गलती का भी वैज्ञानिक अध्ययन करना पड़ा। विज्ञान में इसीलिए गलती की संभावना नहीं होती, क्योंकि वह गलती का निश्चित मूल्यांकन कर लेता है। जब किसी चीज का माप लिया जाता है, तो दो बातों का ध्यान रखा जाता है—एक तो सुनिश्चित अंक प्राप्त करना, और दूसरा इस बात को जानना कि इसमें कितनी गलती हो सकती है। विज्ञान के तथ्य सदा लगभग होते हैं, कभी पूर्ण नहीं होते और उसके परिणामों में इसके लिए गुंजाइश होती है। उदाहरणतः प्रतिजीव (एंटीबायोटिक) इंजेक्शन से 95% मामलों में सफलता प्राप्त होती है। परंतु यह जानना महत्वपूर्ण है कि 5% में अनिश्चितता की संभावना है। यहां तक कि एक रेखा का माप भी केवल कुछ दशमलव बिंदु तक सही माना जाता है। कोई भी ऐसा अंक नहीं दिया जाता और न स्वीकार किया जाता है जब तक उसकी संभावित गलती का संकेत न कर दिया जाए, और इसकी गणना करना ही उसको महत्वपूर्ण बनाता है। संभावित गलतियां भी, आंकड़ों के बराबर महत्वपूर्ण हैं। बिना गलतियों के आंकड़ों पर कोई गंभीरता से विचार नहीं करता। यदि प्रत्यक्ष विज्ञान में, गलतियों का मूल्यांकन इतना महत्वपूर्ण है, तो हमारे कार्य में उसकी महत्ता और भी अधिक है। हमारे लिए गलतियों का विशेष महत्व है और उनको ठीक करने के लिए या समाप्त

करने के लिए सर्वप्रथम हमारे लिए उन्हें जानना जरूरी है।

अतः हम ऐसे वैज्ञानिक सिद्धांत का सहारा लेते हैं जिसके द्वारा हम पूर्णता की ओर भी जा सकते हैं। इसे हम "गलती का नियंत्रण" कहते हैं। स्कूलों में जो कुछ भी किया जाता है, चाहे वह अध्यापक करें, या बच्चे, या अन्य कोई, उसमें गलतियां अवश्य होंगी। अतः हमें स्कूली जीवन में इस नियम को अपनाने की आवश्यकता है—अर्थात गलती के सुधार का इतना महत्व नहीं है, जितना प्रत्येक व्यक्ति को अपनी गलती के एहसास होने का है। प्रत्येक के पास एक ऐसे परीक्षण का साधन होना चाहिए, जिससे वह यह बता सके कि कहीं वह गलती तो नहीं कर रहा है। मुझे यह जानने की आवश्यकता है, कि मैं अच्छा कर रही हूं या बुरा। यद्यपि मैंने आरंभ में अपनी गलतियों को महत्वहीन समझा था, परंतु अब मैं उनका महत्व समझने लगी हूं।

सामान्य प्रकार के स्कूलों के बच्चों को इसका कोई बोध नहीं होता कि वे गलतियां कर रहे हैं। वे अचेतन में गलतियां करते हैं और उनके प्रति पूर्णतया उदासीन रहते हैं, क्योंकि उनका विचार होता है कि गलतियों का सुधार करना, अध्यापक का काम है, उनका नहीं। स्वतंत्रता की हमारी अवधारणा से, यह कितना भिन्न है।

यदि मैं स्वयं अपनी गलती ठीक नहीं कर सकती, तो इसके लिए मुझे किसी और से सहायता लेनी होगी। हो सकता है कि उसकी जानकारी भी मेरे ही बराबर हो। उससे यह कितना बेहतर है कि मैं अपनी गलतियों को स्वयं पहचान लूं और फिर उन्हें ठीक करूं। यदि हम बिना किसी की सलाह लिए परिस्थितियों का मुकाबला नहीं कर सकते, तो हमारा चरित्र ऐसा बन जाएगा कि हम हमेशा दुविधा में पड़े रहेंगे। इससे हीन भावना उत्पन्न होती है, और आत्मविश्वास कम हो जाता है।

"गलती का नियंत्रण" एक प्रकार का संकेतक है, जिससे हमें पता चलता है कि हम अपने उद्देश्य की ओर बढ़ रहे हैं या उसकी विपरीत दिशा में जा रहे हैं। मान लीजिए, मैं एक शहर में जाना चाहती हूं, पर मुझे रास्ता नहीं मालूम है। ऐसा जीवन में अक्सर होता है। मैं नक्शा देखती हूं, और रास्ते पर लगे हुए संकेत चिह्नों को भी ध्यान में रखती हूं। मार्ग में एक जगह लिखा है—"अहमदाबाद—दो मील"—मैं आश्वस्त होती हूं। परंतु यदि अचानक मुझे मार्ग में यह लिखा हुआ मिल जाए, "बंबई—पचास मील" तो मुझे पता चल जाएगा कि मैं गलत रास्ते पर हूं। नक्शे और मार्ग के संकेत चिह्नों से मुझे सहायता मिलती है। यदि ये न होते, तो मुझे रुक-रुक कर रास्ता पूछना पड़ता और संभव है कि सभी उत्तर एक दूसरे से भिन्न होते। किसी भी स्थान पर पहुंचने के लिए यह अनिवार्य है कि विश्वसनीय मार्ग दर्शक हों और रास्ते में उसकी पुष्टि की व्यवस्था हो।

अतः विज्ञान और व्यवहार, इन दोनों में जब गलती की इतनी महत्ता है तो हमें शिक्षा में, प्रारंभ से ही इसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लेना चाहिए—अर्थात हममें "अपनी गलतियों को पहचानने" की संभावना होनी चाहिए। काम के लिए निर्देश और सामग्री देने के साथ-साथ, हमें इसकी भी व्यवस्था करनी चाहिए। प्रगति की क्षमता, बड़ी मात्रा में स्वतंत्रता

से, तथा आगे बढ़ने के निश्चित मार्ग की जानकारी से होती है। परंतु इसके साथ-साथ हमें यह भी जानना चाहिए कि हम कब अपने मार्ग से हट जाते हैं। अगर स्कूल और दैनिक जीवन, दोनों में हम इस सिद्धांत को प्राप्त कर सकें, तो फिर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि अध्यापक और माताएं आदर्श व्यक्ति हैं या नहीं। बड़ों द्वारा की गई गलतियों में कुछ उद्देश्य होता है। बच्चे उनसे सहानुभूति रखते हैं, परंतु पूर्णतया निर्लिप्त भाव से। उनके लिए यह जीवन का एक स्वाभाविक तथ्य है। यह तथ्य कि हम सबसे गलती हो सकती है, उनके अंदर स्नेह की एक भावना उत्पन्न करता है, तथा मां और बच्चे को जोड़ने में सहायक होता है। गलतियों से हम एक दूसरे के निकट आते हैं और बेहतर मित्र बनते हैं। आदर्श के मार्ग पर, बंधुत्व की भावना का उत्पन्न होना इतना सरल नहीं है जितना गलतियों के मार्ग पर। आदर्श व्यक्ति बदल नहीं सकता। यदि दो आदर्श व्यक्ति एक साथ रहें, तो अनिवार्यतः झगड़ा होगा, क्योंकि दोनों एक दूसरे को न तो समझ पाएंगे न सहन कर सकेंगे।

हमारे स्कूल में बच्चा सबसे पहला अभ्यास यही करता है कि एक लकड़ी के तख्ते में बने, कई छेदों (सॉकेट) में से एक में उससे मिलता-जुलता गिलास फिट करता है। उसके पास कई गिलास होते हैं जिनकी ऊंचाई बराबर होती है पर उनका व्यास भिन्न-भिन्न होता है। पहले तो बच्चा एक-एक गिलास को उन छेदों में फिट करता है। परंतु जब आखिरकार एक गिलास बच जाता है तो उसे पता चलता है कि उसने कहीं कोई गलती की है। आखिर का गिलास बचे हुए छेद के लिए बहुत बड़ा है परंतु कुछ और गिलास अपने छेदों में थोड़े ढीले लगते हैं। बच्चा एक बार फिर सब गिलासों को बहुत ध्यान से देखता है। अब उसके सामने एक समस्या है। बचा हुआ गिलास साफ बताता है कि उसने कहीं गलती की है। इसी से खेल में उसकी रुचि बढ़ती है और वह दुबारा फिर से सब गिलासों को लगाता है। अतः यह उपकरण दो आवश्यकताओं को पूरा करता है—(क) बच्चे का बोध बढ़ता है। (ख) वह अपनी गलती को समझ कर, ठीक करता है।

हमारे उपकरण सदा इस ढंग से बनाए जाते हैं, कि उनसे प्रत्यक्ष गलती पता चल जाती है। दो वर्ष का छोटा बच्चा भी उनका उपयोग करता है तो फौरन अपनी गलती स्वयं सुधार लेता है। इस तरह वह पूर्णता के मार्ग पर चलने लगता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने पूर्णता प्राप्त कर ली है। इसका अर्थ केवल यह है कि उसे अपनी क्षमताओं का बोध हो जाता है और वह फिर से कोशिश करने को प्रेरित होता है। बच्चा शायद यह कहे, "मैं आदर्श नहीं हूं, मैं सर्वशक्तिमान नहीं हूं। परंतु मैं यह जानता हूं कि मैं इतना कर सकता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि मुझसे गलतियां हो सकती हैं, और मैं स्वयं उन्हें ठीक कर सकता हूं और इस तरह आगे बढ़ने का रास्ता ढूंढता हूं।"

अतः यहां समझदारी, निश्चय और अनुभव, सभी उपस्थित हैं जो जीवन को संबल प्रदान करते हैं। सुरक्षा की यह भावना प्रदान करना इतना सरल नहीं है जितना हम सोचते हैं। और बच्चों को पूर्णता की ओर ले जाना भी सहज नहीं है। किसी बच्चे से कहना कि वह बुद्धिमान है या फूहड़ है, तेज है या बेवकूफ है, अच्छा है या बुरा है, उसके साथ एक

प्रकार का विश्वासघात है। बच्चा स्वयं ही देखेगा कि वह क्या कर सकता है। यह बहुत महत्वपूर्ण है कि हम उसे केवल शिक्षा के साधन ही नहीं, वरन वे संकेतक भी दें जिनसे वह अपनी गलतियां खुद समझ सके।

अब हम जरा एक बड़े बच्चे का अवलोकन करें, जिसकी शिक्षा इस ढंग से हुई है। वह गणित के सवालों को हल करता है, परंतु उसे सदा यह सिखाया गया है कि उत्तर की स्वयं जांच कर ले और यह अब उसकी आदत बन गई है। बहुधा उसे उत्तर की जांच करना सवाल करने से भी अधिक रोचक लगता है। यही बात पढ़ाई में भी होती है। एक अभ्यास में, बच्चा नाम लिखे हुए कार्ड को, उस चीज के सामने रखता है, जिसका नाम उस कार्ड पर लिखा हो। इसकी जांच के लिए एक दूसरा कार्ड अलग रहता है जिसमें नाम के साथ-साथ उस चीज का चित्र भी बना रहता है। बच्चा इस कार्ड को उठा कर देखता है कि उसने पहला कार्ड ठीक चीज के सामने रखा था या नहीं। उसे स्वयं अपनी गलती ढूंढने में बहुत खुशी होती है।

यदि हम स्कूल के दैनिक कार्यक्रम में ऐसी व्यवस्था करें कि बच्चों को स्वयं अपनी गलतियों का बोध हो सके, तो हम उसे प्रगति के मार्ग पर खड़ा कर देंगे। बच्चे को बेहतर काम करने में रुचि होती है और स्वयं जांच और परीक्षण द्वारा अपनी गलतियां निकालना उसके लिए बहुत महत्व रखता है और इस तरह उसकी निश्चित प्रगति होती है। उसका स्वभाव उसे सुनिश्चय की ओर प्रेरित करता है और गलतियां निकालने के तरीके उसे रोचक लगते हैं। हमारे एक स्कूल में एक छोटी लड़की ने आदेश पढ़ा, "बाहर जाओ, दरवाजा बंद करो और वापस आओ।" उसने ध्यानपूर्वक आदेश पढ़ा और उसका पालन करने के लिए वह चली परंतु बीच ही में रुक गई और अध्यापिका के पास जाकर कहने लगी, "जब मैं दरवाजा बंद कर दूंगी तो वापस कैसे आऊंगी ?"

अध्यापिका ने कहा, "तुम ठीक कह रही हो। यह मेरी गलती थी।" उसने आदेश को फिर से लिखा।

बच्ची ने मुस्कुराते हुए कहा, "हां, अब मैं कर सकती हूं।"

इस तरह, गलतियों के बोध होने से, एक प्रकार की भाईचारे की भावना उत्पन्न होती है। गलतियां आदमी को अलग करती हैं, परंतु उनका सुधार आदमियों को जोड़ता है। जहां कहीं भी गलतियां मिलें, उन्हें ठीक करने में सबकी रुचि होती है। गलती स्वयं रोचक हो जाती है। वह निश्चित रूप से आदमियों को जोड़ने वाला बंधन है। इससे बच्चों और वयस्कों के बीच समन्वय स्थापित होने में सहायता मिलती है। यदि किसी वयस्क की कोई छोटी सी गलती बच्चे को पता चल जाती है, तो उसके कारण वयस्क के लिए बच्चे के मन में आदर की कमी नहीं होती, और न वयस्क की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। गलती के अवैयक्तिक बन जाने पर उस पर नियंत्रण पाया जा सकता है। इस तरह छोटी चीजों से, बड़ी चीजें प्राप्त होती हैं।

अध्याय पच्चीस

आज्ञापालन के तीन स्तर

चरित्र के प्रशिक्षण पर विचार-विमर्श करते समय, अक्सर संकल्प शक्ति और आज्ञापालन के प्रश्नों पर चर्चा होने लगती है। अधिकांश लोगों की यही धारणा है कि ये दोनों परस्पर विरोधी विचार हैं, क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य मूलतः बच्चे की संकल्प शक्ति को दबाना या झुकाना और उसके स्थान पर अध्यापक की संकल्प शक्ति को प्रतिस्थापित करना है। अध्यापक बच्चे से पूर्ण आज्ञापालन की अपेक्षा करता है।

मैं इन विचारों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास करूंगी। मेरे विचार, दूसरों की धारणाओं पर आधारित नहीं हैं वरन उन तथ्यों पर आधारित हैं जिनका अवलोकन किया जा चुका है। पर पहले हम देखें कि विचारों के इस क्षेत्र में कितनी अव्यवस्था है। जैसा हमने अध्याय आठ में देखा, ऐसी धारणाएं हैं, जिनके अनुसार आदमी की संकल्प शक्ति, एक महान विश्व शक्ति *(होर्मे)* से प्राप्त होती है। यह विश्व शक्ति भौतिक नहीं है वरन विकास प्रक्रिया में स्वयं जीवन की शक्ति है। यह सब प्रकार के जीवों को विकास की ओर प्रेरित करती है और इसी से कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। परंतु विकास नियति द्वारा, या अकस्मात नहीं होता वरन निश्चित नियमों से संचालित होता है। यदि मनुष्य का जीवन उस शक्ति की अभिव्यक्ति है, तो उसका व्यवहार भी वही संचालित करेगी।

छोटा बच्चा जैसे ही अपने संकल्प से कार्य करना शुरू करता है, यह शक्ति उसकी चेतना में प्रविष्ट हो जाती है। उसकी संकल्प शक्ति का विकास प्रारंभ हो जाता है और उसके बाद से, केवल अनुभवों के द्वारा यह प्रक्रिया बनी रहती है। अतः संकल्प शक्ति जन्मजात नहीं होती, वरन उसका विकास आवश्यक होता है। चूंकि वह प्रकृति का एक अंग है, अतः उसका विकास केवल प्राकृतिक नियमों के अनुसार हो सकता है।

एक और भ्रांति है कि बच्चे के स्वाभाविक क्रियाकलाप अवश्य उपद्रवी होंगे और हिंसात्मक भी हो सकते हैं। यह धारणा साधारणतः इसलिए बन गई है, क्योंकि जब बच्चे को उपद्रव करते हुए देखते हैं, तो सदा यही मान लिया जाता है कि बच्चा यह सब अपनी इच्छा से कर रहा है। परंतु यह सच नहीं है। ऐसे कार्यकलापों का, महान विश्व शक्ति होर्मे में कोई स्थान नहीं होता। यदि हम वयस्क के भावावेश से उत्पन्न कार्यों को या अति क्रोध में किए गए कार्यों को तर्कसंगत, और स्वैच्छिक मान लें, तो यह मूर्खता होगी। साधारणतः हम संकल्प शक्ति शब्द से यह समझते हैं कि एक लक्ष्य है, और उस तक पहुंचने के लिए

रुकावटें हैं जिन्हें पार करना है। यदि हमें यह प्रतीत हो कि हमारे स्वैच्छिक क्रियाकलाप सदा बेढंगे होते हैं, तो हमें भी इसकी आवश्यकता महसूस होगी कि कोई हमारी संकल्प शक्ति पर शासन करे या हमारी संकल्प शक्ति को दबा दे। इसके परिणामस्वरूप, तर्कसंगत यही है कि हम बच्चे की संकल्प शक्ति के स्थान पर अपनी संकल्प शक्ति स्थापित कर दें और उसे हमारी आज्ञा का पालन करने को बाध्य करें।

परंतु वास्तविक परिस्थिति यह है कि संकल्प शक्ति से हिंसा और अव्यवस्था नहीं फैलती है। ये भावनात्मक, अशांति और वेदना के संकेत हैं। यदि परिस्थितियां ठीक हों, तो संकल्प शक्ति जीवन के लिए लाभकारी क्रियाकलापों को प्रेरित करती है। प्रकृति ने बच्चे को, बड़े होने का कार्य सौंपा है। उसकी संकल्प शक्ति उसे प्रगति की दिशा में अवश्य ले जाएगी जिसमें उसकी क्षमताओं का विकास हो।

यदि संकल्प शक्ति और व्यक्ति के क्रियाकलापों में समन्वय हो, तो सचेत विकास का रास्ता खुल जाता है। हमारे बच्चे अपने कार्यों का चुनाव स्वभावतः करते हैं। फिर उन कार्यों को बार-बार करने से उनके क्रियाकलापों में चेतना विकसित होती है। जो पहले एक सजीव स्वाभाविक प्रवृत्ति होर्मे थी, वह अब सचेत क्रियाकलाप बन जाती है। छोटे बच्चे की प्रथम क्रियाएं सहज होती हैं। परंतु अब वह सचेत रहकर स्वेच्छा से कार्य करता है। और इससे उसकी चेतना जाग्रत होती है।

बच्चे को स्वयं यह भिन्नता महसूस होती है। एक बच्चे ने जिस रूप में इसे व्यक्त किया, वह सदा हमारी स्मृति में सुरक्षित रहेगा। अभिजात वर्ग की एक महिला हमारा स्कूल देखने आई। वह पुराने विचारों की थी और उसने एक छोटे बच्चे से कहा, "तो यही वह स्कूल है जहां तुम अपनी मरजी के मुताबिक कार्य करते हो ?"

उस बच्चे ने उत्तर दिया, "नहीं मैडम, हम अपनी मरजी के मुताबिक काम नहीं करते हैं, वरन काम हमारी मरजी के मुताबिक होता है।"

उस बच्चे ने यह सूक्ष्म भेद समझ लिया था। किसी काम को इसलिए करना क्योंकि उसमें सुख मिलता है, तथा अपने चुने हुए काम को करने में सुख की प्राप्ति।

एक बात स्पष्ट होनी चाहिए। सचेत संकल्प शक्ति, उपयोग और क्रियाकलाप से विकसित होती है। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए, कि हम संकल्प शक्ति का विकास करें, उसे नष्ट न करें। नष्ट तो वह एक क्षण में हो सकती है। परंतु उसका विकास, परिवेश से संबंधित निरंतर गतिविधियों द्वारा बहुत धीमी गति से होता है। किसी चीज को नष्ट करना कहीं अधिक सरल होता है। बम फटने से, या भूचाल से, बड़ी-बड़ी इमारतें कुछ ही क्षणों में उजड़ जाती हैं। परंतु उनका निर्माण कितना कठिन था। इसके लिए हमें साम्यावस्था के नियम, अच्छा मजबूत सामान, और यहां तक कि कला के नियमों का भी ज्ञान जरूरी था, जिससे वह देखने में अच्छी लगे।

यदि एक निर्जीव इमारत के लिए इतनी चीजों की आवश्यकता है, तो मानव संकल्प शक्ति के निर्माण के लिए कितना कुछ और चाहिए ? पर मानव संकल्प शक्ति का निर्माण,

प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। न तो मां, और न अध्यापिका उसकी निर्मात्री हो सकती है। वे उसकी संरचना करने वाली भी नहीं। वे उस रचनात्मक कार्य में केवल सहायता कर सकती हैं जो उनके सामने हो रहा है। उनका कार्य और उद्देश्य *केवल सहायता करना* ही होना चाहिए। परंतु उनके पास बच्चों की संकल्प शक्ति को तोड़ने की ताकत है, वे अपने अत्याचार से उसे विनष्ट कर सकती हैं। कई पूर्वाग्रहों के कारण यह विषय अस्पष्ट हो गया है। उसे स्पष्ट करना लाभप्रद होगा।

सामान्य शिक्षा में सबसे बड़ा पूर्वाग्रह यही है कि हम बातें करके (बच्चे की श्रवण शक्ति को अपील करके) या अपने को अनुकरणीय आदर्श के समान प्रस्तुत करके (बच्चे के नेत्रों से अपील) सब कुछ उपलब्ध कर सकते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि केवल क्षमताओं के उपयोग से ही व्यक्तित्व का विकास होता है। हम बच्चे को ग्रहणशील जीव मानते हैं, गतिशील जीव नहीं। यही धारणा बच्चे के जीवन के प्रत्येक पहलू के लिए सच है। कल्पना के क्षेत्र में भी हमारा यही व्यवहार रहता है। हम बच्चों को परियों की और सुंदर राजकुमारियों की कहानियां सुनाते हैं जिससे उनकी कल्पना शक्ति बढ़े। परंतु इस प्रकार की कहानियां सुनने से वह केवल बिंब प्राप्त करता है। वह स्वयं कल्पना के रचनात्मक प्रयोग से अपनी क्षमता नहीं बढ़ाता। रचनात्मक कल्पना, जो मनुष्य की एक उच्च मानसिक क्षमता है, उसमें सक्रिय नहीं होती। यही गलती जब हम संकल्प शक्ति के प्रति करते हैं, तो परिणाम और भी गंभीर होते हैं। साधारण स्कूलों में इतना ही नहीं होता कि बच्चे को अपनी संकल्प शक्ति के प्रयोग का कोई अवसर नहीं मिलता, वरन प्रत्यक्ष रूप से उसकी अभिव्यक्ति को रोका और दबाया जाता है। बच्चे द्वारा विरोध प्रकट करना, एक विद्रोह समझा जाता है। और यह कहना सच होगा कि शिक्षक हर संभव तरीके से बच्चे की संकल्प शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।

बच्चे के सामने उदाहरण प्रस्तुत करके उसे सिखाने के सिद्धांत के फलस्वरूप (कहानी सुनाने के अतिरिक्त) अध्यापिका अपने को एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रस्तुत करती है। अतः बच्चे की संकल्प शक्ति और कल्पना, दोनों ही निष्क्रिय बनी रहती हैं और बच्चे केवल अध्यापिका का अवलोकन करते हैं और उसकी बातें सुनते हैं।

हमें इन भ्रांतियों से अपने को मुक्त करके, वास्तविकता का सामना करना चाहिए।

पुराने समय की शिक्षा पद्धति में, अध्यापक की दलीलें तर्कसंगत प्रतीत हो सकती थीं। वह कहता था, "चूंकि मैं शिक्षा प्रदान करता हूं, अतः मुझे आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। मैं जानता हूं कि क्या उचित है और क्या अनुचित। अतः यदि बच्चे मेरा अनुकरण करें और मेरी आज्ञा का पालन करें तो सब कुछ ठीक होगा।" तब सफलता का राज आज्ञापालन था। मुझे उस प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री का नाम याद नहीं आ रहा है जिसने कहा था, "बचपन के सब गुणों का सारांश आज्ञापालन में है।"

इसके कारण शिक्षक की भूमिका सरल और गौरवशाली बन गई थी। उसका तर्क कुछ यों था, "यह बच्चा अबोध और विकृत है। मैं इसे ठीक कर दूंगा और अपनी तरह बना

दूंगा।'' इस तरह वह यह स्वीकार करता है कि उसमें वे क्षमताएं हैं जिनकी प्रतिध्वनि हम बाइबिल के इस कथन में पाते हैं—''भगवान ने आदमी को अपने ही रूप का बनाया।''

स्वाभाविक है कि वयस्क यह नहीं सोचता कि वह भगवान का स्थान ले रहा है। लेकिन वह बाइबिल के इन शब्दों को भी भूल जाता है, जो यह बताते हैं कि शैतान ने अहंकार में आकर, भगवान का स्थान लेने की कोशिश की और इसीलिए वह शैतान कहलाया।

परमेश्वर ने अध्यापक और मां-बाप की तुलना में बच्चे को कहीं अधिक उत्कृष्ट बनाया है, परंतु बच्चा उन्हीं की दया पर आश्रित रहता है। किसी समय शिक्षक, अपनी आज्ञा का पालन करवाने के लिए बेंत का प्रयोग करते थे। कुछ ही समय पूर्व, एक अत्यंत सभ्य देश के अध्यापकों ने सामूहिक रूप से इन शब्दों में सार्वजनिक विरोध प्रकट किया ''यदि आप चाहते हैं कि हम बेंत का प्रयोग बंद कर दें, तो हमें बच्चों को सिखाने का काम भी बंद करना पड़ेगा।'' बाइबिल में भी, सोलोमन की सूक्तियों में यह प्रसिद्ध उद्धरण मिलता है, ''यदि मां-बाप बच्चे को दंड नहीं देते, तो वे गलती करते हैं क्योंकि इससे वे बच्चे को नरक के योग्य बना देते हैं।'' अनुशासन का आधार, धमकी और भय बना दिया गया है और हम अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कहना न मानने वाला बच्चा दुष्ट होता है और आज्ञाकारी बच्चा अच्छा होता है।

यदि हम स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक सिद्धांतों के वर्तमान युग में, इस दृष्टिकोण पर विचार करें, तो हमें अवश्य इस बात का बोध होगा कि प्रचलित शिक्षा पद्धति में, अध्यापक को एक तानाशाह बना दिया जाता है। फर्क केवल इतना है कि तानाशाह, अध्यापक की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है, अतः उसके आदेशों में कुछ मात्रा में मौलिकता और कल्पना का सम्मिश्रण होता है। परंतु पुरानी प्रणाली के अध्यापक असंगत नियमों से चिपके रहते हैं और केवल भ्रांतियां तथा पूर्वाग्रह उनका निर्देशन करते हैं। तानाशाह के अत्याचारों और अध्यापक के अत्याचारों में एक वास्तविक अंतर है। तानाशाह अपने क्रूर साधनों का प्रयोग, किसी रचनात्मक कार्य के लिए कर सकता है, परंतु अध्यापकों के हाथ में ये साधन केवल विनाश ही कर सकते हैं।

मूलभूत गलती इस धारणा में है कि किसी व्यक्ति की संकल्प शक्ति के नष्ट हुए बिना वह आज्ञापालन नहीं कर सकता अर्थात वह दूसरों का निर्देशन स्वीकार न तो कर सकता है न उनका अनुसरण कर सकता है। यदि इसी तर्क को बौद्धिक शिक्षा में लागू किया जाए तो हम किसी व्यक्ति के मस्तिष्क को नष्ट करके ही उसे ज्ञान प्रदान कर सकते हैं।

परंतु यदि व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति का पूर्ण विकास करे, स्वतंत्रता से दूसरे के आदेश का पालन करना स्वीकार करे, तो परिणाम बहुत भिन्न होंगे। इस प्रकार का आज्ञापालन, एक तरह की श्रद्धांजलि है जो दूसरों की श्रेष्ठता को मान्यता देती है। और यदि किसी अध्यापक को यह प्राप्त हो तो उसे इस पर गर्व होना चाहिए।

ऐसी स्थिति में संकल्प शक्ति और आज्ञापालन में परस्पर सहयोग होता है। संकल्प शक्ति विकास की नींव रखती है, और आज्ञापालन से उस नींव पर आगे का विकास होता

है। अब ''आज्ञापालन'' का अर्थ साधारण अर्थ से उच्च श्रेणी का हो जाता है। इसका अर्थ व्यक्ति की अपनी संकल्प शक्ति का नवीन परिष्करण होता है।

वास्तव में, आज्ञापालन को मानव जीवन के एक स्वाभाविक तथ्य के रूप में पहचानना सरल है। यह मानव की एक स्वाभाविक विशेषता है। हम अपने बच्चों में इसके विकास का अवलोकन कर सकते हैं। यह परिपक्वता की लंबी प्रक्रिया के बाद स्वाभाविक रूप से, अनायास प्रकट होती है।

यदि मानव के पास यह गुण नहीं होता, यदि उसने विकास की किसी प्रक्रिया से इसे अर्जित नहीं किया होता, तो इस आज्ञापालन की क्षमता के बिना सामाजिक जीवन असंभव होता। संसार की घटनाओं पर एक सरसरी निगाह डालने से ही हमें पता चल जाएगा कि लोग कितने आज्ञापालक हैं। वास्तव में इसी प्रकार के आज्ञापालन के कारण, विशाल जन समूहों का इतनी सरलता से विनाश किया जा सकता है। यह ऐसा आज्ञापालन है जिसकी कोई सीमा नहीं है और इसी से संपूर्ण राष्ट्रों का सर्वनाश होता है। हमारे संसार में आज्ञापालन की कमी नहीं है वरन इसके विपरीत ही है। मानव विकास के एक स्वाभाविक रूप की दृष्टि से आज्ञापालन का तथ्य समझ में आता है। दुख यही है कि इस आज्ञापालन पर कोई नियंत्रण नहीं है।

बच्चों के स्वाभाविक विकास की सहायता के लिए तैयार किए गए परिवेश में बच्चों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि आज्ञापालन का विकास मानव जाति की खास विशेषता है। हमारे अवलोकन व निरीक्षण इस पर काफी प्रकाश डालते हैं।

बच्चे के चरित्र के अन्य लक्षणों की तरह, बच्चे में आज्ञापालन का भी विकास होता है। सर्वप्रथम वह पूर्णतया विशाल विश्व शक्ति होर्मे से प्रेरित होता है, फिर वह सचेत स्तर तक आता है और उसके बाद धीरे-धीरे क्रमशः विकसित होकर सचेत संकल्प शक्ति के नियंत्रण में आ जाता है।

अब हम देखें कि एक व्यक्ति के लिए आज्ञापालन का क्या अर्थ है। सबसे निम्न श्रेणी में तो वही अर्थ है जो सदा से माना गया है—अध्यापक और मां-बाप, बच्चे को आदेश देते हैं और बच्चा उनका पालन करता है।

परंतु यदि हम आज्ञापालन के स्वाभाविक विकास का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि यह तीन अवस्थाओं में होता है। प्रथम चरण में बच्चा सदैव आज्ञापालन नहीं करता वरन कभी-कभी करता है। यह शायद मनमौजी व्यवहार प्रतीत हो, परंतु इसका अधिक गहराई से विश्लेषण होना चाहिए।

आज्ञापालन एकमात्र सद्भावना पर निर्भर नहीं करता है। इसके विपरीत, बच्चे के जीवन के प्रथम चरण में, उसके क्रियाकलाप केवल होर्मे द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। यह सभी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है और यह अवस्था प्रथम वर्ष के अंत तक चलती है। प्रथम वर्ष से छठे वर्ष तक यह लक्षण कम स्पष्ट होता जाता है, क्योंकि इस अवस्था में बच्चे की चेतना प्रकट होती है और उसमें आत्मनियंत्रण उत्पन्न होने लगता है। इस अवधि में उसके आज्ञापालन

का निकट संबंध उस योग्यता से होता है जो वह उस समय तक प्राप्त कर लेता है। आदेश के पालन के लिए बच्चे में थोड़ी परिपक्वता होनी चाहिए और उस कार्य के लिए आवश्यक दक्षता भी चाहिए। अतः इस अवधि में आज्ञापालन को, उस समय की विद्यमान क्षमताओं के प्रसंग में आंकना पड़ेगा। किसी को अपनी नाक के बल चलने का आदेश देना बेतुका है, क्योंकि यह शारीरिक रूप से असंभव है। इतना ही बेतुका एक निरक्षर व्यक्ति को चिट्ठी लिखने का आदेश देना है। अतः बच्चे के विकास के स्तर को देखते हुए हमें पहले यह जानना चाहिए कि क्या उसके लिए आज्ञापालन व्यावहारिक रूप से संभव हो सकेगा?

तीन वर्ष की आयु के पहले, बच्चा आज्ञापालन नहीं कर सकता जब तक कि आदेश उसके जैविक आवेगों के अनुकूल न हो। वह ऐसा इसीलिए नहीं कर सकता, क्योंकि अभी उसने अपना निर्माण पूरा नहीं किया है। अभी तक वह अपने व्यक्तित्व के लिए आवश्यक तंत्रों के अचेतन निर्माण में व्यस्त है। अभी तक वह उस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है जब ये तंत्र इतने दृढ़ रूप से स्थापित हो जाएं कि वह उनका सचेत संचालन कर सके। उन पर नियंत्रण प्राप्त करने के बाद, वह विकास के एक नए स्तर पर पहुंचता है। सच तो यह है कि वयस्क बच्चों के साथ साधारण व्यवहार में यह स्वीकार करते हैं कि दो वर्ष के बच्चे से आज्ञापालन की आशा नहीं करनी चाहिए।

स्वभाववश और तर्क से (और शायद बच्चों के साथ हजारों वर्षों से साथ रहते-रहते) वयस्क यह जानता है कि इस आयु में, बच्चे को किसी काम के लिए जोर से मना करना चाहिए। यद्यपि बच्चा फिर भी वही काम करता जाता है।

फिर भी, आज्ञापालन सदा नकारात्मक नहीं होता। आज्ञापालन का अर्थ, किसी अन्य की इच्छानुसार कार्य करना भी होता है। यद्यपि थोड़े बड़े बच्चे का जीवन, जन्म से तीन वर्ष के बच्चे की तरह, प्रारंभिक तैयारी की अवस्था में नहीं होता, फिर भी बच्चे के कुछ गुणों में विकास होता है और उसके बाद ही वह आज्ञापालन कर सकता है। वह अकस्मात ही दूसरे की इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर सकता, और न वह एक दिन में यह समझ सकता है कि हमारे आदेशों का कारण क्या है। कई प्रकार की प्रगति आंतरिक तैयारी से होती है और इस आंतरिक तैयारी को भी कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। जिस समय ये तैयारियां हो रही हों, उस समय बच्चा शायद आपके अनुरोध पर कोई कार्य कर दे। परंतु इसका यह अर्थ होगा कि उसने अपनी आंतरिक क्षमता का प्रयोग किया है, जो उसी समय उसने अर्जित की होगी। जब यह क्षमता दृढ़ता के साथ स्थापित हो जाएगी, तभी वह उसका सदा प्रयोग कर सकेगा।

कुछ इसी प्रकार की घटना तब होती है जब बच्चा सर्वप्रथम क्रिया की ओर प्रेरित होता है। जब वह लगभग एक वर्ष का होता है तब वह अपना पहला कदम उठाने की हिम्मत करता है। वह अक्सर गिरता है और कुछ थोड़े से समय के लिए चलना बंद कर देता है। पर जब उसका चलने का तंत्र सुदृढ़ हो जाता है, तो वह उसका सदा प्रयोग कर सकता है।

यह एक महत्वपूर्ण बात है। इस अवस्था में बच्चे द्वारा आज्ञापालन सबसे अधिक उसकी क्षमताओं के विकास पर निर्भर करता है। शायद वह एक बार किसी आज्ञा का पालन कर ले, परंतु वह दूसरी बार उसे नहीं कर सकता। वयस्क सोचते हैं कि बच्चा दुर्भावना से आज्ञापालन नहीं कर रहा है, और बच्चे का जो विकास हो रहा था, उसे अध्यापक का आग्रह और दंड सरलता से रोक सकता है। इस संबंध में एक बहुत रोचक तथ्य, स्विट्जरलैंड के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पैस्टालोजी जीवन में मिलता है। पैस्टालोजी के कार्य का, संसार भर के स्कूलों में अभी भी बहुत प्रभाव है। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने स्कूल के बच्चों के साथ पिता-तुल्य भावना से व्यवहार करने का आग्रह किया। वह सर्वदा बच्चों की कठिनाइयों से सहानुभूति रखता था और सदा उन्हें क्षमा करने को तैयार रहता था। परंतु एक बात वह कभी माफ नहीं करता था—और वह थी मनमौजीपन। वह ऐसे बच्चे को बर्दाश्त नहीं कर सकता था जो कभी तो कहना माने और कभी नहीं। यदि बच्चे ने एक बार आदेश का पालन कर लिया तो इसका अर्थ है कि यदि वह चाहे तो सदा आदेश का पालन कर सकता है। अतः पैस्टालोजी दुबारा आदेश का पालन न करना कभी माफ नहीं करता था। इसी एक बात में उसकी दयालुता प्रकट नहीं होती थी। यदि पैस्टालोजी जैसे उदारमना का भी ऐसा विचार था, तो अन्य अध्यापकों से भी यही गलती कितनी अधिक होती होगी।

जब नए निर्माण हो रहे हों, उस समय किसी को हतोत्साहित करना बहुत हानिकारक होता है। यदि बच्चा अपने कार्यों पर अभी नियंत्रण प्राप्त नहीं कर पाया है, यदि वह अभी अपनी इच्छा का भी पालन नहीं कर पाता है, तो वह दूसरे की इच्छा का कैसे पालन कर सकता है। इसीलिए वह आज्ञापालन में कभी सफल होता है, और कभी नहीं। यह बात केवल शैशवकाल में ही नहीं होती। कितनी बार ऐसा होता है कि संगीत सीखने वाला, किसी धुन को पहली बार बहुत अच्छी तरह बजा लेता है, परंतु दूसरी बार वह असफल हो जाता है। यह नहीं कि उसे बजाने की इच्छा नहीं है, परंतु एक निपुण कलाकार की दक्षता और आत्मविश्वास अभी उसमें नहीं आया है।

अतः आज्ञापालन का प्रथम स्तर वह है जब बच्चा आज्ञा का पालन कर सकता है, परंतु सदा नहीं कर सकता। इस अवस्था में आज्ञापालन करना और आज्ञा का पालन न करना, दोनों ही साथ-साथ रहते हैं।

दूसरी अवस्था वह है, जब बच्चा सदा आज्ञापालन करता है या जब उसमें आत्मनियंत्रण आ जाता है। उसकी क्षमताएं अब सुदृढ़ हो जाती हैं और उसकी इच्छा से नहीं, वरन किसी अन्य की इच्छा से भी संचालित हो सकती हैं। यह आज्ञापालन के मार्ग में एक बड़ा कदम है। बच्चा दूसरे की इच्छाओं को ग्रहण करके, अपने व्यवहार से उन्हें अभिव्यक्त कर सकता है। वर्तमान शिक्षा, इसी उच्चतम स्तर के आज्ञापालन की अभिलाषा करती है। साधारण अध्यापिका बच्चे से यही अपेक्षा करती है कि उसकी आज्ञा का पालन हो।

परंतु जब बच्चे का विकास, स्वाभाविक नियमों के अनुसार होता है तो वह इसके बहुत आगे निकल जाता है—इतना आगे जिसकी हम आशा भी नहीं करते थे।

वह *आज्ञापालन के तीसरे स्तर* में पहुंच जाता है।

अब वह अपनी इस अर्जित आज्ञापालन की क्षमता का उपयोग ही नहीं करता, वरन उसे ऐसे व्यक्ति की ओर भी केंद्रित करता है जिसे वह श्रेष्ठ समझता है। मानो बच्चे को इसका बोध हो गया है कि अध्यापिका की क्षमता उसकी क्षमता से बहुत अधिक है। जैसे वह स्वयं से कह रहा हो, "यह मुझसे बहुत श्रेष्ठ है और मुझ पर प्रभाव डाल कर मुझे अपने बराबर बुद्धिमान बना सकती है।"

ऐसा महसूस होने से बच्चे को बहुत खुशी होती है। उसे इस अकस्मात जानकारी से बड़ा प्रोत्साहन मिलता है कि वह अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्देशन में है। वह आज्ञापालन के लिए बड़ा उत्सुक और अधीर हो जाता है। यह बड़ा आश्चर्यजनक, किंतु स्वाभाविक तथ्य है। क्या हम इसकी तुलना किसी से कर सकते हैं ? एक दूसरे स्तर पर यह शायद उस कुत्ते की स्वाभाविक प्रवृत्ति के सदृश है, जो अपने मालिक को प्यार करता है और अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति आज्ञापालन में करता है। वह मालिक की गेंद को गौर से देखता है और उसके दूर फेंके जाने पर दौड़ कर उल्लास के साथ उसे उठा कर वापस लाता है। फिर वह अगले आदेश का इंतजार करता है। वह आदेशों के लिए बड़ा लालायित रहता है और खुशी से भाग-भाग कर उनका पालन करता है। बच्चे के आज्ञापालन की तीसरी अवस्था कुछ इसी तरह की है। यह निश्चित है कि वह तत्परता से आदेशों का पालन करता है और लगता है कि वह पालन करने के लिए उत्सुक भी है।

इसके कुछ रोचक प्रमाण एक स्कूल की अध्यापिका ने प्रस्तुत किए हैं जो दस वर्षों से पढ़ाने का काम कर रही थी। वह बड़ी अच्छी तरह अपनी कक्षा का संचालन करती थी, परंतु बच्चों को कुछ सुझाव दिए बिना उसका मन नहीं मानता था। एक दिन उसने कहा, "अपनी सब चीजें संभाल कर रख देना और फिर घर जाना।" बच्चों ने जैसे ही इतना सुना 'अपनी सब चीजें संभाल कर रख देना,' वे फौरन इसे करने लगे और वाक्य समाप्त होने तक भी नहीं रुके। शेष वाक्य उन्होंने बाद में सुना। वे आज्ञापालन में इतने तत्पर थे कि अध्यापिका को बहुत संभाल कर अपने को अभिव्यक्त करना पड़ता था। उसे वास्तव में इस प्रकार कहना चाहिए था, 'घर जाने से पहले, अपनी सब चीजें संभाल कर रख देना।'

उसने कहा कि जब भी वह सोच-समझ कर आदेश नहीं देती थी, तो ऐसी घटनाएं हो जाती थीं। बच्चों में इतनी तत्काल प्रतिक्रिया होने से, अध्यापिका में उत्तरदायित्व की भावना बढ़ी। यह एक विचित्र नया अनुभव था, क्योंकि साधारणतः सब यही सोचते हैं कि आदेश देने वाला, मनमाने आदेश दे सकता है। इसके विपरीत उसे अपनी अधिकार-सत्ता एक भार प्रतीत होती थी। वह श्याम पट पर 'चुप रहो' लिखने के लिए शुरू का अक्षर 'चु' ही लिख पाती थी कि तत्काल बच्चे चुप हो जाते थे।

इसका एक अन्य प्रमाण मेरा अपना अनुभव था, परंतु मेरे साथ, आज्ञापालन ने एक सामूहिक रूप ले लिया था। उनमें एक आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित एकता का विकास हुआ और बच्चों के पूरे समूह ने मुझसे तादात्म्य स्थापित किया। इसी से प्रेरित होकर मैंने

'खामोशी के खेल' की शुरुआत की।*

पूर्ण खामोशी तभी संभव होती है जब सभी उपस्थित व्यक्ति उसके लिए इच्छुक हों। एक अकेला व्यक्ति उसे भंग कर सकता है। अतः सचेत और संयुक्त क्रियाकलाप से ही वह संभव हो सकती है। इससे एक सामाजिक एकात्मता की भावना उत्पन्न होती है।

खामोशी के खेल से हम बच्चों की संकल्प शक्ति का परीक्षण कर सकते हैं। हमने देखा कि इस खेल को बार-बार खेलने से संकल्प शक्ति में वृद्धि होती थी और खामोशी की अवधि लंबी होती जाती थी। फिर हमने इसमें 'पुकारने' की एक व्यवस्था और जोड़ दी। इसमें बच्चे का नाम हल्के से पुकारा जाता था और अपना नाम सुनकर प्रत्येक बच्चा, बिना आवाज किए आता था। दूसरे बच्चे, पहले की तरह चुपचाप बैठे रहते थे। जिन्हें पुकारा जाता था, वे बहुत धीरे-धीरे आते थे जिससे आवाज न हो। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि जिस बच्चे का नाम आखिर में आता था, उसे अपनी बारी के इंतजार में कितनी देर तक चुपचाप बैठना पड़ता होगा। इस खेल से बच्चों ने अपनी संकल्प शक्ति में जितना विकास किया, वह आश्चर्यजनक था। इस खेल में अपने आवेग पर रोक लगाना पड़ता था और क्रिया पर भी नियंत्रण रखना पड़ता था। हमारी प्रणाली अधिकांशतः इसी पर आधारित है। एक ओर तो अपनी पसंद का चुनाव करने की तथा परिश्रम करने की स्वतंत्रता है और दूसरी ओर निषेध भी है। इन परिस्थितियों में, बच्चे अपनी संकल्प शक्ति का प्रयोग काम करने के लिए भी कर सकते हैं और क्रिया से अपने को रोकने के लिए भी कर सकते हैं। अंत में, ये बच्चे सचमुच में एक प्रशंसनीय समूह के अंग बने। उनमें आज्ञापालन की भावना इसलिए उत्पन्न हुई, क्योंकि उसके लिए सभी तत्व तैयार हो चुके थे।

आज्ञापालन की क्षमता, संकल्प शक्ति के विकास की अंतिम अवस्था है और संकल्प शक्ति से ही आज्ञापालन संभव हो सका है। हमारे बच्चों में इसका स्तर इतना ऊंचा पहुंच गया है कि अध्यापिका को लगता है कि उसे सावधान रहना चाहिए ताकि बच्चों के इस निःस्वार्थ समर्पण का वह अनुचित लाभ न उठाए। उसे तब समझ में आता है कि बच्चों के संरक्षक के पास कौन से गुण होने चाहिए। अच्छे प्रबंधक का व्यवहार बहुत आग्रही नहीं होना चाहिए किंतु उसमें उत्तरदायित्व की गहरी भावना होनी चाहिए।

---

* पढ़िए *'द डिस्कवरी ऑफ द चाइल्ड'*

अध्याय छब्बीस

अनुशासन और अध्यापक

अनुभवहीन अध्यापिका के अंतर में, बच्चों में इस आंतरिक अनुशासन के प्रकट होने का बहुत उत्साह और पूरा विश्वास होता है। परंतु उसके सामने कई कठिन समस्याएं आती हैं।

वह यही समझती और विश्वास करती है कि बच्चों को अपना काम चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, और उनकी स्वाभाविक गतिविधियों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन पर जबरदस्ती न कोई काम लादा जाए, न धमकाया जाए, न पुरस्कार दिए जाएं और न दंड दिया जाए। अध्यापक को शांत और सहनशील होना चाहिए जो धैर्यपूर्वक इंतजार करे और अपने को अलग रखे। इस तरह अपने व्यक्तित्व को मिटा कर वह बच्चे में उत्साह की वृद्धि का अवसर प्रस्तुत करे। वह सारे उपकरण बाहर निकाल कर रखती है, पर इससे अव्यवस्था कम होने की बजाए बहुत अधिक बढ़ जाती है।

उसने जो सिद्धांत सीखे, क्या वे गलत थे? नहीं, उसके सिद्धांत और उससे जो परिणाम निकलते हैं, उनमें कहीं न कहीं कुछ कमी है। यह कमी अध्यापिका के अनुभव की है। उसे प्रारंभ में कुछ सहायता और सलाह की आवश्यकता होती है। यह ऐसे ही है, जैसे जब कोई युवा डाक्टर, या कोई अन्य व्यक्ति, जिसने किसी खास विषय में प्रवीणता प्राप्त की है, अपने को जीवित तथ्यों के बीच पाता है, तो उसे वे, सिद्धांतों की अपेक्षा, कहीं अधिक रहस्यमय लगते हैं।

हमें यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि आंतरिक अनुशासन पहले से उपस्थित नहीं होता, वरन बाद में प्राप्त होता है। हमारा कार्य यह है कि हम अनुशासन का मार्ग दिखाएं। अनुशासन उस समय शुरू होता है जब बच्चा किसी चीज पर, जो आकर्षित करे, ध्यान केंद्रित करता है। इससे उसका एक उपयोगी अभ्यास भी हो जाता है और साथ ही वह गलती पर नियंत्रण भी प्राप्त कर लेता है। इन अभ्यासों के कारण, बच्चे के आंतरिक जीवन में एक आश्चर्यजनक एकीकरण होता है, जिसके फलस्वरूप, बच्चा शांत, प्रफुल्ल, सुखी, और व्यस्त हो जाता है। वह अपने को भी भूल जाता है और इसीलिए इनाम के प्रति उदासीन रहता है। इन छोटे बच्चों में हमें मानव का दिव्य रूप दिखाई देता है। अध्यापिका का कार्य यह है कि बच्चों को पूर्णता का मार्ग दिखाए, उनके लिए साधन जुटाए और रास्ते की रुकावटों को दूर करे, जिनमें सबसे पहले वे रुकावटें होंगी जो अध्यापिका स्वयं ही प्रस्तुत करती है।

(अध्यापिका ही सबसे बड़ी रुकावट बन सकती है) यदि बच्चे में अनुशासन पहले से होता, तो हमारी जरूरत ही नहीं होती। तब बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्ति, हर कठिनाई में उसका मार्गदर्शन करती।

परंतु तीन वर्ष का बच्चा जब स्कूल में आता है तो वह पहले ही लगभग हारा हुआ रहता है। उसकी मनोवृत्ति पहले से रक्षात्मक बन जाती है, जो उसकी आंतरिक प्रकृति को दबा देती है। उसकी वे उच्चतर क्षमताएं, जो उसे व्यवस्थित शांति और दिव्य विवेक की ओर ले जा सकती हैं, सुषुप्त रहती हैं। केवल उसका अल्पज्ञ व्यक्तित्व सक्रिय रहता है, जो अनाड़ी हरकतों, अस्पष्ट विचारों, और वयस्कों की रोकथाम का सामना करने या उससे बचने में अपनी शक्ति खर्च कर देता है।

परंतु बच्चे के अंदर विवेक और अनुशासन उपस्थित रहते हैं, जिन्हें जाग्रत किया जा सकता है। अत्याचार से उसकी काफी हानि हो चुकी है, परंतु वह अभी पूरी तरह पराजित नहीं हुआ है। अभी उसकी विकृतियां इतनी दृढ़ नहीं हो गई हैं कि हमारे प्रयास विफल हों। स्कूल को चाहिए कि वह बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व को बढ़ने और निखरने का अवसर दे। साथ ही, अध्यापिका को बच्चे की सुरक्षा के प्रति अभ्यस्त प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखना चाहिए। तथा इसे भी समझना चाहिए कि उसके स्वभाव में निम्न स्तर के लक्षण प्रकट हो गए हैं जो उसके आंतरिक व्यक्तित्व को प्रदर्शित नहीं होने देते। बच्चे को स्वयं इनसे मुक्त होना पड़ेगा।

शिक्षा का आरंभ यहीं से होता है। यदि अध्यापिका विशुद्ध अंतःप्रेरणा और शांत व्यक्तित्व से उत्पन्न, स्वाभाविक शक्तियों में भेद नहीं जानती, तो उसे अपने कार्यों का कोई परिणाम नहीं मिलेगा। अध्यापिका की सच्ची कार्यक्षमता इसी में है कि वह इन दो प्रकार की गतिविधियों में भेद बता सके। ये दोनों स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, क्योंकि बच्चा दोनों ही में अपनी संकल्प शक्ति के अनुसार कार्य करता है, परंतु वास्तव में ये दोनों गतिविधियां परस्पर विरोधी हैं। इस सूक्ष्म भेद को समझने के बाद ही अध्यापिका एक सफल प्रेक्षक और मार्गदर्शक बन सकती है। डॉक्टर को भी इसी तरह सामान्य शारीरिक स्थिति में और रोगी शरीर की स्थिति में भेद समझना पड़ता है। यदि वह स्वास्थ्य और रोग का भेद नहीं जानता, यदि वह केवल जीवित और मृत में भिन्नता जानता है, तो वह कभी बीमारियों के सूक्ष्म लक्षणों को ठीक से नहीं पहचान पाएगा। अच्छे और बुरे में भेद समझने की यह क्षमता, पूर्णता की ओर के मार्ग को प्रकाशित करती है। बच्चे के अनुशासन की ओर बढ़ने में जिन अवस्थाओं से उसे गुजरना पड़ता है क्या उनके लक्षणों का स्पष्ट, सूक्ष्म और सैद्धांतिक विवरण दिया जा सकता है ? हां, यह संभव है, और कुछ विशेष चिह्न, अध्यापिका के निर्देशन के लिए दिए जा सकते हैं।

अव्यवस्थित बच्चा

हम एक ऐसे तीन या चार वर्ष के बच्चे पर विचार करें, जिस पर अभी तक ऐसे किसी तत्व का प्रभाव नहीं पड़ा है जिससे उसमें आंतरिक अनुशासन उत्पन्न हो। सरल विवरण द्वारा हम इनमें तीन प्रकार के बच्चे और उनकी विशेषताएं पहचान सकते हैं।

1. **स्वैच्छिक क्रियाओं में अव्यवस्था** से हमारा तात्पर्य क्रियाओं के उद्देश्य से नहीं है, वरन स्वयं क्रियाओं से है जिनमें एक मौलिक असामंजस्य, या सहयोग का अभाव होता है। इस लक्षण की महत्ता, एक दार्शनिक की अपेक्षा, मानसिक बीमारियों के विशेषज्ञ के लिए बहुत अधिक है। यदि किसी रोगी को बहुत गंभीर बीमारी है (जैसे लकवे की प्रथम अवस्था) तो डॉक्टर, स्वैच्छिक क्रियाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष पर ध्यान देगा; क्योंकि वह जानता है कि ये आधरभूत हैं। वह रोग को, उन्हीं लक्षणों के आधार से पहचानेगा, मानसिक असामान्यता या अव्यवस्थित आचरण से नहीं, यद्यपि ये भी बीमारी के लक्षण हैं। जो बच्चा अपनी क्रियाओं में अनाड़ी है, उसमें कुछ अन्य लक्षण भी दिखाई देते हैं जैसे अशिष्ट व्यवहार, रुक-रुक कर कार्य करना, क्रियाओं में टेढ़ामेढ़ापन और चिल्लाना। परंतु रोग पहचानने में इनकी महत्ता कम है। यदि शिक्षा द्वारा प्रारंभिक क्रियाओं में कुशल समन्वय स्थापित हो जाता है तो स्वतः स्वैच्छिक क्रियाओं में अव्यवस्था कम हो जाएगी। बजाए इसके कि अध्यापिका असामान्य विकास के हजारों प्रत्यक्ष लक्षणों को सुधारने का प्रयत्न करे, उसे रोचक तरीके से, अधिक समन्वयपूर्ण क्रियाओं के विकास के साधन जुटाने चाहिए।

2. स्वैच्छिक क्रियाओं की अव्यवस्था के साथ एक और लक्षण सदा दिखाई देता है, वास्तविक वस्तुओं पर ध्यान केंद्रित करने में बच्चे की असमर्थता या कठिनाई। उसका ध्यान काल्पनिक क्षेत्र में अधिक विचरण करता है। छोटे पत्थरों और सूखी पत्तियों से खेलते समय वह ऐसी बातें करता है मानो वह एक बढ़िया दावत के लिए मेज लगा रहा हो। बड़ा होने पर उसकी कल्पना शायद बड़ी ऊंची उड़ानें भरेंगी। मस्तिष्क सामान्य आचरण से जितना दूर रहेगा, उतनी ही जल्दी वह थक जाएगा और बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व के लिए अयोग्य हो जाएगा जिसका विकास करना हमारा उद्देश्य है। दुर्भाग्य से बहुत लोगों का ऐसा ख्याल है कि ये काल्पनिक गतिविधियां, जो व्यक्तित्व को अव्यवस्थित कर देती हैं, आध्यात्मिक जीवन के विकास में सहायता करती हैं। उनके अनुसार कल्पना स्वतः रचनात्मक है। परंतु वह स्वतः कुछ नहीं है, केवल छाया, पत्थर और सूखी पत्तियां है।

वास्तव में आध्यात्मिक जीवन का आधार एकीकृत व्यक्तित्व होता है जिसका बाह्य संसार से समन्वय हो। ऐसा मस्तिष्क जो वास्तविकता से दूर विचरण करता रहता है, स्वस्थ और सामान्य नहीं हो सकता। कल्पना के संसार में, गलती पर कोई नियंत्रण नहीं होता और विचारों में समन्वय नहीं होता। उसके कारण वास्तविक चीजों पर ध्यान केंद्रित करना असंभव हो जाता है। कल्पना का यह जीवन, शरीर के उन अंगों का विकास अवरुद्ध कर

देता है, जिनके कार्यों पर आध्यात्मिक जीवन निर्भर है। जो अध्यापिका किसी वास्तविक चीज को सुगम्य और आकर्षक बना कर, बच्चे का ध्यान उस पर केंद्रित करती है—जैसे वह एक वास्तविक खाने की मेज को लगाने में उसकी रुचि जाग्रत करें— तो वह ऐसे अस्पष्ट मस्तिष्क को, जो अपने लिए हानिकारक रास्ते में भटक गया है, वापस लाने का प्रयास करती है। उसे ठीक करने के लिए निपुण क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करना, और वास्तविकता से भटके हुए ध्यान को पुनः केंद्रित करना पर्याप्त है।

हमें विकृति के सभी लक्षणों को एक-एक करके सुधारने की जरूरत नहीं है। जैसे ही बच्चे में वास्तविक चीजों पर ध्यान केंद्रित करने की योग्यता आ जाती है, मस्तिष्क पुनः स्वस्थ हो जाएगा और अपने सामान्य क्रियाकलाप करने लगेगा।

3. तीसरी विशेषता अनुकरण की प्रवृत्ति है, जिसके लिए बच्चा अधिक तैयार और तत्पर होता जाता है। यह एक आंतरिक कमजोरी का लक्षण है, और उन विशेषताओं का वर्धक रूप है जो दो वर्ष के बच्चे में सामान्य समझी जाती हैं। (बहुत छोटे बच्चों में अनुकरण का रूप भिन्न होता है और उस पर हम अध्याय पंद्रह में चर्चा कर चुके हैं) यह प्रवृत्ति इस ओर संकेत करती है कि बच्चे की संकल्प शक्ति के उपकरण तैयार नहीं हुए हैं, उसे उचित मार्ग नहीं मिला है, और वह केवल दूसरों का अनुकरण करता है। अतः बच्चा पूर्णता की ओर नहीं जा रहा है, वरन ऐसे जहाज की तरह है, जो पतवार के बिना हवा की बदलती दिशाओं में झूल रहा है। यदि आप दो वर्ष के एक बच्चे का अवलोकन करें, जिसका संपूर्ण ज्ञान उन विचारों तक सीमित है, जो उसे अनुकरण से मिलते हैं, तो आप पहचान लेंगे कि मैं किस प्रकार के विकृत मस्तिष्क की बात कर रही हूं। इसका संबंध अव्यवस्था और मानसिक असंतुलन से है और यह बच्चे को नीचे की ओर ले जाता है।

यदि कोई बच्चा कुछ गलत काम करे या शोर मचाए—जैसे हंसते और चिल्लाते हुए जमीन पर लोटने लगे, तो शायद सब बच्चे उसी तरह या उससे भी बुरा काम करने लगेंगे। इस तरह की बेवकूफी का काम, समूह में और बढ़ जाता है और कक्षा के बाहर तक पहुंच सकता है। इस प्रकार की सामूहिक प्रवृत्ति से एक सामूहिक अव्यवस्था उत्पन्न होती है, जो सामाजिक जीवन के विपरीत है। सामाजिक जीवन व्यक्तियों के काम और अनुशासित व्यवहार पर आधारित होता है। समूह में अनुकरण की प्रवृत्ति फैलती है और व्यक्ति के दोषों को उजागर करती है। यहां विकृति के उत्पन्न होने पर, उसका न्यूनतम प्रतिरोध होता है।

इस प्रकार का विकार जितना बढ़ता जाएगा, बच्चों को बेहतर चीजों की ओर ले जाने वाले व्यक्ति द्वारा आज्ञापालन करवा पाना उतना ही मुश्किल होता जाएगा। परंतु यदि उन्हें एक बार उचित मार्ग पर लगा दिया जाए, तो ये सब दोष, जो एक ही विकार से उत्पन्न होते हैं, दूर हो जाएंगे।

उपचार

ऐसे बच्चों की कक्षा का संचालन करने वाली अध्यापिका बड़ी परेशानी में पड़ जाएगी यदि वह इस आधारभूत विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती हो कि बच्चों के लिए विकास के साधन उपलब्ध कराने चाहिए और उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देनी चाहिए। बच्चों में पहले से जो विकार उत्पन्न होने शुरू हो गए हैं वे बढ़ते जाएंगे और यदि अध्यापिका निष्क्रिय रही तो बहुत शीघ्र वह अव्यवस्था और शोर के नीचे दब जाएगी। अपने को इस परिस्थिति में पाकर, चाहे वह उसकी अनुभवहीनता से या कट्टर सिद्धांतों और विचारों से उत्पन्न हुई हो, अध्यापिका को इन दिव्य, पवित्र और उदार छोटे बच्चों की उन क्षमताओं को नहीं भूलना चाहिए जो उनमें छिपी रहती हैं। उसे इन छोटे बच्चों की, जो पतन की ओर लुढ़क रहे हैं, अवश्य सहायता करनी चाहिए और उनको फिर से ऊपर की ओर चढ़ने को प्रेरित करना चाहिए। उसे अपनी आवाज और विचारों से इन बच्चों की क्षमताओं को जाग्रत करना चाहिए। इन बच्चों के प्रति एक मात्र कृपा यही होगी कि उनसे प्रभावशाली और सुदृढ़ रूप से बात की जाए। बुराई को नष्ट करने से नहीं डरना चाहिए, केवल अच्छाई को नष्ट करने से घबराना चाहिए। जैसे बच्चे को उसका नाम लेकर पुकारते हैं, तब वह हमें उत्तर देता है, इसी तरह उसकी आत्मा को जाग्रत करने के लिए हमें सशक्त रूप से उससे बात करनी होगी। अध्यापिका को अपने उपकरण हटा लेने चाहिए, और उन सिद्धांतों को भूल जाना चाहिए जो उसने सीखे थे। फिर उसे एकांत में, व्यावहारिक रूप से, इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि बच्चों तक कैसे पहुंचा जाए। केवल अपनी बुद्धि से ही वह इसका समाधान ढूंढ सकती है, जो हर बच्चे के लिए अलग-अलग होगा। अध्यापिका मूल लक्षणों को, और कुछ उपचारों को जानती है। उसे उपचार का सिद्धांत भी मालूम है। शेष सब उस पर निर्भर करता है। एक अच्छा डॉक्टर और एक अच्छा अध्यापक एक व्यक्ति होते हैं, मशीन नहीं, जो केवल दवा का नुस्खा लिखे या शिक्षा शास्त्र के तरीकों को अपनाए। उपचार के विस्तृत विवरण, अध्यापिका के निर्णय पर छोड़ देने चाहिए, जिसने स्वयं इस नए मार्ग पर चलना आरंभ किया है। यह निर्णय वह खुद करेगी कि इस शोर के बीच में, उसे तेज आवाज में बोलना चाहिए या कुछ बच्चों को बुलाकर उनसे धीरे से बोलना चाहिए जिससे दूसरों की उत्सुकता बढ़े और शांति स्थापित हो जाए। पियानो को जोर से बजाने से भी शोर बंद हो सकता है।

व्यवस्था का आभास

अनुभवी अध्यापिका की कक्षा में कभी गंभीर उपद्रव नहीं होता, क्योंकि इसके पहले कि वह अलग होकर बच्चों को स्वतंत्र छोड़े, वह उन्हें थोड़ी देर देखती है और उनका संचालन करती है और उनकी अनियंत्रित क्रियाओं को समाप्त करके उनको नकारात्मक रूप से तैयार

करती है। इस उद्देश्य के लिए अध्यापिका को कुछ प्रारंभिक अभ्यासों को ध्यान में रखना चाहिए। इनके कारण जिन बच्चों का ध्यान वास्तविकता की ओर केंद्रित नहीं हो रहा है, उन्हें यह प्रतीत होने लगेगा कि अध्यापिका उनकी कितनी सहायता कर सकती है। वह शांत, स्थिर और धैर्यवान होती है और चाहे वह प्रशंसा करे या उपदेश दे, उसकी आवाज बच्चों को प्रभावित करती है। कुछ अभ्यास विशेष रूप से उपयोगी होते हैं—जैसे सब कुर्सियां और मेजें, (बिना आवाज किए) उचित स्थान पर रखो; कुर्सियों को एक लाइन में रख कर उन पर बैठ जाओ; कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक पंजों के बल भागो। यदि अध्यापिका में सचमुच आत्मविश्वास है, तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "अच्छा बच्चो, अब हम सब चुपचाप बैठ जाएं" मानो जादू से सब जगह शांति छा जाएगी। व्यावहारिक जीवन के सरलतम अभ्यास, कल्पना जगत में विचरण करने वाले बच्चों को, वापस वास्तविक कार्य के संसार में ले आएंगे और उनको सुधार देंगे। धीरे-धीरे अध्यापिका उनके सामने उपकरणों को रखेगी, यद्यपि वह बच्चों को उनके उपयोग की पूरी छूट नहीं देगी, जब तक वे उनका उपयोग समझ न लें।

अब कक्षा में शांति दिखाई देगी। बच्चे वास्तविकता के संपर्क में आ जाएंगे। उनके कार्यों का कोई निश्चित उद्देश्य होगा, जैसे मेज को पोंछना, दाग साफ करना, अलमारी से एक उपकरण निकाल कर उसका उचित उपयोग करना आदि-आदि।

यह स्पष्ट है कि अभ्यास से, स्वतंत्र चयन की क्षमता बढ़ जाती है। साधारणतः अध्यापिका संतुष्ट रहती है, परंतु उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मांटेसरी पद्धति ने जिन उपकरणों का निर्माण किया है, वे पर्याप्त नहीं हैं और उनमें कुछ और जोड़ने चाहिए। एक हफ्ते के अंदर ही बच्चा सब उपकरणों का कई बार प्रयोग कर चुकता है। कई स्कूल इसके आगे कुछ अधिक नहीं करते।

प्रस्तुत व्यवस्था में एक ही बात से संदेह उत्पन्न होता है जिससे समस्त व्यवस्था के विफल होने की आशंका होती है। वह है, बच्चों का एक चीज से दूसरी चीज की ओर भटकना। वे प्रत्येक उपकरण का एक बार प्रयोग करते हैं और फिर जाकर दूसरा ले आते हैं। उपकरणों की अलमारी तक आने-जाने का निरंतर तांता लगा रहता है। इन बच्चों में से अभी किसी को उन चीजों में से कोई ऐसी रोचक चीज नहीं मिली है जो उसके दिव्य और शक्तिशाली स्वभाव को जाग्रत करे। अतः उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो रहा है, और वह सुदृढ़ नहीं बन रहा है। इन क्षणभंगुर संपर्कों से वाह्य संसार का उस पर इतना प्रभाव नहीं पड़ पाता, कि उसके व्यक्तित्व में समन्वय स्थापित हो। बच्चा उस मधुमक्खी की तरह है जो एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर बैठती है और उसे वह फूल नहीं मिल पाता जहां से वह शहद ग्रहण कर, संतुष्ट हो। जब तक बच्चे को अपने अंदर आश्चर्यजनक स्वाभाविक क्रियाशीलता के जाग्रत होने का अनुभव न हो, जिससे उसके चरित्र और मस्तिष्क का निर्माण होता है, तब तक वह काम नहीं कर सकेगा।

जब ऐसी अस्थिरतापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो अध्यापिका को अपना काम

कठिन लगता है। वह एक बच्चे से दूसरे बच्चे के पास जाती है और उसकी चिंता और परेशानी बच्चों को भी प्रभावित करती है। कई बच्चे जो थक जाते हैं और उकता जाते हैं, अध्यापिका की पीठ के पीछे, उपकरण की सामग्री का बड़े बेतुके ढंग से प्रयोग करते हैं। अध्यापिका के एक बच्चे के साथ व्यस्त होने पर दूसरे बच्चे अनुचित व्यवहार करते हैं। अतः उनमें कोई नैतिक और बौद्धिक विकास नहीं होता, जिसके लिए इतना प्रयत्न किया गया था।

इन बच्चों में जितना अनुशासन प्राप्त हुआ है वह वास्तव में बहुत नाजुक है, और अध्यापिका को हर समय अव्यवस्था की आशंका बनी रहती है। उसे दूर करने के प्रयास में वह सदा तनाव में रहती है। अधिकांश अध्यापिकाएं पर्याप्त प्रशिक्षण और अनुभव के अभाव में, अंत में ऐसा सोचने लगती हैं कि वह जिस 'नए बच्चे' की आशा कर रही थी वह केवल एक मिथक और आदर्श है। हो सकता है कि वे इस निष्कर्ष पर भी पहुंचें कि जिस कक्षा को संभालने में अध्यापिका को मानसिक परेशानी और थकान होती है, वह बच्चे के लिए लाभदायक नहीं हो सकती।

अध्यापिका के लिए यह जरूरी है कि वह बच्चों की परिस्थिति को समझे। ये बाल गोपाल संक्रमण की अवस्था में हैं। प्रगति का वास्तविक दरवाजा अभी इनके लिए नहीं खुला है। अभी वे इसके लिए प्रयास कर रहे हैं और इसका इंतजार कर रहे हैं। अभी किसी प्रकार की प्रगति नहीं दिखाई देती है। उनमें अनुशासन के स्थान पर अव्यवस्था अधिक है। ऐसे बच्चों का काम अवश्य ही अपूर्ण होगा। उनकी प्रारंभिक समन्वित क्रियाओं में सामर्थ्य और शालीनता नहीं होती, और वे मनमाने कार्य करते हैं। उस प्रथम अवस्था से जब वे वास्तविकता से दूर थे उनकी कुछ भी प्रगति नहीं हुई है। उनकी हालत उस रोगी की तरह होती है जो लंबी बीमारी से ठीक हुआ है, पर अभी सामान्य काम करने लायक नहीं हुआ है। यह विकास का एक कठिन समय है। अध्यापिका को दो भिन्न प्रकार के कार्य करने चाहिए। उसे बच्चों की देखरेख करनी चाहिए और साथ ही, प्रत्येक बच्चे को अलग-अलग सिखाना चाहिए। अर्थात उसे नियमित रूप से बच्चों के सामने उपकरणों को रखना चाहिए और उनका सही प्रयोग बताना चाहिए। सामान्य निगरानी और अलग-अलग बच्चों को सूक्ष्मता से सिखाना, इन दो तरीकों से अध्यापिका बच्चे के विकास में सहायता कर सकती है। इस अवधि में उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब वह एक अकेले बच्चे को सिखा रही हो, तो वह पूरी कक्षा की ओर से उदासीन न रहे। सब बच्चों को उसकी उपस्थिति का एहसास होना चाहिए। इस तरह प्रत्येक बच्चे को अलग-अलग, अपनेपन के साथ सिखाने से, वह उनकी अंतःप्रेरणा को प्रभावित करेगी। फिर एक दिन किसी एक बच्चे का आंतरिक व्यक्तित्व जाग्रत होगा और उसका ध्यान किसी वस्तु की ओर आकर्षित होकर, उसके अभ्यास में केंद्रित होगा जिससे उसकी दक्षता बढ़ेगी और बच्चे का प्रसन्न और संतुष्ट व्यवहार यह प्रदर्शित करेगा कि उसका पुनर्जन्म हो गया।

अनुशासन

सभी मानसिक प्रक्रियाओं में, स्वतंत्र चयन करना सर्वोच्च क्षमता है। केवल जिस बच्चे को इसका एहसास है कि उसे अभ्यास की तथा अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास की आवश्यकता है, वही वास्तव में स्वतंत्रता से चयन कर सकता है। जब बच्चा कई प्रकार के बाह्य प्रभावों से एक साथ आकर्षित हो, उसकी कोई अपनी संकल्प शक्ति न हो, वह प्रत्येक चीज से उत्तेजित हो जाए और एक के बाद दूसरी चीज का प्रयोग करे, तो उसके लिए स्वतंत्र चयन करना असंभव है। अध्यापिका को इस महत्वपूर्ण लक्षण को अवश्य समझना चाहिए। जो बच्चा अपने आंतरिक मार्गदर्शक की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता, वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं है और वह पूर्णता के लंबे और विकट मार्ग पर नहीं चल सकता। वह अपनी इंद्रियों का गुलाम होता है और अपने परिवेश पर आश्रित होता है। उसका ध्यान इधर से उधर डोलता रहता है। जब उसे अपने आंतरिक व्यक्तित्व का एहसास होता है, जब वह अपने लिए कोई काम तय करता है और किसी रास्ते का स्वयं चुनाव करता है, तब उसमें मानवता जाग्रत होती है।

यह सरल और उत्कृष्ट तथ्य सभी जीवों में पाया जाता है। प्रत्येक जीव में एक जटिल और बहुमुखी परिवेश में से अपने जीवन के लिए सहायक तत्वों को चुनने की क्षमता होती है।

पेड़ की जड़ें, जमीन के अंदर पाए जाने वाले अनेक तत्वों में से, केवल उन्हीं को ग्रहण करती हैं जो उनके लिए जरूरी होते हैं। कीड़े भी उसी विशेष फूल को चुनते हैं जो उनकी आवश्यकता को पूरा करते हैं। आदमी में भी अपनी जरूरत को पहचानने की क्षमता होती है। परंतु उसमें यह क्षमता सहज रूप से नहीं होती वरन उसे अर्जित करनी पड़ती है। फिर भी बच्चों में प्राथमिक वर्षों में, एक आंतरिक बोध होता है जो उनके लिए एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। एक दिशाहीन और निषेधात्मक शिक्षा, इस आंतरिक बोध को नष्ट कर सकती है। उसके फलस्वरूप बच्चा परिवेश की सब वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है और उन्हीं का दास हो जाता है। हम स्वयं अपनी यह महत्वपूर्ण गहरी संवेदनशीलता खो चुके हैं, और जब-जब बच्चों में इसके पुनरुत्थान को देखते हैं, तो हमें लगता है कि हमारे सामने प्रकृति का एक रहस्य उद्घाटित हो रहा है। हम इसे बच्चों में स्वतंत्र चयन कर पाने की क्षमता के रूप में देखते हैं। जिस अध्यापिका को प्रेक्षण का प्रशिक्षण नहीं मिला है, वह बच्चों में इस क्षमता को नहीं पहचान सकेगी और उसे दबा देगी वैसे ही जैसे एक हाथी, रास्ते के पौधों को; फूल उगने के पहले ही कुचल देता है।

बच्चे द्वारा ध्यानपूर्वक बारंबार अभ्यास करते समय, यदि एक बार, किसी चुनी हुई वस्तु पर उसका ध्यान केंद्रित हो जाता है, तो उसका आंतरिक बोध नष्ट होने से बच जाता है। इसके बाद उसकी चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है। काम तब केवल इतना रह जाता है कि उसकी आवश्यकताओं के अनुसार उसके लिए परिवेश तैयार करें, और पूर्णता

की ओर ले जाने वाले, उसके मार्ग की रुकावटों को हटा दें।

इसके पहले कि बच्चे को यह एकाग्रता प्राप्त हो, अध्यापिका को चाहिए कि वह अपने पर नियंत्रण रखे, जिससे बच्चे का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से विकसित हो और उसे अपनी क्षमताओं को प्रदर्शित करने का अवसर मिले। उसके कर्तव्य का मुख्य उद्देश्य यही है कि बच्चे के प्रयासों में बाधा न पड़े। यही वह समय है जब अध्यापिका, उस नैतिक संवेदनशीलता की नजाकत का प्रयोग करे, जो उसने अपने प्रशिक्षण के दौरान ग्रहण की थी। उसे यह समझना होगा कि सहायता करना इतना सरल नहीं है, और अलग खड़े रहकर केवल अवलोकन करना भी इतना ही कठिन है। बच्चों की सेवा और सहायता करते समय भी, उसे पूरे समय बच्चों पर नजर रखनी चाहिए, क्योंकि बच्चे में एकाग्रता का जन्म एक उतना ही सुकोमल तथ्य है जितना कलियों का फूल बन जाना। परंतु उसके अवलोकन का यह उद्देश्य न हो कि वह अपनी उपस्थिति का उन पर प्रभाव डाले या कमजोर बच्चों की सहायता करे। उसके अवलोकन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह उस बच्चे को पहचाने जिसने एकाग्रता की क्षमता अर्जित कर ली है एवं उसके व्यक्तित्व के पुनर्जन्म की प्रशंसा करे।

जो बच्चा अपना ध्यान केंद्रित कर लेता है वह अत्यंत प्रसन्न रहता है। वह अपने चारों ओर के व्यक्तियों के प्रति उदासीन हो जाता है। कुछ समय के लिए उसकी आत्मा, उस साधु की आत्मा की तरह हो जाती है, जिसे लंबी तपस्या के बाद अपने व्यक्तित्व का बोध हो गया हो। जब उसका ध्यान भंग होता है, तो उसे संसार नए रूप में दिखाई देता है। बच्चे को अपने सहपाठियों का बोध होता है, जिनमें वह अब स्नेहपूर्ण रुचि लेना शुरू करता है। उसमें दूसरे व्यक्तियों और चीजों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। वह सबके प्रति मित्रता का व्यवहार करने लगता है और हर सुंदर चीज की प्रशंसा करता है। इसकी आध्यात्मिक प्रक्रिया स्पष्ट है। वह अपने आपको संसार से अलग करके, वह क्षमता प्राप्त करता है जो उसे संसार से जोड़ती है। किसी दृश्य की विशालता का अवलोकन करने के लिए क्या हम शहर छोड़ कर बाहर नहीं जाते? हवाई जहाज से हमें पृथ्वी का दृश्य बेहतर दिखाई देता है। यही बात मानव व्यक्तित्व के लिए भी है। अन्य व्यक्तियों के साथ मिलजुल कर रहने के लिए कभी-कभी हमें एकांत में जाकर शक्ति अर्जित करनी पड़ती है। तभी अपने साथियों के प्रति हम में प्रेम की भावना जाग्रत होती है। संत पुरुष एकांत में, विवेक और न्याय के साथ उन सामाजिक जरूरतों का अवलोकन करते हैं, जिनके बारे में अधिकांश जनसमूह कुछ नहीं जानता। एकांत में अपनी तैयारी के बाद ही प्रेम और शांति का संदेश तैयार होता है।

बच्चा सहजता से एकांत की मानसिकता ग्रहण कर लेता है और तब उसके अंदर भी एक शक्तिशाली और शांत चरित्र का निर्माण होता है जो अपने चारों ओर प्रेम बिखेरता है। इस मानसिकता से त्याग की भावना, नियमित कार्य, और आज्ञापालन की भावना उत्पन्न होती है और साथ ही जीवन का आनंद प्राप्त होता है। इससे वह अपने संपर्क में आने वाले लोगों को भी प्रभावित करता है।

एकाग्रता के कारण सामाजिक भावना जाग्रत होती है और अध्यापिका को इसका ध्यान रखना चाहिए। जागृति के बाद, ये बच्चे अध्यापिका की ओर ही आकर्षित होंगे। उनमें अध्यापिका की उपस्थिति का एहसास होगा, जैसे अब उन्हें आसमान के नीला दिखाई देने या फूल की बहुत हल्की खुशबू का एहसास होने लगा है।

उत्साह और जोश से भरे इन बच्चों की मांगों को शायद एक अनुभवहीन अध्यापिका सहन न कर सके। जैसे पहली अवस्था में, अध्यापिका को बच्चों की अनेक अव्यवस्थित हरकतों में समय बरबाद न करके, अपना सारा ध्यान उनकी मूल आवश्यकताओं को समझने में लगाना चाहिए। इसी तरह उसे अब बच्चों की नैतिक संपत्ति और सुदृढ़ता एवं मानसिक क्षमता के असंख्य लक्षणों से अभिभूत नहीं होना चाहिए।

अध्यापिका का ध्यान उस सरल और केंद्रीय तत्व की ओर बना रहे जिसका व्यवहार दरवाजे के चूल (कब्जे) जैसा है। दरवाजे का चूल दिखाई नहीं देता, पर वह स्वतंत्र रूप से कार्य करता है और दरवाजे को नियंत्रित किए रहता है जिसकी सजावट से उसका कोई संबंध नहीं होता।

अध्यापिका का लक्ष्य सदा ऐसी चीज की ओर होता है जो यथार्थ और स्थिर हो। शुरू में उसे ऐसा लगता है कि वह अनावश्यक हो गई है, क्योंकि उसने जो कार्य किया है, उसके अनुपात में बच्चे की प्रगति बहुत ज्यादा होती है। बच्चे अपना काम चुनने में अधिकाधिक स्वतंत्र होते जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता भी बहुत बढ़ जाती है। कभी-कभी उनकी प्रगति आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। अध्यापिका अपनी उपयोगिता इसी में समझती है कि परिवेश को तैयार करे और बाधक न बने।

परंतु यही समय ऐसा है जब बच्चे को अध्यापिका के शासन की सबसे अधिक आवश्यकता है। जब बच्चा अपनी बुद्धि और क्रियाकलाप से कुछ उपलब्ध कर पाता है, (जैसे उसने कोई चित्र बनाया हो, या कोई शब्द लिखा हो या कोई और छोटा कार्य किया हो) तो वह भागा-भागा अध्यापिका को अपना काम दिखाने आता है और पूछता है कि उसने ठीक किया है या नहीं। बच्चा यह नहीं चाहता कि कोई उसको यह बताए कि क्या काम करें और कैसे करें। ऐसी सहायता से वह सदा बचने का प्रयास करता है। काम का चुनाव, और उसका निष्पादन, स्वतंत्र व्यक्तित्व के विशेषाधिकार हैं; जो उसने प्राप्त किए हैं। परंतु काम समाप्त करने के बाद वह अध्यापिका का अनुमोदन चाहता है।

जिस स्वाभाविक प्रतिक्रिया के कारण बच्चे अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सुरक्षा करते हैं, और अपनी अंतःप्रेरणा की आज्ञा का पालन करते हैं; उसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वे अपना काम एक बाह्य सत्ता के समक्ष अनुमोदन के लिए रखते हैं, जिससे वे आश्वस्त हों कि वे सही मार्ग पर चल रहे हैं। हमें शिशु के उन प्रथम लड़खड़ाते कदमों की याद आती है जब उसे पकड़ने के लिए वयस्क के बढ़े हुए हाथ, बच्चे को आश्वस्त करते हैं, यद्यपि उसके अंदर अपने पांव से चलने की क्षमता पहले से उपस्थित है। अध्यापिका को तब चाहिए कि अनुमोदन के दो शब्द कहे। और अपनी मुसकान से उसे प्रोत्साहित करे,

जैसे मां बच्चे को करती है। क्योंकि पूर्णता और आत्मविश्वास को बच्चे के आंतरिक स्रोतों से विकसित होना चाहिए और उसमें अध्यापिका की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए।

एक बार आत्मविश्वास पैदा हो जाने के बाद, बच्चा हर कदम पर अध्यापिका के अनुमोदन की मांग नहीं करेगा। वह काम करके एक ओर इकट्ठा करता जाएगा और दूसरों को उसका आभास भी नहीं हो पाएगा। उसके काम का उद्देश्य अपने अंदर की इस आवश्यकता को पूरा करना है, जिसके अनुसार उसे अपने कार्यों में पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। उसकी रुचि काम समाप्त करने में होती है, इसमें नहीं कि दूसरे उसकी प्रशंसा करें, या वे उनका अपनी संपत्ति के रूप में संकलन करें। उसे आगे प्रेरित करने वाली उच्चतम प्रवृत्ति में अहंकार और लोलुपता का कोई अंश नहीं होता। हमारे स्कूल में आए कई अतिथियों को याद होगा कि उन्हें बच्चों की सबसे अच्छी कृतियां दिखाई गई थीं, परंतु बनाने वाले बच्चों का नाम नहीं बताया गया था। शायद यह बच्चों के प्रति उदासीनता प्रतीत हो। अध्यापिका यह जानती है कि बच्चों को अपने नाम की परवाह नहीं है। किसी दूसरे प्रकार के स्कूलों में, यदि अध्यापिका बच्चे की सुंदर कृति प्रदर्शित करते समय बच्चे को सामने प्रस्तुत न करें, तो उसके अंदर अपराध की भावना उत्पन्न होती है। अगर वह नाम बताना भूल जाए तो बच्चा स्वयं शिकायत के स्वर में कहेगा—'यह मैंने बनाई थी।'

हमारे स्कूल में, उस प्रशंसनीय कृति को बनाने वाला बच्चा शायद किसी कोने में बैठा हुआ कोई दूसरा प्रयास कर रहा हो और वह यही चाहेगा कि उसके काम में बाधा न डाली जाए। यही वह अवस्था है जब अनुशासन स्थापित हो जाता है; आज्ञापालन और प्रेम के बीच समन्वय स्थापित हो जाता है, और काम में विस्तार होता है और बच्चा पूर्णता की ओर विकसित होता है।

अध्याय सत्ताईस

अध्यापिका की तैयारी

जो महिला मांटेसरी स्कूल की अध्यापिका बनना चाहती है, उसे सर्वप्रथम अपने को इसके लिए तैयार करना चाहिए। एक जरूरी बात तो यह है कि वह अपनी कल्पना शक्ति को सजीव बनाए रखे। परंपरागत स्कूलों में अध्यापिका, बच्चे का प्रत्यक्ष आचरण ही देखती है, क्योंकि वह जानती है कि उसका कार्य इन बच्चों की देखभाल करना और पढ़ाना है। परंतु मांटेसरी स्कूल की अध्यापिका, बच्चे के अंदर छिपे हुए व्यक्तित्व को देखती है। यही दोनों में मुख्य भिन्नता है। हमारे स्कूलों की अध्यापिका को यह विश्वास होना चाहिए कि *बच्चा कार्य के द्वारा अपने आंतरिक व्यक्तित्व को प्रकट करेगा*। उसे बच्चों के स्तर से संबंधित पूर्वाग्रहों को अपने अंदर से निकालना पड़ेगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक बच्चों से उसे चिंतित नहीं होना चाहिए। उसे तो अपनी कल्पना में एक सामान्यीकृत बच्चा ही दिखाई देना चाहिए। अध्यापिका को यह विश्वास होना चाहिए कि बच्चे की वास्तविक प्रकृति तभी प्रकट होगी, जब उसे ऐसा कार्य मिल जाएगा जो उसे आकर्षित करता है। अतः उसकी निगाह किस बात पर हो ? उसे यह देखना चाहिए कि किसी बच्चे का ध्यान कब केंद्रित होना शुरू हुआ।

इसी उद्देश्य की ओर वह कार्य करेगी। उसकी गतिविधियां प्रत्येक अवस्था में अलग-अलग प्रकार की होंगी। वह जो भी करती है उसकी सामान्यतः तीन अवस्थाएं होती हैं।

प्रथम अवस्था : अध्यापिका का काम परिवेश की देखभाल करना और उसको अच्छी तरह बनाए रखना है। उसका ध्यान बच्चों की अधीरता और अशांति से हट कर परिवेश को बनाए रखने में केंद्रित हो। परिवेश से बच्चे में सुधार होगा और उसमें बच्चे को कोई ऐसी आकर्षक चीज मिल सकेगी जिस पर वह अपना ध्यान केंद्रित कर सके। पश्चिमी देशों में, प्रत्येक दंपती का अलग घर होता है, और प्रत्येक पत्नी अपने घर को अपने पति व अपने लिए यथासंभव आकर्षक बनाती है। वह अपना पूरा ध्यान पति पर ही न लगा कर कुछ समय घर पर भी लगाती है, जिससे वह सामान्य और रचनात्मक जीवन के लिए उचित वातावरण तैयार कर सके। वह कोशिश करती है कि उसके घर में आराम और शांति हो, और उसमें विविध रुचियों की चीजें हों। घर का मुख्य आकर्षण उसकी सफाई और व्यवस्था होती है, जिसमें सभी चीजें साफ सुथरी और चमकती हुई यथास्थान रखी रहती हैं। गृहिणी

का पहला ध्यान इन्हीं बातों पर जाता है, और स्कूल में अध्यापिका का भी पहला ध्यान इसी ओर जाना चाहिए। उसे सारे उपकरण यथास्थान चमका कर अच्छी हालत में, रखने चाहिए। उनमें से कोई चीज खोनी नहीं चाहिए ताकि बच्चे को वह सदा नया और संपूर्ण लगे, जिसका वह जब चाहे उपयोग कर सके। अध्यापिका को भी ऐसे रहना चाहिए कि वह आकर्षक और सुंदर, साफ सुथरी, तथा शांत और प्रतिष्ठित प्रतीत हो। प्रत्येक अध्यापिका अपने ढंग से इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है, पर उसे सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि बच्चे में विशेष गुण होते हैं। बच्चे सबसे पहले अध्यापिका के रूप रंग की ओर आकर्षित होते हैं और वह इसी के द्वारा उनका विश्वास और आदर प्राप्त करती है। अध्यापिका को अपनी क्रियाओं में यथासंभव सौम्यता और शालीनता लानी चाहिए। इस आयु का बच्चा अपनी मां की पूजा करता है। हम उसकी मां को नहीं जानते, पर वह जब किसी सुंदर महिला को देखता है तो कहता है, 'वह कितनी सुंदर है--बिलकुल मेरी मां की तरह है।' संभव है उसकी मां सुंदर न हो, परंतु बच्चे की दृष्टि में वह सुंदर है और उसे प्रत्येक सुंदर दिखने वाली, अपनी मां की तरह सुंदर लगती है। अतः बच्चे के परिवेश में आने वाले सब व्यक्तियों को अपनी रूप सज्जा का ध्यान रखना चाहिए। अध्यापिका स्वयं बच्चे के संसार का सबसे महत्वपूर्ण अंश है।

अतः अध्यापिका का प्रथम कर्तव्य यह है कि बच्चों के परिवेश पर नजर रखे और यही उसे सर्वप्रथम करना चाहिए। यद्यपि परिवेश का प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं पड़ता, परंतु बिना अच्छे परिवेश के किसी भी क्षेत्र में कार्यशील और स्थायी परिणाम नहीं प्राप्त हो सकते--चाहे क्षेत्र शरीरिक हो या बौद्धिक या आध्यात्मिक।

दूसरी अवस्था : परिवेश पर ध्यान देने के बाद हमें यह सोचना चाहिए कि अध्यापिका का बच्चों के प्रति कैसा व्यवहार हो। इन अव्यवस्थित छोटे बच्चों के साथ और उनके अस्पष्ट और अनिश्चित मस्तिष्क के साथ वह क्या करे जिससे वे काम की ओर आकर्षित हों। अध्यापिका को चाहिए कि वह बच्चे को मोह ले। यदि परिवेश की ठीक से देखरेख न की जाए, मेज-कुर्सी पर धूल पड़ी हो, और यदि अध्यापिका स्वयं मैली कुचैली और बदमिजाज हो, तथा बच्चों पर सख्ती करे, तो वह अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकती। बच्चों में एकाग्रता प्रदर्शित होने से पहले की अवस्था में, अध्यापिका को एक ऐसी ज्योति की तरह होना चाहिए जो सबको अपने स्नेह से प्रोत्साहित करे, उनमें जोश उत्पन्न करे, और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करे। उसे इसकी आशंका नहीं होनी चाहिए कि वह किसी महत्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया में बाधा डालेगी, क्योंकि अभी मानसिक प्रक्रियाएं प्रारंभ नहीं हुई हैं। एकाग्रता स्थापित होने के पहले अध्यापिका अधिकांशतः वही काम कर सकती है जिसे वह ठीक समझे। वह जितना आवश्यक समझे, उतना बच्चों की गतिविधियों में हस्तक्षेप करे।

मैंने कभी पढ़ा था कि एक संत ने एक बार एक शहर के लावारिस बच्चों को एकत्रित करने का प्रयास किया। उस शहर के नागरिकों का आचरण विशेष सभ्य नहीं था। उसने

उन बच्चों के साथ क्या किया ? उसने उन बच्चों का मनोरंजन करने की कोशिश की। यही अध्यापिका को भी, इस अवस्था में करना चाहिए। वह कहानी सुना सकती है या कोई खेल शुरू कर सकती है, या गाना और कविता सुना सकती है। जो अध्यापिका बच्चों का मन मोह सकती है, वह उन्हें कई प्रकार के अभ्यास करा सकती है, जिनका शायद शिक्षा की दृष्टि से अधिक महत्व न हो, पर वह उन्हें शांत करने के लिए उपयोगी होते हैं। सभी जानते हैं कि एक प्रफुल्ल और सजीव अध्यापिका, नीरस अध्यापिका की अपेक्षा, बच्चों को अधिक आकर्षित करती है। यदि हम कोशिश करें, तो हम सब अधिक सजीव बन सकते हैं; जैसे, अध्यापिका प्रसन्नचित्त होकर बच्चों के साथ कार्य करे। या वह कहे 'इस पीतल के लोटे को पॉलिश की जरूरत है' या 'चलो हम लोग बगीचे में जाकर फूल देख आएं।' प्रत्येक अध्यापिका की प्रत्येक क्रिया, बच्चों के लिए एक निमंत्रण प्रस्तुत कर सकती है।

यह अध्यापिका के काम की दूसरी अवस्था है। यदि इस अवस्था में कोई बच्चा बराबर दूसरों को तंग कर रहा हो, तो सबसे व्यावहारिक यही होगा कि उसे ऐसा करने से रोका जाए। यह सच है कि हमने इसे बार-बार दोहराया है कि यदि बच्चा किसी कार्य में डूबा हुआ हो, तो उसमें बाधा नहीं डालनी चाहिए, अन्यथा उसके क्रियाकलाप टूट जाएंगे। बच्चे को रोकने के लिए अध्यापिका किसी भी ढंग से बोल सकती है या उस उपद्रवी बच्चे के प्रति विशेष प्रेम दिखा सकती है। बच्चे के प्रति ऐसे प्रेम प्रदर्शित करने की घटनाएं जो बच्चे के उपद्रव के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं, उस पर बिजली के झटके की तरह प्रभाव डालती हैं और कुछ समय बाद बच्चे में परिवर्तन आ जाता है। बहुधा इस प्रकार कहने से काम चल जाता है, 'जॉन, तुम कैसे हो ? मेरे साथ चलो। मेरे पास तुम्हारे खेलने के लिए एक चीज है।' शायद वह इस चीज को देखने के लिए उत्सुक न हो। तब अध्यापिका कहेगी, 'खैर, कोई बात नहीं। चलो बगीचे में चलें।' फिर या तो वह स्वयं जाएगी, या अपनी सहायक को बच्चे के साथ बाहर भेज देगी। इस तरह वह बच्चा, तथा उसका उपद्रव, सहायक के साथ चला जाएगा और दूसरे बच्चों के काम में बाधा समाप्त हो जाएगी।

तीसरी अवस्था :- अंत में वह समय आता है जब बच्चा किसी कार्य में रुचि लेना शुरू करता है। मुख्यतः यह व्यावहारिक जीवन से संबंधित कोई कार्य होता है। अनुभव हमें बताता है, कि बच्चों को संवदेनशील और सांस्कृतिक उपकरण देना व्यर्थ और हानिकारक होता है, जब तक वे इससे लाभ उठाने लायक न हो जाएं।

इस प्रकार की सामग्री उसे देने से पहले, हमें यह देख लेना चाहिए कि बच्चे ने किसी चीज पर ध्यान केंद्रित करने की क्षमता अर्जित कर ली है या नहीं। साधारणतः यह व्यावहारिक जीवन के अभ्यास में प्रकट होता है। यदि बच्चा इनमें से किसी में रुचि दिखाने लगे, तो अध्यापिका को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि यह रुचि स्वाभाविक नियमों के अनुकूल होती है और इससे अनेक नई गतिविधियों का चक्र प्रारंभ हो जाता है। परंतु इस ओर पहला कदम इतना नाजुक और सुकुमार होता है, कि जरा से हस्तक्षेप से रुक सकता है।

अतः अब अध्यापिका को बहुत सावधान रहना चाहिए। हस्तक्षेप नहीं करने का अर्थ है, कि किसी भी तरह से हस्तक्षेप न हो। यही ऐसा समय है जब अध्यापिका से अक्सर गलती हो जाती है। अब तक जो बच्चा बहुत परेशान कर रहा था, उसका अचानक किसी कार्य में ध्यान केंद्रित हो जाता है। यदि उसके पास से जाते हुए अध्यापिका केवल इतना कह दे 'बहुत अच्छा' तो बस इसी से फिर से कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। शायद इसके बाद दो हफ्ते तक बच्चा किसी अन्य वस्तु में रुचि न ले। यदि किसी अन्य बच्चे को कुछ करने में कठिनाई महसूस हो रही हो और अध्यापिका जाकर उसकी सहायता कर दे, तो हो सकता है कि वह बच्चा उस काम को अध्यापिका के लिए छोड़ कर चला आए। बच्चे की रुचि केवल कार्य के निष्पादन में नहीं होती, वरन अधिकतर कठिनाई पर विजय प्राप्त करने में होती है। 'यदि अध्यापिका स्वयं कठिनाई को हल करना चाहती है, तो करे। मुझे अब उसमें रुची नहीं है।' उसका (बच्चे का) दृष्टिकोण यह है। यदि बच्चा कोई बहुत भारी चीज उठाने की कोशिश कर रहा है, और अध्यापिका उसकी सहायता करने का प्रयास करे, तो अक्सर बच्चा उस चीज को अध्यापिका के हाथ में थमाकर भाग जाता है। प्रशंसा, सहायता, और कभी-कभी उस पर एक नजर डालने से भी उसके काम में बाधा पड़ती है और उसकी गतिविधि नष्ट हो सकती है। यह बात बड़े विस्मय की है, परंतु कभी यदि बच्चे को इसका एहसास भी हो, कि उस पर निगरानी रखी जा रही है तो क्रियाकलाप में उसका तारतम्य टूट जाता है। हम भी कभी-कभी अपना काम नहीं कर सकते, यदि कोई आकर उसे देखने लगे। अध्यापिका की सफलता इस सिद्धांत पर आधारित है, 'जैसे ही बच्चे में एकाग्रता आरंभ हो, अध्यापिका का व्यवहार ऐसा होना चाहिए मानो बच्चा उपस्थित ही नहीं है।' वैसे सरसरी नजर से यह देखा जा सकता है कि बच्चा क्या कर रहा है, परंतु बच्चे को इसका एहसास नहीं होना चाहिए। इसके बाद बच्चे को एक चीज से दूसरी चीज की ओर जाने की जरूरत नहीं रह जाती। वह अब स्वयं अपने संकल्प से काम चुनता है। इससे कक्षा में कुछ समस्या खड़ी हो सकती है जहां कई बच्चे एक ही समय, एक ही काम करना चाहते हैं। परंतु इन समस्याओं को सुलझाने के लिए भी, उनके काम में, जब तक वे अनुरोध न करें, दखल नहीं देना चाहिए। बच्चे स्वयं उन्हें सुलझा लेंगे। अध्यापिका का कर्तव्य केवल इतना है कि बच्चा जब उन चीजों के सभी संभावित उपयोगों को समाप्त कर ले जिनसे वह कार्य कर रहा है, तो अध्यापिका उसके लिए नई चीजें प्रस्तुत करे।

बाधा न डालने की कला, अध्यापिका को बड़े अभ्यास के बाद आती है सरलता से नहीं। इसके लिए आध्यात्मिक शक्ति चाहिए। सच्ची आध्यात्मिकता से यह अनुभव होता है कि सहायता देना भी अहं का स्रोत है।

अध्यापिका, भावुक प्रेरणावश बच्चे की सच्ची सहायता नहीं करती, वरन अपने प्रेम को अनुशासित करके और उसका विवेकपूर्ण प्रयोग करके वह सच्ची सहायता कर सकती है। क्योंकि सहायता करने वाले को, सहायता प्राप्त करने वाले से अधिक सुख मिलता है। सच्ची सहायता करने वाला बिना अपने को प्रकट किए जरूरतमंद की सहायता करता है।

यदि उसका पता चल भी जाए तो वह ऐसा रुख अपना लेगा मानो उसने सहायता नहीं की है, वरन जो हुआ वह स्वाभाविक था।

यद्यपि अध्यापिका और बच्चे के बीच आध्यात्मिक संबंध होता है, फिर भी अध्यापिका को अपने आचरण के लिए एक बहुत अच्छा आदर्श, उस खिदमतगार में मिल सकता है जो अपने मालिक की सेवा करता है। वह अपने मालिक की शृंगार की मेज साफ करता है। उसके ब्रुश को यथास्थान रखता है, परंतु वह मालिक से यह नहीं कहता कि वे ब्रुश का प्रयोग कब करें। वह अपने मालिक के लिए खाना परोसता है, पर उन्हें खाने को बाध्य नहीं करता। सब चीजें करीने से मेज पर रख कर वह समझदारी से अलग हट जाता है। जब बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा हो, तो हमें भी इसी तरह का व्यवहार करना चाहिए। बच्चे की आत्मा ही वह मालिक है जिसकी सेवा अध्यापिका करती है। जब ऐसा लगे कि बच्चे को आवश्यकता है, तो अध्यापिका को तुरंत ध्यान देना चाहिए। खिदमतगार मालिक के एकांत में कभी बाधा नहीं डालता, परंतु मालिक के पुकारने पर वह फौरन जाकर देखता है कि मालिक को क्या चाहिए। यदि खिदमतगार को लगता है कि मालिक उससे प्रशंसा की प्रत्याशा कर रहा है, तो वह प्रशंसा करता है भले ही उसे वह चीज सुंदर न लग रही हो, फिर भी वह कहेगा, "कितनी सुंदर है।" इसी तरह जब बच्चा, बहुत ध्यान लगा कर कोई काम करे, तो हमें अलग रहना चाहिए। परंतु यदि वह हमसे अनुमोदन की इच्छा प्रदर्शित करे, तो हमें जी खोल कर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए।

अध्यापिका और बच्चे के बीच संबंधों का मनोविज्ञान वही है जो मालिक और खिदमतगार में होता है। अध्यापिका की भूमिका है कि वह बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व की अच्छी तरह सेवा करे। यह शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि बच्चा जब गंदा हो तो उसे साफ करो, या उसके गंदे कपड़े धोओ, या कपड़ों की मरम्मत करो। हम बच्चे के शरीर की सेवा नहीं करते, क्योंकि हमें मालूम है कि उसके विकास के लिए यह जरूरी है कि यह काम वह स्वयं करे। हमारी शिक्षा का आधार यही है कि इस अर्थ में उसकी सेवा नहीं करनी चाहिए। उसे स्वयं चुनाव की क्षमता का उपयोग करके, अपनी संकल्प शक्ति को स्वतंत्र बनाना चाहिए। बिना बाधा के अकेले काम करके उसे अपने विचारों को स्वतंत्र बनाना चाहिए। बच्चे का विकास, स्वतंत्रता की क्रमिक अवस्थाओं के मार्ग से होता है और इन अवस्थाओं का ज्ञान, हमारे व्यवहार का मार्गदर्शक होना चाहिए। हमें बच्चे की ऐसी सहायता करनी चाहिए कि वह स्वयं कार्य कर सके, स्वयं विचार और संकल्प कर सके। यही बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व की सेवा है, और बच्चों के बीच में काम करने से ही इसमें दक्षता प्राप्त होती है।

यदि अध्यापिका, अपने बच्चों की जरूरतों को पूरा करे, तो वह उनमें सामाजिक जीवन के गुणों को प्रस्फुटित होते हुए देखेगी। बच्चे की आत्मा की इन अभिव्यक्तियों के अवलोकन से उसे बड़ा आनंद प्राप्त होगा। यह ऐसा ही आनंद है जो एक यात्री को मरुस्थल में यात्रा करते समय मरुद्यान में पहुंचने पर होता है। मानव के उच्चतर गुण असामान्यीकृत बच्चे

में छिपे रहते हैं और जब वे प्रकट होते हैं, तो अध्यापिका उनका प्रसन्नता से स्वागत करती हैं, क्योंकि उसका विश्वास प्रमाणित हो जाता है। बच्चे के इन गुणों में उसे मानव का सच्चा स्वरूप दिखाई देता है—ऐसा कार्यकर्त्ता जो कभी नहीं थकता, क्योंकि उसे अनवरत उत्साह से प्रेरणा मिलती है। अध्यापिका को ऐसा बच्चा दिखाई देता है जो अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहता है, क्योंकि उसकी अभिलाषा यही है कि वह कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करे। बच्चा कमजोरों की, वास्तव में सहायता करने का प्रयास करता है क्योंकि उसके हृदय में असली उदारता होती है और वह दूसरों का सम्मान करना जानता है। दूसरों के आध्यात्मिक प्रयासों का सम्मान करने से उसका आध्यात्मिक विकास होता है। जिस बच्चे में ये विशेषताएं होती हैं, उसे अध्यापिका पहचान लेती है कि यही वास्तव में वह बच्चा है जो असली मानव का निर्माणकर्त्ता है।

परंतु यह धीरे-धीरे ही होगा। पहले अध्यापिका कहेगी "मैंने बच्चे का आंतरिक व्यक्तित्व पहचान लिया और उसे अपने अनुमान से कहीं अधिक अच्छा पाया।" बचपन को समझना इसे ही कहते हैं। इतना जानना काफी नहीं है कि बच्चे का नाम जॉन है और उसका पिता बढ़ई है। अध्यापिका को अपने दैनिक जीवन में बचपन का रहस्य जानना और अनुभव करना चाहिए। इसी से उसका ज्ञान बढ़ेगा और उसमें एक नए प्रकार का प्रेम पनपेगा जिसका संपर्क बच्चे के शरीर से नहीं, पर उसके आंतरिक व्यक्तित्व से होगा। जब बच्चे उसके सामने अपनी वास्तविक प्रकृति प्रकट करते हैं, तो शायद उसे पहली बार समझ में आता है कि वास्तव में प्रेम क्या है। और इसका ज्ञान होने से अध्यापिका में भी परिवर्तन होता है। यह ऐसी चीज है जो दिल को छू लेती है और धीरे-धीरे लोगों को परिवर्तित कर देती है। एक बार इन तथ्यों को देख लेने के बाद, हम हर समय उनके बारे में लिखते हैं या बात करते हैं। शायद हम बच्चों के नाम भूल जाएं, परंतु उनके आंतरिक व्यक्तित्व ने हम पर जो प्रभाव डाला है और हमारे अंदर जो प्रेम जाग्रत किया है, उसे हम कभी नहीं भूल सकेंगे।

प्रेम के दो स्तर होते हैं। बहुधा जब हम बच्चों के प्रति अपने प्रेम की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उनकी देखरेख से होता है, उस स्नेह और दुलार से होता है जो हम अपनी जान-पहचान के बच्चों को देते हैं, और यदि हमारा उनसे कोई आध्यात्मिक संबंध होता है, तो हम उनको प्रार्थना करना सिखा कर उसे प्रदर्शित करते हैं।

परंतु मैं एक भिन्न चीज की बात कर रही हूं। यह प्रेम का वह रूप है जो अब वैयक्तिक या भौतिक नहीं रहा। बच्चों की सेवा करते समय हम यह अनुभव करते हैं कि हम मानव आत्मा की सेवा कर रहे हैं—ऐसी आत्मा जिसे अपने को मुक्त करना है। इन दोनों प्रकार के प्रेम के स्तर में भिन्नता को अध्यापिका नहीं, बच्चे स्थापित करते हैं। बच्चे के कारण ही अध्यापिका में विकास होता है और वह बच्चे के निकट पहुंच जाती है।

इसके पहले वह यही सोचती थी कि उसका कार्य उत्कृष्ट श्रेणी का है। परंतु उसे छुट्टियां अच्छी लगती थीं। अन्य लोगों की तरह जो दूसरों के लिए कार्य करते हैं, वह आशा करती थी कि उसके कार्य का समय कम हो जाए और उसका वेतन बढ़ जाए। उसको जिन चीजों

से संतोष मिलता था वह था—सत्ता का प्रयोग और बच्चों के अनुकरण के लिए एक आदर्श व्यक्ति के रूप में अपनी छवि प्रस्तुत करना। यदि वह मुख्य अध्यापिका या निरीक्षिका बन जाती, तो उसे और भी खुशी होती। परंतु इस स्तर से उच्चतर स्तर तक जाने का अर्थ इस बात को समझ लेना है कि इन चीजों में असली सुख नहीं है। जिसने आध्यात्मिक सुख का अनुभव कर लिया है वह स्वयं उच्च पद पर पहुंचने की अभिलाषा त्याग देती है। हम ऐसा कई स्कूलों की मुख्य अध्यापिकाओं और निरीक्षिकाओं में देखते हैं, जिन्होंने अपने पदों को त्याग कर छोटे बच्चों की सेवा करना स्वीकार किया और "बच्चों की अध्यापिका" बन गईं जिस पद को कुछ लोग हिकारत से देखते हैं।

मैं पेरिस के दो डॉक्टरों को जानती हूं, जिन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ कर पूर्णरूप से हमारे कार्य के लिए अपने को समर्पित कर दिया। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वे निम्न स्तर से उच्च स्तर पर पहुंचे हैं।

ऐसी रूपांतरित अध्यापिका की सफलता का सबसे बड़ा लक्षण यही है कि वह कह सके, "बच्चे इस ढंग से काम करते हैं मानो मैं उपस्थित नहीं हूं।"

इस रूपांतरण के पहले उसकी भावनाएं इसके बिलकुल विपरीत थीं। वह सोचती थी कि वही बच्चों को सिखाती है, और उसी ने बच्चों को निम्न से उच्च स्तर पर उठाया है। परंतु अब बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व के प्रकट होने पर, वह अपनी भूमिका का सबसे बड़ा महत्व यही समझती है—इस बच्चे के लिए सृष्टि ने जो कार्य नियत किए थे, उन्हें पूरा करने में मैंने इसकी सहायता की है।

इसमें बड़ा संतोष मिलता है। छह वर्ष तक के बच्चों की अध्यापिका यह जानती है कि उसने मानवता के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसे शायद बच्चों की परिस्थितियों के बारे में कोई जानकारी न हो। वह केवल उतना ही जानती हो, जितना बच्चों ने उससे बात करते समय बताया हो। संभव है कि उसे उनके भविष्य में कोई रुचि न हो। उसे इससे कोई वास्ता नहीं कि वे माध्यमिक स्कूल में जाएं, या विश्वविद्यालय में, या अपना अध्ययन पहले ही बंद कर दें। परंतु उसे इस बात की खुशी है कि इस निर्माण काल में, उन्हें वह करने का अवसर मिला, जो उन्हें करना चाहिए था। वह यह कह सकेगी, "मैंने इन बच्चों की आंतरिक प्रेरणा की सेवा की है और इन बच्चों ने अपने विकास कार्य को पूर्ण किया है। मैंने इनके अनुभवों में इनका साथ दिया है।" अध्यापिका अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होने के अतिरिक्त, अपने काम का और अपनी उपलब्धि का महत्व समझती है, जिससे उसे एक आध्यात्मिक संतोष मिलता है। जिसने इस प्रकार के जीवन को नहीं अपनाया है उसके लिए इसे समझना कठिन है। बहुत लोगों का ऐसा विचार है कि अध्यापिकाओं में यह आध्यात्मिक संतोष आत्मत्याग का परिणाम है। वे कहते हैं, "ये अध्यापिकाएं कितनी विनम्र होती हैं, जो बच्चों पर अपना रोब भी नहीं जमातीं।" और कई ऐसे कहते हैं, "आपकी पद्धति कैसे सफल हो सकती है, जब आप यह चाहती हैं कि अध्यापिका अपनी सब स्वाभाविक इच्छाओं को त्याग दे ?" परंतु वे यह नहीं समझते कि बात त्याग

की नहीं, संतोष की है, संन्यास की नहीं वरन ऐसे नए जीवन की है जहां जीवन की असली मान्यताएं स्थापित होती हैं, जिनका अभी तक बोध नहीं था।

हमारे स्कूलों में सब सिद्धांत बदल जाते हैं। न्याय को लीजिए। स्कूलों और समाज में तथा प्रजातांत्रिक देशों में, न्याय का बहुधा यह अर्थ होता है कि सब लोगों के लिए एक ही नियम हो—चाहे वे धनी और शक्तिशाली लोग हों, या भूखे मरने वाले हों। न्याय के साथ हम सामान्यतः मुकदमा, जेल और सजा की बातें सोचते हैं। अदालतों को "न्याय के आलय" कहा जाता है। यदि मैं कहूं, "मैं ईमानदार नागरिक हूं" तो इसका यही तात्पर्य समझा जाएगा कि मैं कभी न्याय प्रशासन के (पुलिस या अदालतों के) चक्कर में नहीं आई हूं। स्कूल में भी अध्यापिका सब बच्चों के साथ न्यायसंगत व्यवहार करना चाहती है और इसीलिए वह किसी बच्चे के प्रति स्नेह का प्रदर्शन करने में सावधान रहती है। यदि एक के प्रति कुछ प्रेम प्रदर्शित किया, तो उसे सबके प्रति भी प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। यह ऐसा न्याय है जो सबको निम्नतर स्तर में रखता है मानो आध्यात्मिक रूप से सब बच्चों को बराबर करने के लिए हमें सबसे लंबे बच्चे का सिर काट देना चाहिए।

हमारी इस बेहतर शिक्षा पद्धति में, न्याय वास्तव में आध्यात्मिक होता है। वह यह कोशिश करता है कि प्रत्येक बच्चा अपनी सर्वाधिक क्षमता को प्राप्त करे। हमारे यहां न्याय का अर्थ है कि प्रत्येक बच्चे की आवश्यकतानुसार सहायता की जाए जिससे वह अपने उच्चतम आध्यात्मिक स्तर तक पहुंच सके। बच्चे के आंतरिक व्यक्तित्व की हर अवस्था में सेवा करने का अर्थ है, बच्चे की उन क्षमताओं की सेवा करना जो उसे उच्चतम आध्यात्मिक स्तर तक पहुंचाएंगी। भविष्य में समाजों का संगठन शायद इसी आधार पर होगा। इस आध्यात्मिक निधि को कभी नहीं खोना चाहिए। इसकी तुलना में, आर्थिक निधियों का कोई महत्व नहीं है। मैं चाहे गरीब हूं या अमीर हूं यह महत्व नहीं रखता। यदि मैं अपनी सब क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेती हूं तो आर्थिक समस्याएं स्वतः कम हो जाएंगी। जब समस्त मानव जाति अपने आंतरिक व्यक्तित्व की पूर्णता को प्राप्त कर लेगी तो उत्पादनशीलता बढ़ जाएगी और जीवन के आर्थिक पहलू इतने महत्वपूर्ण नहीं रह जाएंगे। आदमी अपने शरीर से नहीं, वरन बुद्धि और आध्यात्मिकता से उत्पादन करता है और जब इनका उचित स्तर तक विकास हो जाएगा तो हमारी सब समस्याएं हल हो जाएंगी, जिनका अभी समाधान नहीं हो पा रहा है।

बिना सहायता के, बच्चे एक व्यवस्थित समाज की रचना कर सकते हैं। हम वयस्कों के लिए जेल, पुलिस, सिपाही और बंदूकों की आवश्यकता होती है। बच्चे अपनी समस्याओं का हल, शांतिपूर्वक ढूंढ लेते हैं। उन्होंने हमें यह प्रदर्शित कर दिया है कि स्वतंत्रता और अनुशासन, एक ही विषय के दो पहलू हैं क्योंकि व्यवस्थित स्वतंत्रता से ही अनुशासन प्राप्त होता है। सिक्के के सामान्यतः दो चेहरे होते हैं। एक अधिक सुंदर और बढ़िया पच्चीकारी के काम का होता है, जिसमें राजा या प्रतीकात्मक अध्यक्ष का चित्र होता है। दूसरे पक्ष पर सजावट कम होती है और उस पर कोई संख्या या कुछ और लिखा रहता है। सादे पक्ष

की तुलना स्वतंत्रता से की जा सकती है और बढ़िया पच्चीकारी के काम वाले पक्ष की अनुशासन से। यह ऐसा सत्य है कि जब अध्यापिका की कक्षा में अनुशासन नहीं रहता तो वह यही सोचती है कि इस अव्यवस्था में उसी की कुछ गलती का संकेत है। वह उस गलती को ढूंढती है और ठीक करती है। परंपरागत स्कूल की अध्यापिका इसमें अपना अपमान समझती है। परंतु यह अपमान नहीं है, यह नई शिक्षा पद्धति की तकनीक का एक अंग है। बच्चे की सेवा करना, जीवन की सेवा करना है। प्रकृति की सहायता करने से हम उसके आगे की अवस्था में पहुंच जाते हैं—अलौकिक अवस्था में, क्योंकि जीवन का नियम व्यवस्था है। जब व्यवस्था स्वतः स्थापित हो जाती है, तो हम समझ जाते हैं कि हमने ब्रह्मांड की व्यवस्था में पुनः प्रवेश कर लिया है। यह स्पष्ट है कि प्रकृति ने जो कार्य बच्चे के लिए नियत किए हैं, उनमें वयस्कों को उच्च स्तर की ओर पहुंचने के लिए जाग्रत करने का कार्य भी है। बच्चे हमें आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर ले जाते हैं और उससे भौतिक समस्याएं हल हो जाती हैं। मैं अपनी बात समाप्त करने के पहले कुछ शब्दों को फिर दोहराना चाहती हूं, जिनके द्वारा हम उन सब चीजों को याद रख सकते हैं जो मैंने बताया है। यह प्रार्थना नहीं है वरन हमारी अध्यापिकाओं के याद करने के लिए एक पाठ्यक्रम है। हमारा एकमात्र यही पाठ्यक्रम है, "हे परमेश्वर, बचपन के रहस्य को समझने में मेरी सहायता कर, जिससे हम तेरे न्याय के नियमों के अनुसार तेरी पवित्र इच्छा का अनुसरण करते हुए बच्चे को पहचानें, प्यार करें और उसकी सेवा करें।"

अध्याय अट्ठाईस

प्रेम और उसका स्रोत बच्चा

सामाजिक अवसरों पर, हमारे स्कूल में कई लोग एकत्रित होते हैं। बहुधा हमारे छात्र, अपने रिश्तेदारों और मित्रों को भी अपने साथ लाते हैं। हम उस समूह में गोद के बच्चे, शिशु, लड़के, लड़कियों, नवयुवक और नवयुवतियों, वयस्क, व्यावसायिक और अव्यावसायिक लोग, उच्चतम शिक्षा प्राप्त तथा अशिक्षित लोगों को एक साथ मिलते-जुलते देखते हैं। हमें उन लोगों का संचालन या निर्देशन करने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं होती। इन लोगों की वैविध्यता से, हमारी बैठकें, अन्य अध्ययन क्षेत्रों की बैठकों से भिन्न दिखाई देती हैं। जो छात्र, हमारे प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में सम्मिलित होते हैं, उनकी शिक्षा का कुछ निर्धारित स्तर होना चाहिए। हमारी केवल यही एक शर्त है। हमारे छात्रों में मैट्रिक पास लोग भी हो सकते हैं और प्रोफेसर भी, वकील, डॉक्टर और उनके मुवक्किल तथा मरीज भी इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। यूरोप में हमारे केंद्रों में संसार के हर क्षेत्र से विद्यार्थी आते थे। अमेरिका में तो एक विद्यार्थी अराजकतावादी था। परंतु इन विविध प्रकार के लोगों के मिश्रण के बावजूद, वहां कोई संघर्ष नहीं था। यह कैसे संभव हुआ ? यह इसलिए सफल हुआ, क्योंकि हम एक सामान्य आदर्श से जुड़े हुए थे। बेल्जियम एक इतना छोटा देश है कि भारत के एक कोने में समा सकता है। वहां पर दो भाषाएं हैं—एक फ्लेमिश और दूसरी फ्रेंच। राजनीति के आधार पर भी देश विभाजित है और कैथोलिक तथा समाजवादियों और अन्य राजनीतिक समूहों के कारण, स्थिति और जटिल हो गई है। ऐसे विभाजित लोगों का एक सभा में एक साथ मिल कर बैठना बहुत असाधारण है। परंतु हमारे प्रशिक्षण केंद्र में ऐसा सदा होता था। यह इतना विस्मयकारी लगता था कि अखबारों ने भी इसकी चर्चा की। उन्होंने कहा कि, "हम वर्षों से कोशिश कर रहे थे कि ऐसी सभाएं हों जिनमें सब दलों के लोग उपस्थित हों। पर यहां यह स्वतः हो रहा है।"

बच्चे का प्रभाव इतना होता है। हम चाहे जिस राजनीतिक दल के हों, या किसी भी धर्म के हों, हम सब बच्चे को प्यार करते हैं। इसी प्रेम के प्रभाव से बच्चा हमें एकता के सूत्र में बांध देता है। वयस्कों की बड़ी कट्टर धारणाएं होती हैं और यही उनको विभिन्न समूहों में विभाजित करती हैं। जब वे अपने मतभेद विचार-विमर्श से नहीं सुलझा पाते, तब वे हिंसा पर उतर आते हैं। परंतु बच्चा वह बिंदु है, जहां सब की भावनाएं समान हैं। इस कारण बच्चे की महत्ता कितनी अधिक है, इसे बहुत कम लोग समझ पाते हैं।

हम प्रेम की प्रकृति को समझने का प्रयास करें। पहले हम इस पर विचार करें कि संतों और कवियों ने प्रेम के लिए क्या कहा है, क्योंकि इन्होंने इस महान शक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति की है। इनके भाव प्रधान गीतों से सुंदर और उत्कृष्ट और क्या हो सकता है ? ये बड़े से बड़े कर्कश हिंसक व्यक्तियों का दिल भी हिला देते हैं। वे व्यक्ति भी, जो पूरे जनसमूह को बरबाद कर सकते हैं, इन गीतों से प्रभावित हो जाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि हिंसात्मक कार्यों के बावजूद, इन आदमियों में प्रेम का तत्व कहीं बचा हुआ है। यदि ऐसा नहीं होता तो ये सुंदर गीत उन्हें प्रभावित न कर पाते। वे इन गीतों को बेकार और निरर्थक समझते। यदि उन्हें गीतों की सुंदरता ने प्रभावित किया है, तो इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन में चाहे कितना ही कम प्यार बचा हो, वे उसके लिए सदा लालायित रहते हैं।

यदि हम संसार में शांति चाहते हैं, तो हमें इस तथ्य के बारे में और सोचना होगा। हमें इसके आशय को समझना होगा। बच्चा ही एक ऐसा बिंदु है, जिसकी ओर हर किसी का प्रेम और कोमलता, केंद्रित होती है। बच्चों की बात करते ही लोगों का हृदय नम्र और प्रेममय हो जाता है। ये भावनाएं सभी मानव जातियों में पाई जाती हैं। बच्चा प्रेम का स्रोत है। इस प्रेम की परिभाषा करना कठिन है। हम सब उसका अनुभव करते हैं, परंतु न तो उसकी उत्पत्ति का कारण बता सकते हैं, न उसके महत्वपूर्ण परिणामों का मूल्यांकन कर सकते हैं और न दो व्यक्तियों को जोड़ने की उसकी शक्ति का अंदाज लगा सकते हैं। यद्यपि हम लोगों की जाति, धर्म और हमारा सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न था, पर बच्चे पर चर्चा के समय हमने सब के बीच, एक भाईचारे की भावना को बढ़ते हुए अनुभव किया। इससे हमारा संकोच कम हुआ और हमने अपने मन से आत्मरक्षा की वह भावना त्याग दी जो सदा आदमी और आदमी के बीच में, या आदमियों के समूहों के बीच में, दीवाल खड़ी कर देती है।

बच्चों के सामीप्य से, अविश्वास मिट जाता है। हम स्नेही और कृपालु बन जाते हैं, क्योंकि बच्चे में जीवन की ज्योति होती है जो हमारे अंदर प्रेम उत्पन्न करती है। वयस्कों में प्रेम की भावना के साथ-साथ सुरक्षा की भावना भी होती है। इन दोनों में, मूल भावना तो प्रेम ही है और दूसरी उस पर अध्यारोपित की गई है। जैसा प्रेम हम बच्चों के लिए अनुभव करते हैं, वैसा ही मनुष्यों के बीच अंतर्निहित होना चाहिए क्योंकि मानव एकता एक वास्तविकता है और प्रेम के बिना एकता नहीं हो सकती।

कितने आश्चर्य की बात है कि हमारे इस काल में, जब युद्ध का विनाशकारी प्रभाव पृथ्वी के सुदूर कोने तक पहुंच चुका है और प्रेम की चर्चा करना एक निरा व्यंग्य माना जाता है; फिर भी जनसाधारण प्रेम की बात करना बंद नहीं करते। भविष्य के लिए एकता की योजनाएं बनाई जाती हैं जिसका अर्थ है कि प्रेम का अस्तित्व आज भी है और उसका प्रभाव मौलिक है। आज जब ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव जाति से कहा जा रहा है, "अब ऐसे स्वप्न की बात मत करो जिसे प्रेम कहते हैं। हमें वास्तविकता का सामना करने

दो। वास्तविकता केवल विध्वंसक है। नहीं तो क्या यह भूल है कि इतने शहर, जंगल, महिलाएं और बच्चे नष्ट हो गए ?" फिर भी हम पुनर्निर्माण और प्रेम की बात करना बंद नहीं करते। चर्च भी प्रेम की बात करता है, और उसके दुश्मन भी। रेडियो, प्रेस, पथिक, शिक्षित और अज्ञानी, अमीर और गरीब, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समुदाय के अनुयायी—सब प्रेम की चर्चा करते हैं।

यदि ऐसी ही बात है, तो हम इस आश्चर्यजनक तथ्य का अध्ययन क्यों न करें ? हम उसी समय क्यों प्रेम पर विचार-विमर्श करें, जब घृणा चारों ओर तबाही मचा रही हो ? उसका अध्ययन और विश्लेषण सदा क्यों नहीं किया जाता, जिससे उसका प्रभाव लाभकारी बनाया जा सके ? और हम अपने से पूछें कि अभी किसी ने इस मूल क्षमता का अध्ययन करने की बात और उसे अन्य शक्तियों से जोड़ने की बात क्यों नहीं सोची ? मनुष्य ने अन्य प्राकृतिक तथ्यों का अध्ययन करने में इतनी बुद्धि लगाई है। उसने इन तथ्यों की छानबीन और विश्लेषण किया है और उनसे संबंधित असंख्य खोजें की हैं। क्यों नहीं इस उत्साह का थोड़ा सा उपयोग एक ऐसी शक्ति के अध्ययन में करें जो शायद मानव जाति को आपस में जोड़ दे। हर कार्य को जो प्रेम की अंतर्निहित क्षमता को प्रस्फुटित करे और स्वयं प्रेम पर प्रकाश डाले, अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए और उसका उत्सुकता से स्वागत होना चाहिए। मैं पहले कह चुकी हूं कि संत और कवि, प्रेम को एक आदर्श मानते हैं परंतु प्रेम केवल आदर्श नहीं है। वह सदा से एक वास्तविक तथ्य रहा है और रहेगा।

और हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि हम प्रेम की वास्तविकता का अनुभव करते हैं, तो वह इसलिए नहीं क्योंकि वह हमें स्कूल में सिखाया गया था।

यदि हमें संतों और कवियों के वचन कंठस्थ कराए भी जाते, तो जीवन के दबाव और झंझटों में अब तक हम उन्हें भूल गए होते। यदि लोगों में प्रेम की प्रबल उत्कंठा है, तो इसलिए नहीं कि उन्होंने इसके बारे में सुना है या इसके बारे में पढ़ा है। प्रेम और प्रेम की आशा, ऐसी चीजें नहीं हैं जिन्हें कोई सीख सके। वह तो हमारी विरासत है। केवल कवि और पैगंबर ही प्रेम की बात नहीं करते, जीवन ही वास्तव में प्रेम दर्शाता है।

धर्म और कविता के अतिरिक्त, एक और दृष्टिकोण से प्रेम पर विचार किया जा सकता है। वह है स्वयं जीवन का दृष्टिकोण। तब हम देखेंगे कि प्रेम सिर्फ ऐसी चीज नहीं है, जिसकी कल्पना की जाए या उसे पाने की इच्छा की जाए। वह वास्तव में एक सनातन शक्ति है, जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।

मैं प्रेम के बारे में, और कवियों तथा संतों के वचनों के बारे में, कुछ कहना चाहूंगी। प्रेम, संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। परंतु मेरी अभिव्यक्ति पर्याप्त नहीं है क्योंकि प्रेम, शक्ति से भी अधिक है। वह स्वयं सृष्टि है। मेरा यह कहना बेहतर होगा, "प्रेम ही भगवान है।"

मेरी इच्छा तो यह है कि मैं सभी कवियों और संतों के उद्धरण प्रस्तुत करूं, परंतु मैं सबको नहीं जानती, और उनकी विविध भाषाएं भी नहीं जानती। परंतु एक को मैं जानती

हूं जिसका उद्धरण मैं प्रस्तुत करती हूं। उसने प्रेम की चर्चा करते हुए इतने प्रभावशाली शब्दों में अपने को अभिव्यक्त किया, कि आज दो हजार वर्ष बाद भी उसके शब्द ईसाइयों के दिलों में गूंज रहे हैं।

> यदि मैं आदमियों और फरिश्तों की भाषा में बात करूं और मेरे हृदय में प्रेम न हो, तो मेरी बातें झांझ की झंकार की तरह होंगी। यदि मुझमें भविष्य की क्षमता हो और मैं समस्त रहस्यों और ज्ञान को जानता होऊं, यदि मेरे पास इतना विश्वास हो कि मैं पहाड़ों को हटा सकूं, पर मेरे हृदय में प्रेम न हो तो मैं कुछ नहीं हूं। यदि मैं अपनी सारी संपत्ति गरीबों में बांट दूं और अपने शरीर को भी जलाने के लिए सौंप दूं और मेरे अंदर प्रेम न हो, तो इससे मुझे कुछ लाभ नहीं होगा।
>
> *(कोरिंथ वासियों से संत पॉल,* अध्याय 1-13)

क्षमा याचना के साथ हम संत पॉल से पूछ सकते हैं, "आपके अंदर प्रेम के लिए इतनी गहन भावनाएं हैं, अतः आप अवश्य जानते होंगे कि प्रेम क्या है। क्या आप हमें यह नहीं समझाएंगे ?" क्योंकि जब हम इस महान भावना का वर्णन करने का प्रयास करते हैं, तो यह बड़ा कठिन प्रतीत होता है। हम वर्तमान सभ्यता में संत पॉल के शब्दों को वास्तव में क्रियान्वित होते देखते हैं। क्या आज हम पहाड़ों को नहीं हटा सकते या इससे भी बड़े चमत्कार नहीं कर सकते ? क्या हम पृथ्वी के एक कोने में जो बात धीरे से कहते हैं, वह समस्त पृथ्वी में नहीं सुनी जाती ? परंतु यह सब प्रेम के बिना कुछ नहीं है। हमने गरीबों को खाना और कपड़ा देने के लिए बड़े-बड़े संगठन बनाए हैं। परंतु यदि इनके कार्यों के पीछे प्रेम की भावना नहीं है तो वे ऐसे ढोल की तरह हैं, जो खोखले होने के कारण, आवाज करते हैं। अतः इस प्रेम की प्रकृति क्या है ? संत पॉल ने, जिसका उद्धरण मैंने दिया, इसकी भव्यता के वर्णन में बहुत कुछ कहा है, परंतु उन्होंने कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "प्रेम, क्रोध नहीं करता और दयालु होता है। प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, किसी के साथ दुष्ट व्यवहार नहीं करता। उसमें अहंकार नहीं है। उसमें महत्वाकांक्षा नहीं है। वह स्वार्थ के लिए काम नहीं करता, विरोध नहीं उकसाता, किसी का बुरा नहीं चाहता। वह अन्याय से आनंदित नहीं होता, और सत्य से सुखी होता है। वह सब कुछ सहन करता है, सब में विश्वास करता है, सब में आशा रखता है और सब झेलता है।"

यह तथ्यों की एक लंबी सूची है, और यह जिन गुणों का चित्रण करती है वह हमें बचपन के गुणों की याद दिलाते हैं। ऐसा लगता है मानो वह बच्चे के ग्रहणशील मस्तिष्क का वर्णन कर रहे हों। यह मस्तिष्क सब कुछ ग्रहण करता है, किसी की आलोचना नहीं करता, किसी को अस्वीकार नहीं करता और इसमें किसी के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होती। वह सबका अवशोषण करके उसे आने वाले मानव में अवतरित करता है। बच्चा यह अवतरण इसलिए करता है जिससे वह अन्य लोगों के समान हो जाए और उनके साथ रहने के लिए अनुकूलन कर ले। बच्चा सब कुछ सहन करता है। वह संसार में प्रवेश करता है, और

चाहे जिस परिस्थिति में उसका जन्म हुआ, वह उसी में रहने के लिए अपना निर्माण और अनुकूलन करता है, और उसका वयस्क रूप उसी परिस्थिति में प्रसन्न रहता है। यदि वह उष्ण जलवायु में पैदा हुआ है, तो वह अन्य किसी जलवायु में सुखी नहीं रहेगा। चाहे वह रेगिस्तान में जन्म ले, या समुद्री किनारे पर, चाहे वह पहाड़ों पर पैदा हुआ हो या ध्रुव के बर्फीले मैदानों पर, वह सबमें प्रसन्न रहता है। जिस स्थान पर उसका जन्म और लालन पालन हुआ है, वह उसी स्थान पर सर्वाधिक सुख अनुभव करता है।

ग्रहणशील मस्तिष्क सब चीजों का स्वागत करता है, सब चीजों की आशा करता है, दरिद्रता को भी धन की तरह स्वीकार करता है, किसी भी धर्म को तथा अपने देश के लोगों के पूर्वाग्रहों और रहन-सहन को अपनाता है और सबका अपने में अवतरण करता है। बच्चे का यह रूप है।

यदि यह न होता, तो मानव जाति संसार में कहीं भी स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती। यदि उसे हर बार नए सिरे से सीखना होता तो उसकी सभ्यता में निरंतर प्रगति नहीं हो पाती।

ग्रहणशील मस्तिष्क, मानव द्वारा निर्मित समाज का आधार है। यह छोटा और सौम्य शिशु, अपने प्रेम से, मानव नियति की रहस्यमय कठिनाइयों का हल ढूंढ लेता है।

यदि हमने अभी तक बच्चे का जैसा अध्ययन किया है, उससे और बेहतर अध्ययन करें, तो हमें प्रेम के सब रूप उसमें मिलेंगे। कवि और पैगंबर प्रेम का विश्लेषण नहीं कर पाए, परंतु बच्चे ने अपने में जो वास्तविकताएं उद्घाटित की हैं, उनसे प्रेम का विश्लेषण हो जाता है।

यदि हम संत पॉल के शब्दों पर विचार करें, और फिर बच्चे की ओर देखें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा, "जो कुछ कहा गया है वह सब बच्चे में प्रकट होता है। उसमें सब प्रकार के प्रेम का खजाना है।"

अतः प्रेम का यह खजाना केवल कविता या धर्म की अभिव्यक्ति में नहीं मिलता, वरन वह प्रत्येक व्यक्ति में उपस्थित रहता है। यह चमत्कार सभी को प्राप्त है। हमें इस महान शक्ति का मानवीकरण चारों ओर दिखाई देता है। आदमी, आपस में संघर्ष और मतभेद से मरुस्थल बनाता है और भगवान निरंतर प्रेम की वर्षा से उसका पुनरुत्थान करता है। अतः हम आसानी से यह समझ सकते हैं कि आदमी चाहे कितनी ही प्रगतिशील रचना करे, बिना प्रेम के उसका कुछ परिणाम नहीं निकलेगा। यदि बच्चे में इस प्रेम की देन का पूर्ण विकास किया जाए, यदि इसकी समस्त संभावनाओं को साकार किया जाए, तो हमारी वर्तमान उपलब्धियों में बहुत विस्तार होगा। वयस्कों और बच्चों की भावनाओं को, सम्मिलित होकर कार्य करना चाहिए। बच्चे से कुछ सीखना चाहिए। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मनुष्य ने इतने विस्मयकारी कार्यों को किया, इतनी नई चीजों को खोजा, परंतु उसने बच्चे पर कोई ध्यान नहीं दिया।

हमने अभी तक जो कुछ भी कहा वह प्रेम को पूरी तरह वर्णित नहीं कर सकता।

प्रेम उससे कहीं अधिक है। मानव मस्तिष्क ने अपनी कल्पना से उसे बहुत ऊंचा उठा दिया है परंतु हमारी दृष्टि में वह एक अति जटिल विश्व शक्ति का एक तत्व है जिसको "आकर्षण" और "घनिष्ठ संबंध" शब्दों से व्यक्त किया जाता है। यही शक्ति जैव और अजैव में व्यवस्था स्थापित करती है, और प्रत्येक और समस्त चीजों का सार है। सामान्यतः यह शक्ति अचेत होती है, परंतु जीवन में कभी-कभी यह सचेत हो जाती है और जब मानव इसका अनुभव अपने हृदय में करता है तो इसे प्रेम कहते हैं।

प्रत्येक जानवर में, समय-समय पर पुनरोत्पादन की प्रवृत्ति होती है, जो प्रेम का एक रूप है। प्रेम का यह रूप प्रकृति का आदेश है, क्योंकि इसके बिना जीवन चिरस्थायी नहीं रह सकता। अतः इस विश्व शक्ति का थोड़ा सा अंश, एक क्षण के लिए, जीवधारियों को दिया जाता है, जिससे उनकी जाति समाप्त न हो जाए। वे एक क्षण को उसका अनुभव करते हैं और फिर वह उनकी चेतना से लुप्त हो जाती है। इससे पता चलता है कि प्रेम प्रदान करने में प्रकृति कितने नाप-तौल से काम लेती है। अतः यह शक्ति कितनी मूल्यवान होगी, जिसे वह इतनी न्यून मात्रा में प्रदान करती है मानो उसे ऐसा करने का आदेश दिया गया है। जब बच्चों का जन्म होता है, तो मां-बाप को इस प्रेम का उपहार दिया जाता है। यह विशेष प्रकार का प्रेम है जिसके कारण वे अपने बच्चों को भोजन और प्रेम देते हैं तथा अपनी जान पर खेल कर उनकी रक्षा करते हैं। बच्चे के प्रति मां का प्रेम, उसे रात-दिन बच्चों के पास रखता है, इस प्रेम के कारण बच्चे का जीवित रहना, और उसकी सुरक्षा तथा उसका कल्याण सुनिश्चित हो जाता है, यह इस शक्ति के इस विशेष रूप का सीमित उद्देश्य है। "जाति की देखभाल और सुरक्षा, तथा जब तक बच्चा आत्मनिर्भर न हो जाए, मां-बाप उसके प्रति समर्पित रहें।" बच्चा जैसे ही बड़ा हो जाता है, प्रेम का यह रूप समाप्त हो जाता है। जो अब तक अटूट बंधन से बंधे हुए थे, अब पृथक हो जाते हैं। यदि वे फिर मिलते हैं तो ऐसा व्यवहार करते हैं मानो एक दूसरे को कभी नहीं जानते थे। बेटा यदि मां के भोजन में से एक ग्रास भी ले ले, तो वही मां जो पहले उसे सभी चीजें देती थी, अब बिगड़ जाती है और उस पर हमला करती है।

इसका क्या अर्थ हो सकता है ? इसका अर्थ है कि प्रेम की जो किरण सबको प्रदान की जाती है, वह उद्देश्य समाप्त हो जाने पर, वापस ले ली जाती है।

मनुष्य में ऐसा नहीं है। बच्चों के बड़े हो जाने पर प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। यही नहीं, प्रेम का विस्तार परिवार के दायरे के बाहर भी होता है। क्या किसी आदर्श से प्रभावित होने पर यह हमारे अंदर प्रकट नहीं होता और हमें उससे नहीं जोड़ता ?

मानव जाति में प्रेम चिरस्थायी है, और इसके परिणाम व्यक्ति के जीवन के बाहर भी परिलक्षित होते हैं। सामाजिक संगठनों ने बढ़ते-बढ़ते सारी मानव जाति को अपने में लपेट लिया है और यह प्रेम के कारण ही हुआ है जिसका अनुभव सदियों से लोगों को होता आया है।

यदि प्रकृति इस शक्ति को निश्चित उद्देश्य के लिए प्रदान करती है, यदि वह अन्य

जीवों को यह इतनी निश्चित मात्रा में देती है, तो मानव को इतनी उदारता से देने का अवश्य ही कोई उद्देश्य होगा।

यद्रि प्रेम के सभी रूपों की प्रवृत्ति उद्धार की ओर होती है, तो प्रेम की अवहेलना से विनाश होना अवश्यंभावी है। हमें जिस मात्रा में प्रेम प्रदान किया गया है, उसका मूल्य उन भौतिक उपलब्धियों से कहीं अधिक है जिनसे हम चिपके रहते हैं। ये उपलब्धियां उसी प्रेम का अस्थायी रूप हैं, और थोड़े समय बाद, जब नई उपलब्धियां उनका स्थान ले लेती हैं, तो यह रूप समाप्त हो जाता है। परंतु प्रेम, सृष्टि के अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए सदा विकसित होता रहेगा। ये उद्देश्य हैं जाति की रचना, सुरक्षा और उद्धार।

मानव को एक निश्चित उद्देश्य के लिए प्रेम प्राप्त हुआ है और भगवान द्वारा प्रदान की गई अन्य वस्तुओं की तरह हमें इसे संजो कर रखना चाहिए, और इसका यथासंभव विकास करना चाहिए। समस्त जीवों में केवल मानव ही ऐसा है जो इस प्राप्त शक्ति का अधिकाधिक विकास कर सकता है। उसका कर्तव्य है कि इसे संजो कर रखे। यह एक वास्तविक शक्ति है, काल्पनिक विचार नहीं, और इसीलिए यह प्रेम समस्त विश्व को बांध कर रखता है।

इसी के कारण, मानव, बुद्धि और हाथों द्वारा जो भी रचना करता है, उसे संभाल कर रखता है। बिना प्रेम के, वह जो भी रचना करेगा, उससे विध्वंस और अव्यवस्था फैलेगी। प्रेम के बिना, कुछ स्थायी नहीं रह सकता। सब समाप्त हो जाएगा।

अब हमें संत पॉल के शब्द समझ में आ सकते हैं, जब वह कहता है कि प्रेम के बिना सब कुछ भी, कुछ नहीं है। प्रेम उन सब शक्तियों से अधिक है जो मानव ने ढूंढा है और जिनका उसने उपयोग करना सीखा है। सब चीजों में सबसे शक्तिशाली प्रेम है। मनुष्य के अन्वेषणों की उपलब्धि, उनको उपयोग करने वाले व्यक्ति की चेतना पर निर्भर करती है। परंतु प्रेम की शक्ति सबके अंदर है। यद्यपि इस शक्ति की मात्रा सीमित है और यह बिखरी हुई है, फिर भी यह मनुष्य को प्राप्त समस्त शक्तियों में, सबसे महान है। इसका जो अंश हमारे अंदर सचेत रूप से है, उसका प्रत्येक बच्चे के जन्म पर नवीकरण होता है। यद्यपि बाद की परिस्थितियों से यह प्रसुप्त हो जाए, फिर भी इसके लिए हमारे अंदर एक तीव्र इच्छा विद्यमान रहती है। इसीलिए हमें इसका अध्ययन और प्रयोग करना चाहिए। अन्य सब शक्तियां परिवेश में होती हैं, पर वह प्रेम हमारे अंदर होता है। प्रेम का अध्ययन और उपयोग हमें प्रेम के स्रोत तक ले जाता है—अर्थात बच्चे तक।

यदि मनुष्य मानव जाति का उद्धार और एकता चाहता है, तो उसे अपनी मनोव्यथाओं और जिम्मेदारियों में प्रेम का मार्ग अपनाना होगा।

अनुक्रमणिका

अंगों का गतिशील होना 21
अज्ञात प्रतिभा 2
अचेतन अवस्था 133
अचेतन से चेतन की ओर 133-37
अध्यापक का कार्य 5
अध्यापिका और बच्चे के बीच का संबंध 229
अध्यापिका की तैयारी 225-33
अध्यवसाय 177
अनुकरण करना 136
अनुकरण करने की आदत 146
अनुकरण का सिद्धांत 127, 128
अनुकूलन की प्रवृत्ति 50-54
अनुकूलन स्थापित करना 82
अनुभूति पर आधारित शिक्षा और गणितीय मस्तिष्क 147-50
अनुशासन 164, 221, 232,
  आधार 208
  और अध्यापक 214-24
अप्रत्यक्ष तैयारी करने का सिद्धांत 139
अभिव्यक्ति की क्षमता 92
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता 218
अभ्यास और अनुभव से अयोग्यता का ठीक होना 200
अर्जित क्षमताओं में दक्षता प्राप्त करना 134
अव्यवस्थित बच्चा 216-17
असामजिक व्यक्ति 170

आंतरिक अनुशासन 214
आंतरिक व्यक्तित्व, 215, 220, 225, 229
  निर्माण 82
आकर्षण 238
आज्ञापालन के स्तर 205-13
आत्मनियंत्रण 211
आत्मनिर्देशन की क्षमता 200
आत्मनिर्भर होने की चाहत 137
आत्मविश्वास 173, 224
आत्म संरक्षण की भावना 25, 151
आदमी का निर्माण स्वयं बच्चा द्वारा 12
आधुनिक जीव-विज्ञान 23
आध्यात्मिक क्षमताएं 113
आध्यात्मिक गुरु 172
आध्यात्मिकता 113, 170, 180, 228, 232
आध्यात्मिक प्रक्रिया 222
आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सुरक्षा 223
आनुवंशिकी 75
आराम करना ही जीवन का असली उद्देश्य नहीं 73
आवाजों का प्रभाव 19

इटार्ड, डा. 75

उत्परिवर्तन सिद्धांत (म्यूटेशन थ्योरी) 38, 42
उपद्रवी बच्चे 167, 205

एकत्व की भावना 191
एक शब्द का वाक्य 101
एक योजना : एक पद्धति 46-48
एकाग्रता 176, 222, 223, 226
एकीकृत व्यक्तित्व (आध्यात्मिक जीवन का आधार) 216

एलिस, हैवलौक 14

कठिन बच्चा 166, 167
कमजोर बच्चों के दोष 159-60
कल्पना 141-45
कल्पना और संस्कृति 138-54
कॉगहिल 42-43, 58, 151, 191
कान 94
कार्य करने की स्वतंत्रता 167
कैरेल 2
कोएलेनटरेट्स (एक प्रकार का जीव) 38
कोशिकाएं 34
कोशिका विज्ञान (सायटोलॉजी) 23
क्रिया का विकास 120, 123
क्रिया के दर्शन 118
क्रोमोजोम 29
क्लाष्ट्रो फोबिया 108
क्लैपारीड 7
क्षमताओं की बर्बादी 2-3

खयाली दुनिया का सजीव चित्रण 143
खराब उच्चारण और हकलाना 107
खेलकूद का स्वर्ण युग 135
खेल चिकित्सा 166
खेलना 144

गतिशीलता (बच्चे द्वारा अर्जित क्रिया) 21
गर्भावस्था के समय की कठिनाइयां 158
गलत और अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली 7
गलतियां और उनका सुधार 199-204
गलती का नियंत्रण 202
गांधी जी, 7, 193
गुणों की वर्णमाला 148
गूंगे-बहरे बच्चों का झगड़ालू होना 103
गेसेल, आर्नल्ड 42, 75
ग्रहणशीला 19-22
ग्रामीण स्कूल 193

घनिष्ठ संबंध 239
चरित्र और नैतिकता की समस्या 160-61
इलाज 161
चरित्र और व्यक्तित्व 156
चरित्र का प्रशिक्षण 235
चरित्र-निर्माण 139, 155, 162, 174, 181
चरित्र विज्ञान 155
चलना और खोज करना 130-32
चारित्रिक दोष (बचपन में) 155-62
वर्गीकरण 163
चिकित्सा मनोविज्ञान 61
चिरस्थायी प्रेम 239

जन्म का आतंक 55
जन्म का क्षण 61-63
जन्मभूमि से प्यार 51-152
जानवरों के प्रति सम्मान 188
जिब्रान, खलील 168
जीवन का आनंद 67
जीवन का सबसे महत्वपूर्ण काल,
विश्वविद्यालय नहीं पहली अवस्था 17
जीवन की प्रक्रिया का अर्थ 24
जीवन के दो चेहरे 24-26
जीवन के प्रारंभिक दिन 78-86
जीवन के लिए शिक्षा 7-13
ज्ञान का समावेश
मानसिक जीवन में 20

डगलस (भ्रूण वैज्ञानिक) 33
डारविन का सिद्धांत 38, 39, 44
डी ब्राइस 38, 42, 77
डेढ़ साल के बच्चों के लिए भी स्कूल 101
ड्यूई, प्रोफेसर जॉन (अमेरिका के शिक्षा शास्त्री) 136
दमन (सामान्य विकास में जो कठनाइयां आती हैं) 106
क्रिया 129

लक्षण 61
दूध पिलाने की अवधि 86
दोषों का प्रभाव,
मानसिक जीवन और बुद्धि पर 158
धर्म और कविता 236
धर्म और दर्शन 1

नई दिशा 23-26
नई शिक्षा पद्धति 233
नए शब्दों को सीखने की लालसा 141
नन, सर पर्सी 67
नया मानव 5-6
नया स्वास्थ्य विज्ञान 83-86
नर्सरी 83
नर्सरी स्कूलों की महत्ता 54
नवजात बच्चे और मां में अंतरंग संबंध 57
नवजात शिशु 2
नवीन जीव 27
निदान केंद्र 166, 167
निराला बच्चा 165
निषेधात्मक कार्य 197
निष्क्रिय-तंत्र 113
निष्क्रियता से क्रिया की ओर 74
नींद 62
नीहारिका (नेब्यूल) 63-66, 77
नेमे 50, 53, 63, 96
नैतिकता 151
शिक्षा 169
नैतिक संवेदनशीलता 222

परंपरागत स्कूल 233
परिपक्वता 167, 182
अर्थ 75-77
परिभाषा 76
परिवार या जाति की भावना 190
परिवेश 181-84, 199, 225, 226
परिश्रम बचपन के लिए उचित 146
परिसंचरण तंत्र 35, 36, 37
परिस्थिति-विज्ञान (इकोलॉजी) 45
पांव की क्रिया 119
पाठ्यक्रम 233
पुनरावर्तन सिद्धांत (रिकैपीचुलेशन थ्योरी) 38
पुरस्कार की प्रथा 200
पुरानी और नई शिक्षा प्रणाली में भेद 175
पूर्व निर्माण में विश्वास 27
पृथ्वी और जीवन (फ्रेडरिक रैट्जैल की पुस्तक) 44
पैदल चलना,
शिक्षा का अंग 132
पैस्टालोजी (शिक्षा शास्त्री) 211
प्रतिगमन के लक्षण 61, 62
प्रफुल्ल और सजीव अध्यापिका 227
प्रशिक्षण पाठ्यक्रम 234
प्रश्न पूछना 144
प्रेम और उसका स्रोत बच्चा 234-40

फॉन बेयर, के.ई. 28
फेबर, जे.एच. 25, 26
फोबिया 108
फ्रायड 14, 62
फ्रॉयड का सिद्धांत 61

बचपन का असली उद्देश्य 46
बचपन को समझना 230
बच्चा अपना चरित्र-निर्माता स्वयं 169-75
बच्चे का दिमाग 3
बच्चे का समाज को अनुदान 163-68
बच्चे की मानसिकता 110
बच्चे के पहले दो वर्ष 3, 4
बच्चे, मनुष्य के निर्माता 11-13
बच्चों का प्रथम तीन वर्ष 4
बच्चों का मानसिक जीवन वयस्कों के मानसिक जीवन से भिन्न 3
बच्चों की भूमिका,

विश्व के पुनर्निर्माण में 1-6
बच्चों की सुरक्षा 29
बच्चों के व्यवहार में क्रोध और उग्रता नहीं धैर्य 109
बच्चों के साथ कैसे व्यवहार किया जाए 83
बच्चों में भाषा का प्रारंभ 93-101
बदमिजाजी और बुरे व्यवहार 169
बर्लिन का प्राणिविज्ञान संग्रहालय 48
बाइबिल 208
बायर्ड, एडमिरल 174
बाह्सेन 155
बीच-कोशिका 29
बुद्धि और हाथ का प्रयोग 119-26
बुराई के प्रति करुणा 188
बेनेडिक्ट, डा. रुथ 47

भय का अनुभव 56
भाई-चारे की भावना 185
भाषा का निर्माण 18
भाषा का विकास 3, 41, 87, 89, 100, 102, 104
भाषा की नीहारिका 64, 65
भाषा के तंत्र का विकास 140
भाषा सीखना 12, 82
पद्धति 96
प्रक्रिया 50-51
मानसिक प्रक्रिया 90
शुरुआत 69
भ्रूणविज्ञान 23, 27, 28, 36, 75
अमेरिका का पहला पेटेंट 40
और आचरण 38-48
भ्रूणीय प्रतिरूप 150-54

मस्तिष्क के परिग्राही मन, हाथ 135
महत्वपूर्ण काल 3-5
मां-बच्चे का संबंध 79, 85
मां-बाप के अंदर बच्चे के प्रति प्रेम 24
माताओं को सलाह 162
मातृत्व के लिए शिक्षण 9
मातृ प्रेम 25
मातृभाषा (बचपन में ग्रहण की गई भाषा) 19, 51, 89, 153
माध्यमिक स्कूलों के भाग 16
मानव आत्मा की खोज 139
मानव जाति का उद्धार और एकता 240
मानव जाति की उन्नति शिक्षा द्वारा 1
मानव जाति विज्ञान (एथनोलॉजी) 85
मानव प्रजाति में दोहरी भ्रूण अवस्था 49
मानव माताओं में सुरक्षा के उपाय 56
मानव रचनात्मक तत्व 47
मानसिकता 18
मानसिक एकाग्रता 166
मानसिक गूंगापन 106
मानसिक परिपक्वता 76
मानसिक भ्रूण 49-66
जीवन 54
मानसिक विकास 5, 41, 60, 66, 75, 115, 145-46
मानसिक व्यक्तित्व 14
मानसिक व्यवस्था 167
मानसिक शक्ति 20
मार्क्स 12
मुसोलिनी 194
मूल्यांकन, गलतियों का 201
मृत्यु 23
मेंडल 30
मैकडुगल (अंग्रेज मनोवैज्ञानिक) 192
याददाश्त 21, 57, 133

रचनात्मक कल्पना 207
रचनात्मक काल 17-19, 49, 103
रचनात्मक क्रियाकलापों के लिए प्रेरणा 165

रचनात्मक शक्तियां 12
रॉस 15
रुमके 155
रूपांतरित अध्यापिका 231
रैट्जैल, फ्रेडरिक 44
रोग विज्ञान (पेथोलॉजी) 28
रोने वाला बच्चा 86

लायल (डारविन के समकालीन भू-वैज्ञानिक) 44
लिखने की प्रवृत्ति 138, 139

वंशानुगत आचरण 64
वंशानुगत परंपरा 29, 30
वंशानुगत परिवर्तन 40
वंशानुगत बीमारियां 158
वंशानुगत व्यवहार 57
वयस्क बुद्धि के प्रभाव से सुरक्षित 4
वयस्कों का बच्चों के प्रति प्रेम 26
वर्णमाला 148
वॉटसन (अमेरिका का मनोवैज्ञानिक) 42
वाक्य रचना में हिचकिचाहट 107
वातावरण का अनुभव 71
विकास और अनुकरण 127-32
विकास का दर्शन 124-26
विकास के क्रम 14-22
विकास में रुकावटों का प्रभाव 102-11
विकासवाद का सिद्धांत 38
विकासवादी सिद्धांत 44
विद्यार्थियों का राजनीति से संबंध 8
विशेष मानसिक क्षमता 2, 4
विश्वविद्यालय की शिक्षा 16
वूल्फ, जी.एफ. 27, 28, 46
वृद्धों का निवास 184
वोलवोक्स (एक प्रकार का जीव) 38
व्यक्तित्व और आनुवंशिकता 155
व्यक्तित्व का सामान्यीकरण 189
व्यवस्था का आभास, अध्यापिका को 218-20
व्यवहारवाद (बिहेवियरिज्म) 42
व्यावहारिक जीवन के अध्याय 145, 227
व्यूहलर, शार्लट 14

शब्दावली का विस्तार 140
शरीर क्रिया विज्ञान (फिजियोलॉजी) 28
शारीरिक परिपक्वता 76
शारीरिक विकास 15, 71, 75
शारीरिक स्वास्थ्य 78
शिक्षा का उद्देश्य और समाज 10-11
शिक्षा का कार्य 195
शिक्षा का तात्पर्य (जीवन की सहायता करना) 10, 13
शिक्षा सबके लिए अनिवार्य 10
शिक्षा सिद्धांत 112
शिशु-पालन 80
शिशु विज्ञान 84
शैक्षिक संगठन समाज से विमुख 8
श्रवण इंद्रिय का विकास 95

संकल्प शक्ति 205, 206, 207, 209, 213
संकल्पशून्य बुद्धि 18
संगठित समाज 192-98
संगीत 96
संत पॉल 237, 238, 240
संत फ्रांसिस (आसीसी के) 121
संबद्धता और संगठन पर आधारित समाज 193
संबद्ध समाज 194
संवेदनशील काल 77
संवेदनशीलता 107, 110, 221
संसार पर विजय प्राप्त करने की मानसिकता 67
संस्कृति के रूप (बेनेडिक्ट की पुस्तक) 47
संस्कृति ग्रहण करने का काल 16

सक्रिय कार्य और अनुभव 17
सचेत विकास की अवस्था 133
सच्ची स्वतंत्रता (विकास का एक परिणाम) 167
सद्भावना,
  गलतियों के प्रति 201
समस्याओं को स्वयं हल करना 187
सशक्त बच्चों के दोष 159
सहज विकास 67
साभिप्राय शब्द 98
सामाजिक अंतःप्रेरणा 192
सामाजिक इकाई में संगति 190-98
सामाजिक एकीकरण 191
सामाजिक चेतना की प्रथम अवस्था 190
सामाजिक जीवन 184-89
  और चरित्र का विकास 137
  सहभागी 86
सामान्य विकास 166, 181-89
  कठिनाइयां 106
  क्रिया का महत्व 112-18
सामाजिक व्यवस्था 193-94
सामाजिक संगठन का आधार 198
सामान्य मनोवैज्ञानिक अवस्था 15
सामुदायिक चेतना 189
सुजनन विज्ञान 31
सुस्पष्टता 145
सृजनात्मक काल 134
सृजनात्मक मानव मस्तिष्क 153
सृष्टि का चमत्कार 27-37
स्कूल पूर्व काल 9
स्कूलों के विस्तार के कारण 161
स्टर्न, डब्लू 14
स्तोपानी, एंतोनियो (इटली का भू-वैज्ञानिक) 45
स्नायु तंत्र 35, 36
स्वतंत्रता और कार्यशीलता 166
स्वतंत्रता की अवस्था 124
स्वतंत्रता की ओर संघर्ष 99
स्वतंत्रता की प्राप्ति 67-77
स्वत्व की भावना और उसका रूपांतरण (बच्चों में) 176-80
स्वयं ग्रहण करने की योग्यता 22
स्वाभाविक क्रियाकलाप 138-41
स्वाभाविक प्रवृत्तियां 58
स्वाभाविक रीति से संस्कृति ग्रहण करना 5
स्वामित्व की भावना 178-79
स्वैच्छिक क्रियाओं में अव्यवस्था 216

हक्सले, जूलियन 37, 41
हस्तकला का विकास 121-22
हॉर्मे 67
हिटलर 194
होर्मे 205, 206